प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था एवं महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति

(प्राचीन काल से १२वीं शताब्दी तक)
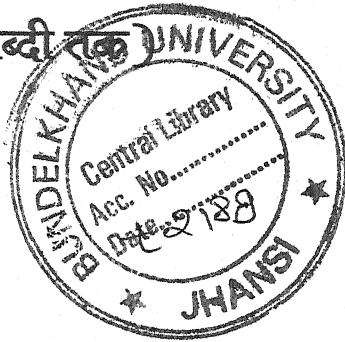
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

से

इतिहास विषय में

पी०एच०डी० की उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

शोधकर्ता

मोहम्मद वाकिफ

निर्देशक

डा. राजकुमार भाटिया

रीडर, इतिहास विभाग

बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, झाँसी

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी, उ०प्र०

2006

डॉ० राजकुमार भाटिया
रीडर, इतिहास विभाग
बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, झाँसी
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी (उ०प्र०)

निवास : 11 / 13, पन्नालाल, कम्पाउण्ड,
सदर बाजार, झाँसी (उ.प्र.)
फोन : 0510–2470284

पत्रांक :

दिनांक : 20.7.0

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि मोहम्मद वाकिफ ने इस महाविद्यालय के नियमित शोधकर्ता के रूप में उपस्थित रह कर मेरे निर्देशन में "प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था एवं महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति" (प्राचीन काल से 12वीं शताब्दी तक), विषय पर शोध कार्य किया है। शोध प्रबन्ध मेरे विश्वास एवं जानकारी में मौलिक है।

मैं इसे पी0एच0डी0 की उपाधि हेतु प्रस्तुत किये जाने की अनुमति प्रदान करता हूँ।

20/7/6
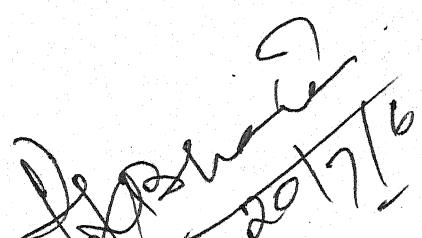
डॉ० राजकुमार भाटिया
निर्देशक

आभार

''प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था एवं महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति'' पर शोध करने की प्रेरणा मुझे **डॉ० राजकुमार भाटिया** (रीडर, इतिहास विभाग, बुन्देलखण्ड महाविद्यालय), और अग्रज डॉ0 मोहम्मद आरिफ (लेक्चरर, राजनीति शास्त्र विभाग) से मिली।

डॉ0 राजकुमार भाटिया के निर्देशन एवं प्रेरणा के कारण ही यह शोध प्रबन्ध का कार्य सम्पन्न हुआ। अतः अपने श्रद्धेय गुरूवर का हृदय से आभारी हूँ।

महाविद्यालय एवं विभाग के अन्य गुरूओं, मुख्य रूप से डॉ0 राजेन्द्र सिंह, डॉ0 एस. पी. पाठक एवं डॉ0 मंजू सिंह का ऋणि हूँ, जिनके सहयोग से मेरा कार्य सुगम हुआ। विषय के अनुशीलन एवं निबन्धन में जिन गुरूओं ने अपने बहुमूल्य सुझाओं से मुझे लाभान्वित किया, इसके लिए मैं उनका आभार प्रकट करता हूँ।

परिवार के समस्त सदस्य मुख्य रूप से भतीजी हिबा शाहजाद स्नेह के पात्र है, जिसने शोध कार्य की पूर्णता में अपना यथोचित सहयोग दिया।

मैं उन समस्त लेखकों के प्रति भी आभारी हूँ जिनकी रचनाओं का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस प्रबन्ध में उपयोग किया गया है।

अन्त में अपने माता–पिता एवं भ्राताओं का आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने आरम्भ से ही मुझे शोध कार्य के लिये प्रेरित किया।

Waqif
20.7.2006

मोहम्मद वाकिफ

प्रस्तावना

शिक्षा सामाजिक विकास का वह मापदण्ड है जो किसी समाज के विकास को आन्तिक स्तर तक स्पष्ट करता है। मानव समूह के भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास का मूलाधार शिक्षा ही है। यही कारण है कि समय–समय पर शिक्षा एवं शिक्षा व्यवस्था के मूल्यांकन से किसी विशिष्ठ संस्कृति के मूल्यांकन की परम्परा बड़ी प्राचीन रही है। भारत जैसे राष्ट्र में, जिसकी सभ्यता की गणना विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं के साथ होती है और जिसकी धरोहर में विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं, निश्चय ही शिक्षा व्यवस्था प्रारम्भ से सृदृढ़ रही होगी, जिसने अन्ततः दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, साहित्य, धर्म और ललित कलाओं के ज्ञान के क्षेत्र में विश्व को विपुल सम्पदा प्रदान की।

भारत वर्ष में लोगों के शिक्षित होने के प्रमाण सैन्धव एवं वैदिक सभ्यता से ही प्राप्त होते है। भारतीय विचारकों ने सभी के लिये अनूकूल शिक्षा की अवधारणा का विकास किया। प्रचलित चार आश्रमों में से प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम वस्तुतः व्यक्ति को सर्वज्ञ शिक्षित करने का उद्यम था, जिससे वह आने वाले जीवन संग्राम में आध्यात्मिक एवं सांसारिक सफलताएं प्राप्त कर सके। वेद एवं वेदांग के अध्ययन के अतिरिक्त शिल्प (18 शिल्प), कलायें (14 कलायें) ज्योतिष विद्या, युद्ध कला जैसे पारम्परिक विषय भी छात्रों के लिये आकर्षण का केन्द्र होते थे। भारत में ये शिक्षा की प्रारम्भिक धारायें विकसित होकर आगे बढ़ी और एक समय ऐसा आया, जब यहाँ स्थित बड़े–बड़े विश्व प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्रों ने संसार के अनेक छात्रों एवं विद्वानों को आकर्षित करना प्रारम्भ कर दिया। धर्म, दर्शन जैसे विषयों पर अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये न केवल बाहर से लोग यहाँ आये, बल्कि इसके प्रचार और प्रसार के लिये लोग यहाँ से बाहर भी गये। किसी इतिहास के विद्यार्थी के लिये यह अत्यन्त जिज्ञासा का विषय है कि जिस भारत वर्ष की सांस्कृतिक धरोहर इतनी सम्पन्न है, उसकी शिक्षा व्यवस्था कैसी थी। समाज के अलग–2 वर्गो को शिक्षित करने की व्यवस्था किस प्रकार की

गयी और समाज के अर्धांश नारी शिक्षा की स्थिति क्या थी तथा किन कारणों से स्थिति बदलती रही। छोटे–छोटे गुरुकुलों से प्रारम्भ होने वाली यह शिक्षा अपने विकास की यात्रा में विभिन्न कालखण्ड से होती हुई, कैसे तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालयों के रूप में बदली और कैसे काशी, कान्यकुब्ज और पाटलिपुत्र एक समय पर शिक्षा केन्द्रों के रूप में जाने गये आदि? इन सभी पर विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था का अध्ययन, भारतीय सामाजिक अध्ययन का एक रोचक एवं महत्वपूर्ण अंग है, जिस पर समय–समय पर अनुसंधान और ग्रन्थ प्रणयन होते रहे हैं। इस सन्दर्भ में कुछ महत्वपूर्ण कृतियों के नाम उल्लेखनीय है, यथा – श्री एस. के. दास कृत ''एजूकेशन सिस्टम ऑफ द एन्शियेन्ट हिन्दूज'', डा. राधाकुमुद मुखर्जी की पुस्तक ''एन्शियेन्ट इण्डियन एजूकेशन – ब्राह्मनिकल एण्ड बुद्धिस्ट'', डा. ए.एस. अल्तेकर कृत ''प्राचीन भारतीय शिक्षण–पद्धति'', श्री अच्युतन की पुस्तक ''एजूकेशन प्रैक्टिसेज इन मनु, पाणिनी एण्ड कौटिल्य,''। विद्या भवन सीरीज के ग्रन्थों ''दि क्लासिकल एज'', ''दि एज आफ इम्पिरियल कन्नौज'' एवं ''द स्ट्रगल फार इम्पायर'' आदि में इस काल की शिक्षा पर कुछ प्रकाश डाला गया है। इस काल की सम्पूर्ण भारतीय समाज की शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था, विकास और स्त्रियों की शिक्षा एवं उनके योगदान आदि का स्वतन्त्र विवेचन के उद्देश्य की पूर्ति के दृष्टिकोण से अपने इस शोधकार्य को प्रारम्भ किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में भारतीय साहित्यिक एवं अभिलेखिक साक्ष्यों के अतिरिक्त विदेशी यात्रियों के लेखों को भी अपनी विवेचना का आधार बनाया है। साहित्यिक साक्ष्य संस्कृत एवं अपभ्रंश ग्रन्थों से लिये गये हैं। वैदेशिक साक्ष्य ह्वेनसांग, इत्सिंग, अलबरूनी, मार्कोपोलों फाह्यान और अलमसूदी के यात्रा वृतान्तों से हमें प्राप्त होते हैं। शोधकार्य के समीक्षात्मक अध्ययन के लिये शोधकाल के पूर्ववर्ती एवं पाश्चात्यवर्ती साक्ष्यों को भी उद्धृत किया है।

प्रस्तावित शोध का उद्देश्य भारत में 12वीं सदी तक शिक्षा व्यवस्था एवं महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति का आंकलन करना है। तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से शिक्षा व्यवस्था का प्रबन्धन और इसका विकास ज्ञात करना है। जो निम्नवत् है :–

1. उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को उजागर करना जिस पर भारत में शिक्षा व्यवस्था विकसित हुई।
2. उस ऐतिहासिक यात्रा का आंकलन करना जिसमें छोटे गुरुकुल बड़े शिक्षा केन्द्रों में परिवर्तित हुये और विश्वविद्यालयों का रूप धारण किया।
3. ऐसी व्यवस्था का शोध करना, जिसमें भारतीय समाज में शिक्षा का प्रबन्धन एवं संरक्षण आधारित था, साथ ही विभिन्न शासनों एवं शासकों द्वारा प्रदान किये गये संरक्षण का आकलन करना।
4. भारत वर्ष की शैक्षिक संरचना को स्पष्ट करना।
5. प्राचीन भारत में महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति एवं उसके विविध आयामों, तथा उस पर विद्वानों के विचारों को सामने लाने का प्रयास।

प्राचीन भारतीय इतिहास के अन्तर्गत, प्राचीन काल से 12वीं शताब्दी तक के काल की ''शिक्षा व्यवस्था एवं महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति'' जैसे प्रमुख विषयों पर विभिन्न ग्रन्थों एवं इतिहासकारों के मतों का समन्वय करते हुये नये आयाम प्रस्तुत किये है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध छः अध्यायों से विभक्त है। प्रथम अध्याय में शिक्षा का अर्थ, महत्व, उद्देश्य एवं आदर्श के साथ शिक्षा की संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला गया है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रबन्धन एवं संरक्षण का वर्णन है। जिसमें वैदिक कालीन, सूत्रकालीन, बौद्ध शिक्षा का प्रबन्धन एवं संरक्षण और इसी क्रम मे 700 से 1200 ई0 तक के शिक्षा के प्रबन्धन एवं संरक्षण की सम्यक् विवेचना की गई है।

तृतीय अध्याय के अन्तर्गत आचार्यों के आदर्श, प्रशिक्षण, योग्यता, कर्तव्य एवं अध्यापन वृत्ति की उदात्तता आदि की विवेचना की गई है और साथ ही ब्रह्मचर्य आश्रम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये विद्यार्थी की योग्यता, सदाचार, आचरण, दिनचर्या, भिक्षाटन तथा सामान्य कर्तव्यों का तार्किक परीक्षण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत विद्यार्थियों के शैक्षिक संस्कार जिसमें ब्राह्मण शैक्षिक संस्कार, बौद्ध शैक्षिक संस्कार और शैक्षणिक पद्धति जिसके अन्तर्गत शिक्षण–सत्र, प्रवेश, शिक्षण विधियां, गुरु–शिष्य सम्बन्ध, अनुशासन, परीक्षा एवं उपाधि का विश्लेषण किया गया है।

पंचम अध्याय में शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों का विस्तृत विवेचन किया गया है, जिसमें ब्राह्मण शिक्षण केन्द्रों, देवालय आश्रित शिक्षालय, अग्रहार गांव, टोल, बौद्ध शिक्षण केन्द्र के साथ अनेक विश्वविद्यालय और बौद्ध विद्यापीठ है।

छठवें अध्याय में महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति एवं उनके विविध आयामों जिनमें उनका उपनयन एवं ब्रह्मचर्य जीवन, अध्ययन के विषय, शिक्षा विषयक् अधिकारों के साथ–साथ उनके शिक्षण संस्थानों के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये, उनके शिक्षा में उत्पन्न व्यवधानों का विवेचन किया गया है।

अन्त में उपसंहार में प्राचीन शिक्षा पद्धति के महत्वपूर्ण पक्षों का आकलन करते हुये उसकी उपादेयता पर प्रकाश डाला गया है। वर्तमान शिक्षा–प्रणाली की खोखली संभावनाओं, उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों तथा उद्‌देश्य विहीनता की स्थिति में यह अपरिहार्य हो गया हैं कि प्राचीन शिक्षा–पद्धति के धार्मिक–आध्यात्मिक पक्षों की वर्तमान संदर्भ में उसकी प्रासंगिकता पर विचार किया जाये। प्राचीन शिक्षा पद्धति और नवीन युग बोध के मध्य उपादेय समन्वय की अभ्यर्थना पर प्रकाश डाला गया है।

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

शिक्षा का स्वरूप एवं उसकी संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

शिक्षा का स्वरूप एवं
उसकी संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि

किसी भी राष्ट्र एवम् उसकी संस्कृति के आदर्शों का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए वहां की शिक्षा व्यवस्था का मूल्यांकन आवश्यक होता है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक अलग पहचान होती है, वह पहचान उसकी संस्कृति एवम् सभ्यता से होती हैं। सांस्कृतिक सम्पदा शिक्षण संस्थाओं में सुरक्षित रहती है। ये शिक्षण संस्थाएं संस्कृति की प्रहरी बनकर उसकी रक्षा में लगी रहती है। अतः कहा जा सकता है कि किसी भी राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति वहां की शिक्षा जगत में मुखरिस होती रहती है। शिक्षा समाज को और समाज शिक्षा को निरन्तर प्रभावित करता रहता है। वस्तुतः किसी राष्ट्र के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को, वहां के शिक्षा जगत के माध्यम से प्रतिनिधित्व मिलता है। प्राचीन भारतीय शिक्षा तत्कालीन समाज एवं संस्कृति से अत्यधिक जुड़ी हुई है, जिसके बिना उस काल की जीवन पद्धति एवं मूल्यों को नहीं जाना जा सकता है। जीवन पद्धति के मूल्यों का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में परिगमन प्रायः शिक्षा के माध्यम से ही होता है। प्रायः सभी शिक्षाशास्त्रियों ने इस विचार का समर्थन किया है। अतः मानव का पूर्ण विकास शिक्षा के विकास के साथ ही हो सकता है।

प्राचीन शिक्षाविदों की ऐसी मान्यता थी कि ज्ञान से मुक्ति मिलती है।[1] ज्ञान के प्रकाश से मनुष्य का जीवन प्रकाशित होता है तथा वह किसी भी कार्य को वैज्ञानिक कसौटी पर कसकर करने में समर्थ होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार, विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान) जीवन के दो खण्ड है। अतः जो व्यक्ति विद्या को साथ लेकर चलता है और कार्य को सच्ची निष्ठा से करता है, वह हर लक्ष्य को प्राप्त करता है।[2] इस प्रकार विद्या से न केवल व्यक्ति का कर्म और आचरण परिष्कृत व परिमार्जित

होता है, बल्कि वह ज्ञानी होकर देवतुल्य हो जाता है। वैदिक काल में न केवल पुरूष बल्कि अपाला, घोषा इत्यादि विदुषी स्त्रियों के भी उद्धरण मिलते है। वैदिक काल में ऐसे व्यक्ति को उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी और ज्ञान सम्पन्न वह व्यक्ति ऋषि–ऋण से मुक्त माना जाता था। उस युग में ऊंचे विचार, ज्ञान की महिमा त्याज्ञमय जीवन, आध्यात्मिक चिंतन, भौतिक आकर्षण के प्रति विरक्त आदि मानव जीवन के मूल थे। ऋग्वेद में वर्णित गायत्री मंत्र ज्ञान के उच्चतम आधार थे। वेदांग के अन्तर्गत शिक्षा का सम्मिलित होना शिक्षा की महत्ता को प्रतिबिम्बित करता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि स्वाध्याय और प्रवचन के पथ पर चलने से मानव मन एकाग्र होता है। परिणामतः चिंतन शक्ति बढ़ती है तथा प्रवचन से उसे नित्य धन की प्राप्ति होती है, सुखद निद्रा आती है, वह अपना चिकित्सक स्वयं बन जता है, इन्द्रियां संयमित हो जाती है। वह प्रज्ञावान और यशस्वी होकर संसार के शैक्षिक एवं नैतिक उत्थान में लग जाता है। समाज उसे आदर एवं सुरक्षा प्रदान करता है तथा दान देता है। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि जो लोग विभिन्न विद्याओं का अध्ययन करते हैं, उनसे न केवल देवता प्रसन्न होते हैं, बल्कि वे अपनी समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं।[3] वृहदारण्यक् उपनिषद् में तीन लोक की कल्पना की गई है – मनुष्य लोक, पितृ लोक एवं देवलोक । इनमें मनुष्य लोक पुत्र प्राप्ति द्वारा, पितृ लोक यज्ञादि कर्म द्वारा जबकि देवलोक विद्या प्राप्ति द्वारा जीता जा सकता था। ऐसी मान्यता थी कि तीनों लोक में देव लोक श्रेष्ठ होने के कारण विद्या प्रशसंनीय है।[4] विष्णु पुराण के अनुसार विद्या बिना मानव जीवन बोझिल एवं व्यक्तित्व संकुचित होता है। अतः अज्ञानता अन्धकार के समान है।[5] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार अक्षर विज्ञ और अविज्ञ दोनों कर्म करते हैं, किन्तु जो कर्म विद्या, श्रद्धा एवं योग से संयुक्त होकर किया जाता है, वहीं प्रबलतर होता है।[6] इसलिए वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है, कि जिसे ज्ञान

का प्रकाश उपलब्ध नहीं, वह नेत्रहीन की भांति होता है और नरक में जा गिरता है।[7] ऋग्वेद में मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार ज्ञान को स्वीकार किया गया है।[8]

शिक्षा का अर्थ

शिक्षा के व्युत्पत्ति मूलक अर्थ पर विचार करने से ज्ञात होता है कि "शिक्षा" शब्द "शिक्षा"। धातु से बना है, जिसका अर्थ है सीखना, सिखाना।[9] इसका अनुरूप शब्द "विद्या" है जो संस्कृत के "विद्" धातु से बना है, जिसका अर्थ है, "जानना या ज्ञान प्राप्त करना।"[10] इस प्रकार शिक्षा सीखने–सिखाने की, जानने अथवा ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया है।[11]

भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल में सर्वप्रथम शिक्षा शब्द ऋग्वेद में आया है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार इस ऋचा में शक्ति देने के लिए इन्द्र की प्रार्थना की गयी है, अतः शिक्षा का अर्थ देना हुआ।[12] शिक्षा से सम्बन्धित "विद्या" शब्द के लिए उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान के लिए आया है।[13] अनेक प्रकार के विषयों के लिए भी विद्या शब्द का प्रयोग हुआ है।[14] विद्या उस ज्ञान को कहते हैं जिससे शाश्वत सत्य की अनुभूति होती है।[15] विद्या शब्द शतपथ ब्राह्मण में विषयों के अध्ययन की सूची में आता है। मैकडोनेल और कीथ के अनुसार इस व्याहृति से विद्या का क्या आशय है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जबकि एंग्लिइण्ग अपेक्षाकृत अधिक सम्भावना के साथ सर्प विद्या या विष विद्या जैसे किसी विशेष विज्ञान का आशय मानते है।[16] मनुस्मृति में "चतुर्दश विद्या" का उल्लेख है[17] परन्तु पुराणों तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में अष्टादश विद्याओं का उल्लेख मिलता है।[18] वैसे तो विद्याएं अनेक है क्योंकि कहा भी गया है कि जिनको जानकर व्यक्ति अपना हित पहचान सके और अहित का निवारण कर सके वे विद्याऐं है।[19] शिक्षा के अर्थ को व्यक्त करने वाला एक अन्य शब्द "अध्ययन" है।[20] इसका अर्थ है विद्या प्राप्ति के लिए गुरू के निकट जाना।[21] शिक्षा ग्रन्थों में पाणिनीय शिक्षा, याज्ञवल्क्य शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा आदि में प्राचीन शिक्षा सूत्र

भी विद्यमान था इनके अनुशीलन से सिद्ध होता है कि प्राचीन ऋषियों ने भाषा शास्त्र में इस अंग का कितना वैज्ञानिक अध्ययन किया था। इसका सम्बन्ध विशेषतः उच्चारण विद्या से था। उत्तर वैदिक काल में शिक्षा को वेदाध्ययन का एक प्रमुख अंग माना गया। शिक्षा के छः अंगों के नाम का उल्लेख तैत्तरीय उपनिषद् में उपलब्ध है। ये है स्वर, मात्रा, वर्ण, बल, साम और सन्तान।[22] सायण के अनुसार शिक्षा का अर्थ है जिसके द्वारा स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण प्रकारों का उपदेश दिया जाय।[23] इस प्रकार शिक्षा विद्या और अध्ययन तीनों शब्द समान अर्थ का बोध कराने वाले शब्द है।

मुण्डकोपनिषद् पर शंकर भाष्य[24] में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख मिलता है। प्रथम को "परा" अर्थात् परमात्म विद्या कहा गया है, और द्वितीय को "अपरा विद्या" जो धर्मार्थ के साधन एवं उनके फल से सम्बन्धित है। पारमार्थिक दृष्टिकोण से "अपरा" विद्या अविद्या मानी गयी है। "अपरा" विद्या में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द, ज्योतिष छः वेदांग सम्मिलित है।[25] परा विद्या उस शाश्वत ज्ञान को व्यक्त करती है जो उपनिषद् के अध्ययन से प्राप्त होती है।[26] जो विद्यायें वाणी का विषय बन जाती है वे सभी "अपरा विद्या" और जो विद्यायें वाणी का विषय नहीं बन पाती वे "परा विद्या" की श्रेणी में आती हैं। परा विद्या को ही आध्यात्मविद्या कहते हैं।[27] ऐसी विद्या से प्राप्त ज्ञान को शाश्वत तत्व की प्राप्ति होती है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति "परा विद्या" का अधिकारी भी नहीं हो सकता क्योंकि सबमें समान क्षमता नहीं होती।[28] इस प्रकार स्पष्ट है कि इहलोक और परलोक के सन्दर्भ में शिक्षा का भिन्न–भिन्न अर्थ है।

कतिपय आधुनिक शिक्षा शास्त्रियों की भांति प्राचीन भारतीयों ने भी शिक्षा शब्द का प्रयोग विस्तृत तथा संकुचित दोनों अर्थों में किया है। व्यापक अर्थ और क्षेत्र में शिक्षा मनुष्य के आत्मिक विकास की वह गति है जो इसके जन्म से लेकर, अनुकरण, श्रवण, अध्ययन, मनन तथा पारस्परिक सम्बन्ध स्थापन के द्वारा जीवन के अन्त तक चलती

रहती है। यदि व्यक्ति चाहे तो जीवन के अन्त तक विद्यार्थी रह सकता है।[29] सीमित अर्थों में शिक्षा का तात्पर्य जीवन की उस अवस्था विशेष से है जिस अवधि में कोई मनुष्य अपने गुरू के आश्रम अथवा किसी शिक्षालय में रहकर अपनी प्रगति हेतु अपेक्षित उपदेश या संस्कार प्राप्त करता है। मनुष्य के विकास की इस महत्वपूर्ण स्थिति को ब्रह्मचारी का जीवन, अन्तेवासी का जीवन या विद्यार्थी जीवन कहते हैं। आधुनिक समय में भी प्रायः यहीं अर्थ प्रचलित है जो कोई भी व्यक्ति जीवन संग्राम में प्रविष्ट होने से पूर्व जो कुछ भी संस्कार एवम् ज्ञान प्राप्त करता है, वहीं शिक्षा का अर्थ है। शिक्षित व्यक्ति को अन्य मनुष्यों की तुलना में श्रेष्ठ कहा गया है।[30] विद्या को अमृत प्राप्त करने का साधन माना गया है।[31] विद्या से ही मुक्ति प्राप्त होती है।[32] उपनिषदों में विद्या और अविद्या का पार्थक्य स्पष्ट कर विद्या का आश्रय ग्रहण करने और अविद्या से दूर रहने का उपदेश दिया गया है।[33] विद्या को न केवल आत्मिक हेतु बरन् समस्त जीवन के तत्व का सम्यक् बोध कराने की दृष्टि से भी उपयोगी स्वीकार किया गया है। इस रूप में मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान शिक्षा का ही पर्याय है। वैदिक काल में शिक्षा के लिए ज्ञान, प्रबोध, विनय जैसे शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

शिक्षा का महत्व

शिक्षा के द्वारा ही हमारे राष्ट्रीय जीवन में युग–युगों के दिव्य मानवीय आदर्शों की रक्षा होती गयी और जिसके आधार पर इस राष्ट्र ने अपना आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप में सर्वांगीण विकास किया। किसी भी समाज एवं व्यक्ति के उन्नयन के लिए शिक्षा एक आवश्यक पहलू है, इससे प्रभावित मनुष्य के जीवन सम्बन्धी घटनाओं का सुनियोजित लेखा जोखा ही इतिहास है। इस प्रकार शिक्षा एवं इतिहास का केन्द्र बिन्दु मनुष्य ही है, अन्तर मात्र इतना है कि शिक्षा मनुष्य बनाती है और मनुष्य इतिहास बनाता है।

शिक्षा व्यक्ति को प्रकाश, परिज्ञान तथा नेतृत्व से सम्बद्ध करती है, शिक्षा के ही माध्यम से मानव का सम्पूर्ण रूपान्तरण सम्भव होता है। महाभारत में विद्या को सर्वश्रेष्ठ नेत्र के रूप में स्वीकार किया गया है।[34]

इसी प्रकार सुभाषितरत्न संदोह में ज्ञान को मनुष्य का तीसरा नेत्र कहा गया है।[35] प्राचीन भारतीय मनीषियों की दृष्टि में विभिन्न उत्तरदायित्वों को निष्पन्न करने एवं भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन के निर्माण के लिए शिक्षा की नितान्त आवश्यकता थी। मनुष्य और समाज का बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष शिक्षा के ही माध्यम से सम्भव माना जाता रहा है। सच तो यह है कि शास्त्र एवं विवेक से शिक्षा सम्पन्न होती है और शिक्षा से मनुष्य में ज्ञान का उदय होता है इसलिए ज्ञानोद्भव का आधारतत्व शास्त्र और विवेक माना गया है।[36] इहलोक तथा परलोक के सही स्वरूप का ज्ञान बिना विद्या के हो ही नहीं सकता।

विवेच्य युग में शिक्षा का अत्यधिक महत्व था। कथासरित्सागर में शिक्षा के महत्व पर बार – बार प्रकाश डाला गया है। गोविन्द दत्त ब्राह्मण के घर विश्वानर नामक ब्राह्मण अतिथि आता है। गोविन्ददत्त के पुत्र मूर्ख थे, वे अतिथि सम्मान नहीं करते थे। मूर्ख पुत्रों के कारण विश्वानर, गोविन्ददत्त के घर भोजन नहीं ग्रहण करता है। वह कहता है कि मूर्ख पुत्रों के कारण तुम भी पतित हो गये। अतः तुम्हारे यहां भोजन करने से प्रायश्चित्त करना होगा।[37] इससे सार्थक निष्कर्ष निकलता है कि विद्या विहीन व्यक्ति तत्कालीन समाज में पतित और असभ्य समझे जाते थे। सम्पत्तिशाली होने पर भी व्याडि एवं इन्द्रदत्त का विद्याध्ययन के लिए जाना विद्या के महत्व को सूचित करता है।[38] तपोदत्त ब्राह्मण का विद्याध्ययन न करने से दुःखी होना और समाज में उसकी निन्दा होना भी इस तथ्य की पुष्टि करता हैं।[39] शिक्षा पथ–प्रदर्शक का कार्य करती है। वस्तुतः ज्ञान अथवा विद्या से व्यक्ति का कर्म और आचरण परिष्कृत और दिव्य हो जाता है और वह ज्ञान सम्पन्न होकर देवतुल्य हो जाता है। विद्या से यश और ऐश्वर्य की

प्राप्ति होती है। विद्या से विहीन व्यक्ति पशु के समान माना गया है।[40] मनुष्य के जीवन में विद्या अथवा ज्ञान का विशिष्ट स्थान है। विद्या के बिना मनुष्य का व्यक्तित्व संकुचित और जीवन बोझिल हो जाता है। आलोच्य काल में विद्याध्ययन के लिये श्रम अपेक्षित था। तपोदत्त ब्राह्मण में तप से विद्या प्राप्त की थी और इन्द्र ने प्रकट होकर कहा कि बिना अध्ययन विद्या प्राप्ति का यत्न बालू से पुल बनाने के समान ही है।[41] इत्सिंग ने लिखा है कि बौद्ध धर्म के अन्तर्गत शिक्षा का विशेष स्थान था क्योंकि शिक्षा की अवहेलना से धर्म प्रसार सम्भव नहीं था।[42]

शिक्षा के महत्व को बताते हुये कहा गया है कि शिक्षा माता की भांति सन्तान की रक्षा करती है, पिता की भांति कल्याण साधन में लगाती हैं एवं पत्नी की भांति आनन्द तथा सुविधा प्रदान करती हैं। इससे ऐश्वर्य, वास्तविक प्रकाश तथा कीर्ति की उपलब्धि होती है, अर्थात् विद्या कल्पलता की भांति सब कुछ प्रदान करती है। विदेश गमन अथवा यात्रा के समय शिक्षा हमारी सहायता करती है। कल्हण की राजतरंगिणी से भी उपर्युक्त विचारों का अनुसमर्थन होता है।[43]

अज्ञानता अन्धकार के समान है[44]। शास्त्र एक ऐसी दिब्य दृष्टि है, जिससे भूत, भविष्य और वर्तमान का अनुमान किया जा सकता है। इसके अध्ययन के बिना विशाल नेत्रों के होते हुए भी मानव अन्धे के ही समान है।[45] अशिक्षित बालक उसी तरह शोभा नहीं पाता जैसे हंसों के मध्य बगुला।[46] शिक्षा के द्वारा विकसित बुद्धि ही पशु और मनुष्य में अन्तर लाती है। विद्या लौकिक और पारलौकिक समस्त सुखों को देने वाली है, गुरूओं का भी गुरू है ऐसा माना गया है।[47] पश्चिमी विचारकों का भी यह मत रहा है कि शिक्षा ही नैतिक तन्तुओं को विमल और पुष्टि करती है जिससे व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार परिमार्जित एवं परिष्कृत होता है।[48]

शिक्षा हमें समाज में उपयोगी एवं विनीत नागरिक के रूप में रहने योग्य बनाती है। यह अप्रत्यक्ष रूप में इहलोक तथा परलोक दोनों के लिए विकास में सहायता देती

है। शिक्षा, मात्र अर्थ साधन नहीं, चित्त को प्रसन्न करने वाली तथा सिर को उठाने वाली दोषरहित सम्पत्ति मानी जाती थी।[49] विवेच्य काल में शिक्षा का कितना महत्व था इसका अनुमान तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षालयों जैसे नालन्दा, विक्रमशिला आदि के द्वारा भी लगाया जा सकता है। जिनकी महत्ता का उल्लेख विदेशी यात्रियों ने अपनी यात्रा वृत्तान्तों में किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षा तत्कालीन समाज में अन्तर्ज्योति एवं शक्ति का वह श्रोत थी जो शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों के संतुलित विकास से मनुष्य के व्यक्तित्व में परिवर्तन लाती थी तथा उसे श्रेष्ठ बनाती थी। पश्चिमी विचारक पेस्टालॉजी भी शिक्षा के इसी रूप की कल्पना करते हैं।[50]

शिक्षा के आदर्श एवं उद्देश्य

प्राचीन काल से भारतीय संस्कृति की अविछिन्न धारा प्रवाहमान है। इस संस्कृति की महाधारा में यद्यपि अन्यान्य संस्कृतियों की लहरें आयी और इसी में मिलती गयीं फिर भी अन्य संस्कृतियों के नवीन तत्वों को आत्मसात करती भारतीय संस्कृति अब भी अपनी विशिष्टताओं के साथ प्रवाहमान हैं। इसी पावन संस्कृति के तट पर बैठकर हमारे देश के ऋषि मनीषियों ने जीवन के विभिन्न रहस्यों का अवलोकन तथा पूर्ण विवेचन किया है। इन्हीं भावनाओं को भावी पीढ़ी को शिक्षा द्वारा सम्प्रेषित किया जाता था। ऐसी शिक्षा आत्म साक्षात्कार को बल देती थी। आत्म निरीक्षण और आत्म बोध के लिये शिक्षा को आवश्यक समझा गया था। आत्म दृष्टि से ही जीवन के शाश्वतमूल्यों का ज्ञान, जीवन के सत्य का ज्ञान सम्भव था। इस प्रकार संम्पूर्ण जीवन के सुव्यवस्थित निर्वहन में शिक्षा की भूमिका प्रमुख थी।

भारत का आदर्श प्राचीन शिक्षा प्रणाली में सुरक्षित है। इसमें हमें राष्ट्रीय सभ्यता की आत्मा का परिचय मिलता है। समय और परिस्थितियों के परिवर्तन के फलस्वरूप शिक्षा के स्वरूप और आदर्श में परिवर्तन भले ही होता रहा लेकिन इसकी अपनी

विशेषताएं बनी रहीं। प्राचीन शिक्षा प्रणाली का आदर्श आध्यात्मप्रधान था लेकिन कालान्तर में इसमें क्रमशः परिवर्तन परिलक्षित होता है और शिक्षा का भौतिकता प्रधान स्वरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। भोज प्रबन्ध[51] से ज्ञात होता है कि राजकीय प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करते थे। पण्डित दामोदर के अनुसार [52] राज्य के अनुग्रह से राजकीय पद प्राप्त करने के लिए ही लोग शिक्षा प्राप्त करते थे। विद्या के क्षेत्र में पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन, शब्द–चमत्कार और वाक्चातुर्य का महत्व कालान्तर में अधिक बढ़ गया।[53] भोज प्रबन्ध [54] में भी व्यक्तित्व रहित विद्वान की विद्या को उसी प्रकार व्यर्थ माना गया है, जिस प्रकार कृपण का धन। क्षेमेन्द्र के अनुसार [55] विद्या से तर्क द्वारा अपना प्रभुत्व स्थापित करना, बुद्धि का उपयोग दूसरे की प्रवंचना में लिया जाता था, परन्तु इसके बाद ही क्षेमेन्द्र ने [56] यह भी कहा है कि वास्तविक शिक्षानुरागी परोपकार में ही अपना जीवन उत्सर्ग कर देता है। वे शौच–अशौंच, सत्य और मिथ्या का भेद जानते हैं और चमत्कार दिखाने में अपनी विद्या का अपव्यय नहीं करते। इस प्रकार स्पष्ट है कि परिवर्तनों के पश्चात् भी अध्ययन काल में शिक्षा के मूलभूत आदर्श यथावत् थे।

देश काल तथा परिवेश के अनुसार शिक्षा के उद्देंश्यों में परिवर्तन होते रहना एक स्वाभाविक सामाजिक प्रक्रिया है। इस आधार पर जीविकोपार्जन, व्यक्तित्व का विकास, चरित्र–निर्माण, शारीरिक विकास, धार्मिक कृत्तियों का उत्थान, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास, जीवन में पूर्णता का विकास, बौद्धिक विकास आदि तत्कालीन शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य कहे जा सकते हैं, परन्तु सबमें एक ही समानता होती है, वह यह कि बालक अपने समाज को समझ सके, उस समाज में अपना उचित समायोजन करके, जीविकोपार्जन करते हुए समाज के विकास में अपना योगदान दे। वस्तुतः उपर्युक्त शिक्षा के उद्देश्य जीवन की व्यवहारिकता से अनुप्राणित थे।

प्राचीन भारत में धर्म की परिधि अत्यन्त व्यापक थी। मानव जीवन के सभी क्रिया कलाप धर्मानुगत होते थे। धर्म का अनुशासन शिक्षा के क्षेत्र में विशेष महत्व रखता था। भारत में ज्ञान, ज्ञान के निमित्त न होकर धर्म के मार्ग पर चलकर मोक्ष प्राप्ति के क्रमिक विकास के प्रयास की एक कड़ी के रूप में माना जाता था इसीलिए अध्यात्मविद्या को सभी विद्याओं में श्रेष्ठ कहा गया है। मुखर्जी[57] के अनुसार, भारतीय आर्यों की प्रथम साहित्यिक वाणी ऋग्वेद की रचना के लगभग एक हजार वर्ष बाद भी भारतीय साहित्य की धार्मिक भावनायें अनुप्राणित करती रही है। विवेच्य युग में शिक्षा का यह उद्देश्य विद्यार्थी को समाज का एक धर्मनिष्ठ सदस्य बनाने में बहुत सहायक था। कुल्लूक के अनुसार[58] शौच, पवित्रता, आचार, स्नान–क्रिया, अग्निकार्य और सांध्योपासन आदि ब्रह्मचारी का धर्म था, जिसकी शिक्षा गुरू द्वारा उस उपनयन के पश्चात् प्राप्त होती थी। इसके साथ ही उसे धर्म के पालन में प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया था, जिससे उसका धर्मनिष्ठ व्यवहार बना रहे। धार्मिक निर्देशों में त्रुटि होने पर प्रायश्चित्त का विधान बताया गया था। सोमदेव के अनुसार[59] अनुशासनपूर्वक त्रयीविद्या, चारो वेद, वेदांग और चतुर्दश विद्याएं का अध्ययन करने वाला व्यक्ति ब्रह्मणादि चारों वर्णों के आचार व्यवहार में बहुत पटु हो जाता है और धर्म तथा अधर्म की स्थिति को जान जाता है। भारतीय शिक्षा के मूलाधार वेदों का अल्प अध्ययन भी लोक एवं परलोक के लिए अन्य अध्ययन से दुगुना महत्व रखता है।[60] वेदों के अध्ययन द्वारा व्यक्ति तुरन्त भौतिक दुःखों से मुक्ति पा जाता है।[61]

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षार्थी इन्हीं धर्ममूलक प्रवृत्तियों के आधार पर लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को समझ पाने और विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने में सक्षम हो जाता है। सभ्य समाज की निरन्तरता और सांस्कृतिक धरोहर इन्हीं धार्मिक प्रवृत्तियों या उनसे जनित नैतिक मूल्यों पर आधारित होती है। इस प्रकार की शिक्षा मनुष्य को व्यक्तिगत रूप में सुखपूर्वक जीवन बिताने के लिए ही तैयार नहीं करती थी,

अपितु व्यक्ति में सामाजिक उपयोगिता एवं धार्मिक कर्तव्यों की ओर उन्मुख होने की क्षमता विकसित करती थी।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में उपर्युक्त तत्वों का अभाव दिखायी देता है। इस सम्बन्ध में डॉ0 राधाकृष्णन।[62] का कथन है कि भारत सहित सारे विश्व के कष्टों का कारण यह है कि शिक्षा केवल मस्तिष्क के विकास तक परिसीमित रह गयी है। उसमें धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश नहीं है।

प्राचीन काल में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य था व्यक्ति के चरित्र का उत्थान। आचार्य शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को अपनी देख रेख और प्रत्यक्ष नियन्त्रण में रखते थे। ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए उज्जवल चरित्र का होना आवश्यक है। इसके लिए विद्यार्थियों को सदाचार के पाठ पढ़ाये जाते थे। गुरू के सान्निध्य में रहने वाले ब्रह्मचारी प्रायः गुरू के शील तथा सदाचार से प्रभावित होते थे।[63] तथा निष्ठापूर्वक उनके निर्देशों का पालन करते थे। सामान्यतः विद्यार्थी के लिए स्वच्छन्द न होना, गुरू की आज्ञाओं का पालन करना, नियमपूर्वक रहना और विनीत होना आदि निर्देश थे। [64] चरित्र और आचरण का इतना अधिक महत्व था कि समस्त वेदों का ज्ञाता पण्डित भी अपनी सच्चरित्रता के कारण ही माननीय और पूजनीय था।[65] सुकरात ने भी शील को ही ज्ञान माना है। हरबर्ट के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य ऐसी भावनाओं का विकास है जो उसमें सदाचार के नियमों को समझने तथा उसके अनुसार आचरण करने की शक्ति दे।[66] भारत के मनीषियों ने इस सत्य का साक्षात्कार पहले ही कर लिया था। प्राचीन भारत की शिक्षा प्रणाली में चरित्र निर्माण की उपादेयता पर अधिक ध्यान दिया जाता था। वस्तुतः सच्चरित्रता व्यक्ति का आभूषण मानी जाती है। तत्कालीन समाज में सत्कर्मों से ही चरित्र का निर्माण एवं उत्थान माना गया था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्यों से संचालित होते थे। शिक्षावधि में ही व्यक्ति के आचरण और चरित्र को उन्नत करने का प्रयास किया जाता था। मनुष्य का आचरण सुन्दर बनाना

शिक्षा का परम उद्देश्य था। विवेच्य युगीन भारत में सदाचार की शिक्षा विद्यार्थी के उपदेशों और धार्मिक विषयों के साथ ही शिक्षा अवधि में क्रियात्मक जीवन अभ्यास के माध्यम से प्रदान की जाती थी ताकि उसके अन्दर सदाचार और सच्चरित्रता स्वतः स्फूर्त हो, जिसके परिणामस्वरूप विद्यार्थी का आचरण सुन्दर और सभ्य हो और वह चरित्रवान बनकर समाज में संरचनात्मक भूमिका का निर्वहन करें। अनुशासन को चरित्र निर्माण का प्रमुख अंग माना जाता था। ब्रह्मचर्यावधि में कठोर अनुशासन, शिष्टाचार, सदाचार, शिक्षार्थी के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास एवं आदर्श चरित्र का निर्माण विवेच्य युग के शैक्षणिक जीवन का उद्देश्य था। ब्रह्मचारी के लिए कृत्य कल्पतरू में एक विस्तृत अनुशासन संहिता का "इन्द्रिय–निग्रह" नामक अध्याय में वर्णन है।[67]

शिक्षा का एक उद्देश्य व्यक्तित्व का विकास भी था, किन्तु व्यक्तित्व के विकास सम्बन्धी तत्कालीन धारणा भौतिकवादी युग की धारणा से भिन्न थी। कर्मोपासना में प्रवृत्त होकर शास्त्र सम्मत विधियों से अन्तः कारण की शुद्धि करके ज्ञान प्राप्त करना व्यक्तित्व के विकास का एक प्रमुख सोपान माना जाता था। बालक के सर्वांगीण व्यक्तित्व के विकास को स्वाभाविक गति प्रदान करने के लिए ब्रह्मचारी से आत्मसंयम की अपेक्षा की जाती थी। आचार्य के संरक्षण में विद्यार्थी की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों का विकास तथा भौतिक भावनाओं एवं प्रवृत्तियों का स्फुरण होता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त आत्मसम्मान की भावना, आत्मविश्वास का उपयोग और आत्मसंयम का महत्व विद्यार्थी के हृदयपटल पर अंकित कर दिया जाता था। इस प्रकार व्यक्तित्व के विकास के निमित्त अर्जित ज्ञान, विवेक एवं आत्मविश्वास आवश्यक थे। प्रसिद्ध विचारक टी0 पर्सीनन [68] के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में अपने विशेष गुण तथा योग्यताएं होती है। व्यक्ति के इन जन्मजात गुणों को विकसित करना और उसको इन गुणों के प्रयोग करने की क्षमता देना शिक्षा का मुख्य एवं सर्वमान्य उद्देश्य है। विवेच्य युग में विद्यार्थी से अपनी रूचि तथा आवश्यकता के अनुसार विशेष दिशा में विकास

करने की पूर्ण स्वतंत्रता एवं अवसर प्राप्त थे। इस प्रकार की शिक्षा एवं ज्ञान से मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्कर्ष होता था। तत्कालीन शिक्षा संकुचित एवं एकांगी नहीं थी। व्यक्तित्व शब्द अपने मूल में बड़ा व्यापक है, जिसके अन्तर्गत शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं संवेगात्मक सभी प्रकार की विशेषताएं समाहित हो जाती है। इस व्यापक अर्थ के अनुरूप ही शोधकाल में शरीर, मन और बुद्धि सभी क्षेत्रों में शिक्षार्थी का उन्नयन करना ही शिक्षा का दायित्व था। विभिन्न प्रकार के निर्देशों, संयमों और नियमों[69] से मनुष्य का जीवन सुव्यवस्थित होता था, जिससे उसके भीतर आत्मसंयम, आत्मचिन्तन, आत्मविश्वास, आत्मविश्लेषण, विवेकभावना, न्याय प्रवृत्ति और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का उदय होता था जिसके परिणामस्वरूप विद्यार्थी में विवेक और न्याय की शक्ति उत्पन्न की जाती थी।[70]

शोधकाल के ग्रन्थों में शैक्षणिक विषयों की विविधता का उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि शिक्षा का व्यक्तित्व के विकास से गहरा तादात्म्य था। बाणभट्ट के अनुसार[71] गुरू अपने शिष्यों को नियमित रूप से वेद, व्याकरण, मीमांसा आदि की शिक्षा देता था। गुरूकुलों में वेदों का निरन्तर पाठ हुआ करता था। यज्ञ की अग्नि जला करती थी। अग्निहोत्र की क्रियाएं हुआ करती थी। विश्वदेव की बलि दी जाती थी। विधिपूर्वक यज्ञ का सम्पादन हुआ करता था। ब्राह्मण उपाध्याय ब्रह्मचारियों को पढ़ाने में संलग्न थे। दण्डी ने भी पाठ्य विषयों की एक लम्बी सूची दी है।[72] उपरोक्त मत की पुष्टि अलबरूनी से भी होती है। उसके अनुसार विज्ञान और साहित्य की अन्य अनेक शाखाओं का विस्तार हिन्दू करते हैं तथा उनका साहित्य सामान्यतः अपरिसीम है। इस प्रकार मैं अपने ज्ञान के अनुसार उनके साहित्य को न समझ सका।[73]

शिक्षा का महत्वपूर्ण उद्देश्य सांस्कृतिक निरन्तर्य को बनाये रखना भी था। शिक्षा उदीयमान संतति को उत्तम प्राचीन परम्पराओं को ग्रहण करके उनके अनुसार आचरण करना ही नहीं सिखाती बल्कि इन परम्पराओं को आने वाली पीढ़ियों तक

पहुंचाना भी सिखाती है। वैदिक साहित्य के संरक्षण का उत्तरदायित्व सम्पूर्ण आर्य जाति पर था।[74] ज्ञान शिक्षकों के अध्यापन द्वारा विद्यार्थियों तक पहुंचता था। शिक्षक चलते फिरते पुस्तकालय की भांति थे। जिनके भीतर महान् ज्ञानराशि सुरक्षित ही नहीं थी अपितु अपनी रचनाओं से वे उनमें समृद्धि भी करते थे। शास्त्रसम्मत कर्तव्यों का पालन करके ही मानव अपनी सांस्कृतिक विरासत का पोषण एवं संरक्षण कर सकता है ऐसी धारणा समाज में विद्यमान थी। विद्यार्थी सम्पूर्ण समाज की आशा था। धर्मशास्त्रकार ही वैदिक संस्कृति के प्रवक्ता थे और धर्मशास्त्र संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था के आधार तत्व थे। इस प्रकार तद्युगीन शिक्षा को संस्कृति के साधन के रूप में कार्य करना पड़ता था। आटावे ने लिखा है कि समाज के सांस्कृतिक मूल्यों और व्यवहार के प्रतिमानों को अपने सदस्यों को प्रदान करना शिक्षा का कार्य है।[75] अलबरूनी के अनुसार[76] वसुक नामक ब्राह्मण ने इस आशंका से वेद को लिपिबद्ध करने और उसकी व्याख्या करने का उत्तरदायित्व स्वीकार किया था कि कहीं वेद विलुप्त न हो जाय, क्योंकि वह देखता था कि लोगों का चरित्र गिरता जा रहा है और लोग धर्म और कर्तव्यों से च्युत होते जा रहे हैं। उपरोक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि सांस्कृतिक विरासत की रक्षा, उसका विकास और उसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था। उत्तर काल में उत्तम सांस्कृतिक परम्पराएं सामान्य जनता तक सुरक्षित हो गयी थी। तत्कालीन लेखकों में मेधातिथि, विश्वरूप, अपरार्क आदि के अनुसार विद्यार्थी को गुरू के सान्निध्य में रहकर वेद का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षित था तथा साथ ही धर्म की समस्त धाराओं को समझना भी आवश्यक था।[77] लक्ष्मीधर ने वृहस्पति को उद्धृत करते हुए यह सुझाव दिया है कि ब्राह्मणों का पहला कर्तव्य था कि वेद पढ़े, तदनन्तर स्मृति और सदाचार का अनुपालन करें।[78] नीलकण्ठ शास्त्री[79] के अनुसार सामान्यतः साधारण शिक्षा पुराणों, रामायण और महाभारत जैसे साहित्य के परायण तथा उसकी व्याख्या के द्वारा की जाती थी। इस

प्रकार संस्कृति का संरक्षण एवं विस्तार तद्युगीन शिक्षा का परम लक्ष्य था। यहीं कारण था कि प्रत्येक शिक्षार्थी को प्राचीन साहित्य का कुछ अंश अनिवार्यतः कण्ठस्थ करना पड़ता था।

शिक्षा का उद्देश्य केवल पुस्तकीय ज्ञान नहीं था।[80] विवेच्ययुगीन शिक्षा का एक उद्देश्य बालक के शारीरिक शक्तियों का विकास करना भी था। ऐसा माना जाता था कि स्वस्थ शरीर के बिना स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण असम्भव है। हम अपने संकल्पों में तभी दृढ़ हो सकते हैं जबकि शरीर से भी सुदृढ़ एवं बलिस्ट हो। शरीर को कर्तव्य साधना का मूल समझा जाता था। रूसो का मत था कि बालकों के लिए आरम्भ में खेल कूद तथा व्यायाम का प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे उसकी शारीरिक शक्तियों का विकास हो और वह पूर्णरूप से स्वस्थ्य हो जाय।[81] ग्रीस के प्राचीन राज्य स्पार्टा की शिक्षा में भी शारीरिक विकास का उद्देश्य मुख्य था। वेदों के बाद द्वितीय महत्वपूर्ण विषय शस्त्र–विद्या माना गया।[82] ब्राह्मण एवं क्षत्रिय दोनों को ही शस्त्र–विद्या में निपुणता प्राप्त करते हुए चित्रित किया गया है। विष्णुपुराण एवं अग्निपुराण में भी धनुर्वेद की शिक्षा का उल्लेख है।[83] इनके अतिरिक्त राजतरंगिणी[84] कल्चुरी एवं चालुक्यवंश के शिलालेखों[85] से भी स्पष्ट है कि पाठ्य विषयों में शस्त्र–विद्या की प्रमुखता थी। शस्त्र–विद्या के साथ बाहुयुद्ध विद्या में निपुणता प्राप्त करना शारीरिक विकास के लक्ष्य के अनुपम उदाहरण है। श्री दत्त[86] नामक ब्राह्मण का अस्त्र–विद्या एवं बाहुविद्या में निपुणता प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। जिसकी शिक्षा द्वारा शारीरिक विकास का उद्देश्य पूर्ण होता था।

तत्कालीन भारत में विद्यार्थी का मानसिक विकास शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था। मानसिक विकास का तात्पर्य मनुष्य की समस्त शक्तियों, जैसे–विचार शक्ति, कल्पना शक्ति एवं स्मरण शक्ति आदि के विकास से है।[87] तत्कालीन ऐतिहासिक साक्ष्यों में बालक की मानसिक शक्तियों को बढ़ाने वाली विद्याओं का उल्लेख किया गया है।

दशकुमार[88] चरित में दण्डी ने राजवाहन के लिए ऐसी ही अनेक विद्याओं का उल्लेख किया है। अल्तेकर के अनुसार पाठ्शाला में भी ब्रह्मचारी प्रतिदिन निश्चित समय तक समवेत स्वर में पठित पाठ की आवृत्ति करते थे। इस पद्धति के द्वारा प्राचीनकाल में विद्यार्थी की स्मरण शक्ति बड़ी प्रखर हो जाती थी। जिस काल में पुस्तकें दुर्लभ रहीं हो, स्मरण शक्ति के विकास पर जोर देना स्वाभाविक ही था।[89] इत्सिंग[90] ने स्मरण शक्ति बढ़ाने के लिए कतिपय ऐसी क्रियाओं का गूढ़ भाषा में अस्पष्ट रूप में वर्णन किया है जिसके दस या पन्द्रह दिन के अभ्यास में ही विद्यार्थी यह अनुभव करने लगते थे कि उनमें विचारों का उत्स ही फट निकला है और वे एक बार सुन लेने से ही कुछ भी स्मरण कर लेते थे। वह लिखता है कि यह असत्य नहीं है क्योंकि मैंने स्वयं ऐसे व्यक्तियों से भेंट की है।

हमारे अध्ययनकाल में शिक्षा के उद्देश्यों एवं आदर्शों में स्पष्ट अन्तर परिलक्षित होने लगता है। इस काल के अनेकानेक स्रोतों के परिवेक्षण से प्रतीत होता है कि अब शिक्षा का उद्देश्य जीविकोपार्जन और समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने से भी सम्बन्धित होने लगा था। शिक्षा ब्रह्म विद्या के अतिरिक्त अन्य विद्याओं को प्राप्त करने का माध्यम बन रहीं थी। जैसा कि नारद का कथन है कि यदि कोई अपने शिल्प की शिक्षा प्राप्त करने का इच्छुक हो तो स्वबन्धुवों की आज्ञा लेकर शैक्षणिक अवधि नियत करके गुरू गृह में रहे। ऐसी स्थिति में आचार्य उसे अपने घर पर शिक्षा देगा तथा भोजनादि की व्यवस्था करेगा।

मानव आत्मा, मन, बुद्धि और शरीर का समन्वय है। विवेच्ययुगीन शिक्षा के आदर्श और उद्देश्य इन चारों के संतुलित अभ्युत्थान में सहायक थे। आधुनिक विचारक यह स्वीकार करते हैं कि प्राचीन शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य आध्यात्मिक और नैसर्गिक था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्राचीन मनीषियों ने सांसारिक जीवन और समाज सेवा को भुला दिया था अपितु सत्य यह है कि हमारी प्राचीन शिक्षा प्रणाली ने

उन आदर्शों को भुलाया नहीं बल्कि उसे समेटकर व्यक्तित्व का विकास किया, समाज की समुन्नति की, ईश्वरोपासना में लीन होकर पुरूषार्थों की पूर्ति और तीन ऋणों के मुक्ति के योग्य मानव को बनाने में पूर्ण योगदान दिया है। तत्कालीन शिक्षा के उद्देश्यों के कतिपय विचार पाश्चात्य शिक्षा शास्त्रियों के विचारों से काफी साम्य रखते हैं जैसे – प्राचीन यूनान तथा सुधारकालीन यूरोप के व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने की शिक्षा।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हमारे अध्ययन काल में क्रमशः किस प्रकार शिक्षा के उद्देश्यों में क्रमिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, शिक्षा का उद्देश्य जहां एक ओर प्राचीन सिद्धान्तों और आदर्शों के अनुरूप था वहीं व्यवहारिक रूप में पर्याप्त परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन शिक्षा का उद्देश्य और आदर्श व्यक्ति के जीवन दर्शन का सर्वांगीण विकास करना था।

संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सैन्धव सभ्यता युग से ६०० ई०पू० तक

सैन्धव काल से ही शिक्षा के महत्व को समझा जाने लगा था। सैन्धव काल से शिक्षा की शुरूआत मानी जाती है, परन्तु सैन्धव लिपि के अपठित होने के कारण यहां के निवासियों के बौद्धिक पक्ष और शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में कम जानकारी प्राप्त होती है। अधिकांश विद्वानों ने उनकी लिपि को चित्राक्षर बताया है। इसके लगभग 400 अक्षर ज्ञात हैं, जो सामान्यतः दायें से बायें लिखी जाती थी। सामान्यतः प्रवृत्ति यह है कि इसे या तो संस्कृत का आद्य रूप माना जाता है या आद्य द्रविड़ लिपि माना जाता है।

परवर्ती भारतीय सभ्यता के अधिकांश शिक्षा का मूल हमें भारत की इस प्राचीनतम सभ्यता में दिखाई देता है। सैन्धव लोग ज्यामिति के सिद्धान्त से परिचित थे, उनके भार–माप के पैमाने सुनिश्चित थे। बांटो में अद्भुत समता दिखाई देती है, यहां के लोग 'स्वास्तिक', 'स्तम्भ' आदि से परिचित थे, हिन्दू धर्म में आज भी 'स्वास्तिक' को सैन्धव काल की तरह पवित्र मांगलिक चिह्न माना जाता है। यहां के लोग दशमलव प्रणाली से भी प्रचलित थे।

मोहनजोदड़ों की खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर विद्वानों ने सैन्धव समाज को चार वर्गों में बांटा है – विद्वान, योद्धा, व्यापारी तथा शिल्पकार और श्रमिक। जिसमें विद्वान या ब्राह्मण वर्ग ही शिक्षा के कार्य से जुड़ा था। अतः सैन्धव सभ्यता की खोज ने हमारे इतिहास को एक सातत्य प्रदान किया है।

वैदिक काल में शिक्षा को प्रकाश और शक्ति का स्रोत समझा जाता था। इसके द्वारा मनुष्य अपनी बुद्धि प्रखर कर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ठीक–ठीक मार्ग का अनुसरण कर सकता था। शिक्षा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास कर इस संसार में और परलोक में जीवन के वास्तविक सुख को प्राप्त कर सकता था।[91] शिक्षा का अन्तिम ध्येय सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त होकर वास्तविक सत्य की खोज करना था, जिससे मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सके। मनुष्य अन्य व्यक्तियों को शिक्षा देकर पूर्वजों से उत्रृण हो सकता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में चरित्र निर्माण और ज्ञान की प्राप्ति करके प्रत्येक विद्यार्थी अपने को समाज के लिए उपयोगी बनाता था और स्वयं आध्यात्मिक उन्नति करके अपने जीवन के लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता था। शिक्षा का आरम्भ गायत्री मंत्र से होता था। इस मंत्र में विद्यार्थी प्रार्थना करता था कि ईश्वर उसकी बुद्धि सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे। ब्रह्मचर्य आश्रम में तपस्वियों जैसा सादा, कठोर जीवन व्यतीत करके वह ऐसे चरित्र का निर्माण करता था कि संसार के प्रलोभन उसे सन्मार्ग से भ्रस्ट न कर

सके। इस काल में वह ऐसी नैतिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करता था, जिसके द्वारा वह समाज के प्रति अपने कर्तव्यों की पूर्ति सफलता पूर्वक कर सके। व्यक्तिगत रूप से धर्म की मर्यादा के भीतर धन का अर्जन कर और संसार के सुखों का भी धर्म की मर्यादा के भीतर ही उपभोग कर जीवन के वास्तविक लक्ष्य, मोक्ष को प्राप्त कर सके। भारतियों की धारणा थी कि इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करके ही व्यक्ति सांसारिक सुख–दुख से छूटकर स्थायी सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

ऋग्वैदिक काल में गुरू बालकों को वैदिक सूक्त और वीरगाथाएं पढ़ाते थे। ऋग्वेद के सूक्त तत्कालीन कवियों की रचना थे। अतः उन्हें अपौरूषेय नहीं माना जाता था। वैदिक ऋषि सृष्टि के रहस्य को जानने के लिए बहुत उत्सुक थे। वे ग्रहों और तारों में अन्तर समझते थे। उन्होंने चन्द्रमा और सूर्य की गति को मिलाकर मासों पर आधारित पचांग का आविष्कार कर लिया था। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने ज्योतिष विज्ञान में भी कुछ प्रगति कर ली थी।

पिता अपनी संतान को परिवार के व्यवसाय की शिक्षा देता था। स्त्रियां कपड़ा बुनने, रंगने, कसीदा काढ़ने और टोकरी बनाने का कार्य करती थी। इन सभी शिल्पों की शिक्षा बालकों को अपने माता पिता से मिलती थी।

उत्तर वैदिक काल में शिक्षा का प्रमुख कार्य ब्रह्म या आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना था। इस ज्ञान को उपनिषदों में आध्यात्मविद्या कहा गया है। आध्यात्मविद्या, इसके अधिकारी और इसके लिए अत्यन्त इच्छुक व्यक्ति को ही पढ़ाई जाती थी। इसे पराविद्या भी कहा गया है क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति परलोक में सुख प्राप्त कर सकता था।

गुरू विद्या समाप्ति पर शिष्य को जो अनुशासन देता है उससे उपनिषद् काल में शिक्षा पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। [92] गुरू कहता है–'हे शिष्य, तू सत्य बोल, धर्म का आचरण कर, स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत कर,' [93] आचार्य के लिए प्रिय धन

लाकर दे, संतानोत्पत्ति का ध्यान रख, सत्य, धर्म और शारीरिक आरोग्यता और ऐश्वर्य प्रदान करने वाले कार्यों में प्रमाद न कर। माता, पिता, आचार्य और अतिथियों की सेवा में कमी न कर। मेरा जो अच्छा आचरण है उसी का तुझे अनुकरण करना चाहिए अन्य का तुझे अनुकरण नहीं करना चाहिए। धर्म सम्बन्धी कार्यों में संशय होने पर आचार्य कहता है कि तू उस प्रकार आचरण करना जिस प्रकार वेदवेत्ता, विचारशील, धर्मात्मा ब्राह्मण आचरण करते हो।

आचार्य के इस अनुशासन से स्पष्ट है कि विद्यार्थी को ऐसी शिक्षा दी जाती थी जिससे कि वह अपने भावी जीवन में गुरूजनों का आदर करे, सत्य का आचरण करे और उन्हीं कार्यों को करे जो धर्मात्मा व्यक्ति करते थे। इस शिक्षा के द्वारा उसकी व्यक्तिगत, परिवार की और समाज की उन्नति अभीष्ट थी। इस अनुशासन में यह शिक्षा विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। आचार्य स्वयं यह समझता था कि उसमें भी कुछ निर्बलताएं या दोष हो सकते हैं। अतः वह स्वयं कहता है कि मेरा जो अच्छा आचरण है उसी का तुझे आचरण करना चाहिए, अन्य का अर्थात् बुरी बातों का तुझे अनुकरण नहीं करना चाहिए। आचार्य यह इसलिए कहता है कि वह जानता है कि मनुष्य होने के कारण वह निर्दोष नहीं हो सकता।

उत्तर वैदिक काल में संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों को अपौरूषेय समझा जाने लगा अतः पाठ्य विषयों में इसके अध्ययन का अधिक महत्व हो गया। वैदिक साहित्य की रक्षा के लिए व्याकरण, निरूक्त, छंद और दर्शन की शिक्षा पर बहुत जोर दिया जाता था। ताण्ड्य ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि गणित, व्याकरण और छन्द शास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी। भाषा के अध्ययन पर बहुत जोर दिया जाता था और उत्तर भारत के व्यक्ति भाषा और व्याकरण के पंडित माने जाते थे।

इस काल के अन्त में संभवतः आर्य लिखना भली भांति जानते थे। वे भोजपत्रों पर पुस्तकें लिखते थे। किन्तु तत्कालीन शिक्षा पद्धति में लेखन कला का कोई महत्व न

था। कुछ ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कन्याओं को नृत्य और गायन की शिक्षा दी जाती थी।

भारतीय विद्याओं के सृजन की दृष्टि से उत्तर वैदिक काल का विशेष महत्व है। तत्वमीमांसा से दर्शन का विकास हुआ। धर्मेत्तर विषयों में राजनीति विज्ञान और विधि शास्त्र, आयुर्वेद, शल्यशास्त्र, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, संस्कृत साहित्य, धातु विज्ञान आदि विद्याओं का बहुत विकास हुआ और अनेक विद्यार्थी इनका भी अध्ययन करने लगे।

६०० ई०पू० से ५००ई० तक

स्मृतियों में शिक्षा की एतिहासिकता का निरूपण किया गया है। शिक्षा ज्ञानोदय की प्रक्रिया समझी जाती थी। इसके द्वारा व्यक्ति अपनी भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति कर सकता था। साथ ही शिक्षा प्राप्त करके वह समाज के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन बिताने में समर्थ हो जाता था।

गृह्य सूत्रों में, गृहस्थ आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति के लिए तीन ऋण चुकाना अनिवार्य कर्तव्य निर्धारित किया गया। निर्दृष्ट विधि से यज्ञ करके गृहस्थ देवताओं के ऋण को चुकाता था। ऋषियों के ग्रन्थों का अध्ययन करके और उनकी सांस्कृतिक परंपरा को सुरक्षित रख कर वह ऋषि ऋण को चुकाता था और संतान उत्पन्न करके और उसकी शिक्षा और संस्कृति की उन्नति में सक्रीय योगदान करता था। इन सभी कर्तव्यों की सुचारू रूप से पूर्ति करने के लिए गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व विद्यार्थी के लिए वैदिक ग्रन्थों का स्वाध्याय और उनके अनुरूप आचरण करने का अभ्यास करना परमावश्यक था।

तत्कालीन साहित्य से भी शिक्षा के उद्देश्य पर प्रकाश पड़ता है। महाभारत के अनुसार शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य में धार्मिक प्रवृत्ति की बृद्धि करना है।[94] इसका

उद्देश्य मनुष्य के आदर्श व्यक्तित्व को विकसित करना था, जिससे कि वह पाशविक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करके अपनी नैतिक व आध्यात्मिक उन्नति कर सके।

तत्कालीन अभिलेखों और विदेशी यात्रियों के वर्णन से हमें ज्ञात होता है कि शिक्षा के तीन मुख्य कार्य थे : चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास और प्राचीन भारतीय संस्कृति की रक्षा और उसका विकास। इस काल की शिक्षा से व्यक्तित्व का पूरा विकास हुआ क्योंकि बालकों में इस शिक्षा के फलस्वरूप आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और अच्छे बुरे को पहचानने की शक्ति और न्यायप्रियता के गुणों की वृद्धि हुई। यह शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों पर बल देती थी इसलिए सामाजिक कार्य क्षमता को भी इससे प्रोत्साहन मिला।

इस काल में भी ग्रन्थों को कंठस्थ करके सुरक्षित रखने पर बहुत जोर दिया जाता था। ब्राह्मण विद्यार्थी साधारणतया अपने अध्ययन काल का पूरा समय वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन में लगाते थे, किन्तु क्षत्रिय और वैश्य विद्यार्थी पूरा समय इसमें नहीं लगाते थे। क्षत्रिय युद्ध कला और प्रशासन विद्या भी सीखते थे। वैश्य केवल प्रत्येक ऋृषि का पहला और अन्तिम सूक्त कंठस्थ करते थे और शेष समय कृषि–विज्ञान, पण्यशास्त्र और पशु पालन विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने में लगाते थे। गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने पर स्नातक संहिता, ब्राह्मण और कल्प सूत्रों के अतिरिक्त गाथा, नाराशंसी, इतिहास और पुराणों का भी स्वाध्याय करता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तीनों वेदों के ज्ञान, अर्थशास्त्र, आन्वीक्षिकी और दण्ड नीति को सबसे महत्वपूर्ण विद्याएं बतलाया गया है[95] उपर्युक्त चार विद्याओं के अतिरिक्त प्रत्येक राजकुमार को सामरिक प्रशिक्षण भी दिया जाता था। वह इतिहास का भी अध्ययन करता था। उस समय इतिहास में पुराण, इत्तिवृन्त (इतिहास), आख्यायिका (कथाएं) उद्धरण (सिद्धान्तों के उदाहरण रूप कथाएं), धर्मशास्त्र सभी विषयों का अध्ययन सम्मिलित था। दिव्यावादान (चौथी शदी ई0) से ज्ञात होता है कि वैश्य

विद्यार्थी लेखन कला, गणित, मुद्राशास्त्र, ऋण निधि, मणि परीक्षा और अश्व हस्ति विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करते थे। वैश्यों और शूद्रों को कृषि विज्ञान, पण्यशास्त्र और पशुपालन विज्ञान सीखना पड़ता था।[96]

लगभग 300 ई0पू0 से केवल ब्राह्मण विद्यार्थी ही वैदिक और धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने लगे। किन्तु इस काल में वैदिक साहित्य की अपेक्षा दर्शन, विधि, आयुर्वेद, महाकाव्य संस्कृत–साहित्य, काव्यशास्त्र, ज्योतिष और गणित आदि विषयों का अध्ययन अधिक लोकप्रिय हो गया। गुप्त काल में भी ब्राह्मण विद्यार्थी चौदह या अठारह विद्याओं का अध्ययन करते थे।[97] वायु पुराण के अनुसार अठारह विद्याओं में चार वेद, छः वेदांग, पुराण न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, धनुर्वेद, गंधर्ववेद और अर्थशास्त्र सम्मिलित थे।[98] लगभग 500ई0 तक ब्राह्मण आचार्य वैदिक तथा धार्मिक विषयों के साथ – साथ सैनिक विज्ञान, आयुर्वेद, शल्यशास्त्र आदि की भी शिक्षा देते थे। द्रोण ब्राह्मण थे, किन्तु सैनिक विज्ञान, के आचार्य थे। किन्तु 500 ई0 के बाद ब्राह्मणों ने उपयोगी कलाओं और व्यवसायों की शिक्षा देना छोड़ दिया। चौथी शदी ई0पू0 तक कन्याएं वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करती थी। जब कन्याओं के विवाह की आयु बारह वर्ष कर दी गयी तो उन्हें वैदिक ग्रन्थों को पढ़ने की अनुमति नहीं रही। अभिजात कुल की कन्याओं को संस्कृत साहित्य की शिक्षा दी जाती थी, वे संगीत, नृत्य और चित्रकला में भी निपुणता प्राप्त करती थी।[99] किन्तु अब भी कुछ स्त्रियां धर्म और दर्शन में रूचि रखने वाली थी। महाभाष्य में मीमांसा दर्शन पढ़ने वाली कन्याओं का स्पष्ट उल्लेख है।

५००ई० से १२०० ई० तक

सुभाषितरत्न भांडागार के अनुसार शिक्षा से व्यक्ति में नैतिकता की भावना दृढ़ होती है। वह दूसरों के प्रति जो अकारण द्वेष की भावना रखता है वह दूर होती है। वह दूसरों के प्रति सहानुभूति और तर्कसंगत व्यवहार करता है। इस प्रकार शिक्षा विद्यार्थी

की सभी अंतः शक्तियों का पूर्ण विकास करके उसकी व्यक्तिगत उन्नति करना और समाज के लिए उसे अधिक उपयोगी बनाना था।

इस काल में ब्राह्मण विद्यार्थियों को विशेष रूप से व्याकरण, तर्कशास्त्र, आयुर्वेद, अथर्वविद्या, वैदिक साहित्य और दर्शन ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे, जिससे वे अपनी नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति कर सके। चरित्र निर्माण के द्वारा व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण भी शिक्षा का प्रमुख कार्य था। क्षत्रिय विद्यार्थी भी बौद्धिक प्रशिक्षण के साथ–साथ नैतिक अनुशासन की व्यापक शिक्षा प्राप्त करते थे। इस काल के कुछ शासक प्रसिद्ध कवि भी थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि उन्हें संस्कृति साहित्य की पर्याप्त शिक्षा दी जाती थी। इस काल के प्रसिद्ध राजाओं में जो उच्च्य कोटि के कवि भी थे उनमें हर्ष, महेन्द्र वर्मा और यशोवर्मा का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में वैश्यों की स्थिति जहां तक वैदिक साहित्य का संबंध है संभवतः शूद्रों से अधिक अच्छी न थी। वे मुख्य रूप से व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त करते थे। हाँ, चरित्र निर्माण पर उनकी शिक्षा में पर्याप्त बल दिया जाता था।

इस काल के साहित्य और अभिलेखों से पता चलता है कि ब्राह्मण विद्यार्थी वेद, शास्त्र और छः दर्शन पढ़ते थे। वे तर्कशास्त्र, पुराणों, नाटकों, स्मृतियों और काव्यग्रन्थों का भी अध्ययन करते थे। व्याकरण साहित्य और तर्कशास्त्र की शिक्षा पर अधिक जोर दिया जाता था।[100] तर्कशास्त्रवेत्ता और छंदशास्त्रवेत्ता अपना विषय तो पूर्णरूप से जानते थे किंतु उन्हें अन्य विद्याओं का थोड़ा भी ज्ञान न होता था। गणित की शिक्षा बहुत कम दी जाती थी और भूगोल के शिक्षण की प्रायः उपेक्षा की जाती थी। दूसरे देशों के ज्ञान की प्रगति से भारतीय पूर्णतया अनभिज्ञ थे। वे अपने देश के ज्ञान – विज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ समझते थे।

ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि सातवीं शदी ईसवी में ब्राह्मण विद्यार्थी नाट्य – कला, चित्रकला, फलित– ज्योतिष, कुक्कुट–विद्या, अश्व–विद्या, हस्तिविद्या,

राजनीतिक–विज्ञान, ज्योतिष, व्याकरण, गणित और पराविद्या की भी शिक्षा प्राप्त करते थे।[101] इसके अतिरिक्त ब्राह्मण विद्यार्थी पहले के ही तरह वेदों और 18 विद्याओं का अध्ययन करते ही रहे।

क्षत्रियों की शिक्षा पर पूर्ण ध्यान दिया जाता था। इस काल के अनेक राजा संस्कृत साहित्य के पंडित और कुशल कवि थे। इस सम्बन्ध में यशोवर्मन, महेन्द्र वर्मन और हर्ष के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मानसोल्लास से ज्ञात होता है कि राजकुमारों को वैदिक साहित्य के साथ – साथ सैनिक शिक्षा भी दी जाती थी। जब राजकुमार घोड़े और हाथी की सवारी और रथों का चलाने का प्रशिक्षण पूरा कर लेते थे, तो राजा उनकी इन विद्याओं की परीक्षा लेता था। वेद, तर्कशास्त्र, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ललित कलाओं, धनुष आदि के प्रयोग में भी राजकुमारों की परीक्षा ली जाती थी।[102]

इस काल की स्मृतियों में तकनीकी शिक्षा का वर्णन नहीं मिलता, किन्तु 'भविसयत्त कहा' से हमें ज्ञात होता है कि धनी व्यापारियों के पुत्र इस काल में भी पढ़ने के लिए गुरू के घर जाकर रहते थे।[103] मेधातिथि ने लिखा है कि वैश्य विद्यार्थी को जानना चाहिए कि किस मिट्टी में बीज पास – पास बोना चाहिये और किस मिट्टी में दूर–दूर बोना चाहिए। किस मिट्टी में कौन फसल अच्छी हो सकती है। ऊपर के वर्णन से ज्ञात होता है कि वैश्यों को बाजारों के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करनी पड़ती थी।[104] मेधातिथि के अनुसार वैदिक साहित्य के विद्यार्थी को विवाह के बाद भी इन शास्त्रों में अधिक निपुणता प्राप्त करने के लिए विदेश जाना चाहिए।[105] 'कुट्टनीमतम्' की एक उपमा से भी इस बात की पुष्टि होती है कि इस काल के विद्वान भली भांति जानते थे कि विश्व यात्रा से मनुष्य साधारण बातों का बहुत ज्ञान प्राप्त कर सकता है।[106]

ब्राह्मणेत्तर शिक्षा में बौद्ध शिक्षण का इतिहास वस्तुतः बौद्ध विहारों में बौद्धिक जीवन की प्रक्रिया का इतिहास है। भिक्षु की प्रशिक्षण पद्धति इसका प्रारंभिक रूप था। नई बौद्धिक आवश्यकताओं और रूचियों के अनुसार बौद्ध शिक्षण का क्षेत्र और उद्देश्य विस्तृत होता गया। प्रारम्भ में बौद्ध विहार धर्म–चिन्तन और मनन के क्षेत्र थे। परवर्ती काल में वे संस्कृति और ज्ञान के केन्द्र बन गयें।

कालान्तर में बौद्ध विहार केवल आध्यात्मिक प्रशिक्षण के केन्द्र न रहे, वे विद्या के केन्द्र बन गये। अन्य धर्मावलंबियों को बौद्ध बनाने के लिए यह आवश्यक था कि बौद्ध भिक्षु उनसे शास्त्रार्थ करके यह सिद्ध कर सकें कि दूसरों के सिद्धान्त गलत है और बौद्ध धर्मावलंबियों के सिद्धान्त सही है। इसीलिए बौद्ध शिक्षण पद्धति में तर्क और न्याय की शिक्षा पर विशेष बल दिया गया। उदाहरण के रूप में 'सप्तदश भूमि शास्त्र' नामक ग्रन्थ का उल्लेख कर सकते है जिसकी रचना संभवतः 400 ई0 के लगभग हुई। इस ग्रन्थ के पंद्रहवें खंड में मैत्रेय सात अध्यापकों में वाद–विवाद कला का विवेचन करता है।

भिक्षुओं को केवल बौद्ध धर्म ग्रन्थ ही नहीं पढ़ाये जाते थे, उन्हें अन्य धर्मों के सिद्धान्तों तथा दर्शनों की भी शिक्षा दी जाती थी। तभी वे सफलतापूर्वक अन्य धर्मावलंबियों के साथ वाद – विवाद कर सकते थे। बिहारों का निर्माण और उसे सफलतापूर्वक चलाने के लिए भिक्षुओं का कृषि विद्या और वास्तुकला जानना भी आवश्यक था। अतः भिक्षुओं को ऐसे व्यवहारिक महत्व के विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में जब धर्म – ग्रन्थों का लिखने का प्रचलन प्रारम्भ हुआ तो भिक्षु पुस्तकों की प्रतिलिपि करने, उनका संग्रह करने और सुरक्षा करने में लग गये। किन्तु इन विद्यापीठों में शिक्षा प्राप्ति के साथ – साथ प्रत्येक भिक्षु को उनके लिए निर्धारित अनुशासन के सभी नियमों का पालन करना पड़ता था। किन्तु इन विश्व

विद्यालयों में अब केवल भिक्षु ही शिक्षा प्राप्त नहीं करते थे। दो अन्य वर्गों के विद्यार्थी भी थे एक 'माणव' और दूसरे 'ब्रह्मचारी'।

बौद्ध विहारों में विद्यार्थियों के वर्गीकरण से उनके शैक्षणिक कार्यों पर प्रकाश पड़ता है। 'सद्धिविहारिक' वे भिक्षु थे जो बौद्ध ग्रन्थों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त करके अपनी आध्यात्मिक उन्नति करना चाहते थे 'माणव' वे बालक थे जो बौद्ध सिद्धान्तों का अध्ययन इसलिये करते थे कि भविष्य में भिक्षु धर्म की दीक्षा ले सके। 'ब्रह्मचारी' साधारणतया धर्मेत्तर ग्रंथ पढ़ते थे। वे उपासक रह कर ही जीवन बिताना चाहते थे।

ह्वेनसांग ने लिखा है कि भारतीय अध्यापक सदा अपने शिष्यों को ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रोत्साहित करते थे और उनकी बुद्धि तीक्ष्ण बनाते थे। चरित्र निर्माण पर तो सभी बौद्ध शिक्षाण संस्थाओं में बहुत अधिक बल दिया जाता था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि बौद्ध शिक्षा पद्धति के मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों का बौद्धिक विकास, उनमें अनुशासन की भावना जागृत करना, लोकतंत्रीय व्यवहार की शिक्षा देना और बौद्ध सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना था।

ह्वेनसांग के अनुसार पहले बालक 'द्वादशाध्यायी' नामक प्रारम्भिक पुस्तक पढ़ते थे। फिर सात वर्ष की आयु में उन्हें पांच विज्ञान अर्थात (1) व्याकरण (2) शिल्प और कला विज्ञान (3) आयुर्वेद (4) तर्कशास्त्र (5) आत्म विज्ञान पढ़ाये जाते थे। व्याकरण की शिक्षा इस समय तीन पुस्तकों के द्वारा दी जाती थी। इनमें एक पुस्तक में 8000, दूसरी में 25000 और तीसरी में 1000 श्लोक थे। इन तीनों के अतिरिक्त तीन अन्य पुस्तकें 'मंडक' 'उणादि' और 'अष्टधातु' थी।[107]

इत्सिंग के अनुसार बालकों को सबसे पहले 'सिद्धरस्तु' नामक पुस्तक पढ़ाई जाती थी। आठवें वर्ष में उन्हें पाणिनि के सूत्र और धातुपाठ पढ़ाए जाते थे। दसवें वर्ष में वे अष्टधातु, मंडक और उणादि पढ़ना प्रारम्भ करते थे। ये तीन वर्ष में समाप्त करते थे। पन्द्रहवे वर्ष में वे 'काशिका वृत्ति' पढ़ना प्रारम्भ करते थे जो पांच वर्ष में समाप्त

करते थे। व्याकरण का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके वे हेतु विद्या (तर्कशास्त्र) और अभिधर्म कोष पढ़ते थे। कुछ भिक्षु 'विनय ग्रन्थ', सूत्र और शास्त्र पढ़ते थे।[108]

ह्वेनसांग के अनुसार नालंदा में बौद्ध धर्म के अठारह संप्रदायों के सिद्धान्तों के अतिरिक्त वेदों, हेतु–विद्या, (तर्कशास्त्र), शब्द–विद्या (व्याकरण), चिकित्साविद्या (आयुर्वेद), अथर्वविद्या और सांख्य दर्शन आदि की शिक्षा दी जाती थी।[109]

इत्सिंग ने लिखा है कि इस काल में अधिकतर पाठ्य पुस्तकें सूत्र–शैली में या पद्य में थी, जिससे कि विद्यार्थी उन्हें सरलता से कंठस्थ कर सके। उसके अनुसार पहले सद्धिविहारिकों को 'मातृ–चेट' के दो सूक्त पढ़ाएं जाते थे फिर पांच और दस शीलों के सिद्धान्त समझाए जाते थे। इसके बाद उन्हें 'विनय पिटक' का पूर्ण ज्ञान कराया जाता था। प्रायः सभी भिक्षुओं के लिए 'सुत्त–पिटक' और 'अभिधम्म पिटक' का भी अध्ययन करना अनिवार्य था।[110]

संदर्भ -

1. विष्णु पु. 6.5.61, आगमोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते।
   वही, 1.19.41 सा विद्या या विमुक्तये। विद्यान्या शिल्पनैपुण्यम्।
2. छान्दो, उप., 1.1.10......... उभौ कुरूतौ यश्चैतदेवं वेदयश्च न वेद।
   नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवतंर भवति।।
3. ऋग्वेद, 1.164.66; 2.2.2.6; अथर्ववेद, 11.5.26; तै.सं., 6.3.10.5; श.ब्रा., 11.5.7. 1–5
4. बृ. उप., 1.5.16, अथत्रयोवाव लोकाः– मनुष्य लोकः पितृलो को देवलोको इति।
   सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव ज्ययो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृ लोको विद्या देवलोकः।

देवलोको वै लोकानाम् श्रेष्ठः।

तस्माद् विद्यां प्रशसन्ति।

5. विष्णु पु. 6.5.62 अन्धं तम इवाज्ञानम्।

6. छान्दो, उप., 1.1.10

तेनोभौ कुरूतौ यश्चैतदेव वेद यश्च न वेदं।

नाना तुविधा चाविद्या च यदेव विद्यया करोति

श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति

खल्वेतएयैवाक्षरस्योप व्याख्यानं भवति।

7. सुभाषितरत्न संग्रह पृ. 194,

ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्त तत्वार्थविलोकि दक्षम्।

तेजोअनपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्ति मत्सर्वजगत्त्रयेपि।।

8. ऋग्वेद, 10.71.7,

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सरवायो मनोजषेषु असमाबभूवुः।

9. डॉ0 एस0के0 पाल एवं के0एल0 अग्रवालः शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त, पृष्ठ 7,

10. वही।

11. वही।

12. राहुल सांकृत्यायन : ऋग्वैदिक आर्य, पृष्ठ 147

13. विद्याया विन्दतेमृतम् – केनोपनिषद्–2, 4

14. डॉ0 गीता देवीः उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था।

15. वायुपुराण– 16,21

16. ए0ए0 मैकडोनेल और ए0वी0 कीथः वैदिक इन्डेक्स। हिन्दी संस्करण, पृष्ठ 3551

17. चारों वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा, तर्कशिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरूक्त। भाषा – विज्ञान। मनु 2

18. चौदह विद्याओं के साथ – साथ धनुर्वेद, आयुर्वेद, गन्धर्ववेद और अर्थशास्त्र को मिलाकर ''अष्टादस'' विद्याया माना गया है। य़ाज्ञवल्क्य स्मृति 1, 3 विष्णुपुराण 3,6,27–8, ब्रह्मपूराण 2,35,88–9, 3,15,29
19. नीतिवाक्यामृतम्, पृष्ठ 21
20. तैत्तरीय उपनिषद्: 1,9,1,11
21. एस0के0 दासः एजूकेशन सिस्टम ऑफ द ऐशियेण्ट हिन्दूज, पृष्ठ 18
22. तैत्तरीय उपनिषद्, 1/2
23. स्वर वर्णाद्युच्चारण प्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिशयते सा शिक्षा सायण ऋग्वेद भाष्य भूमिका, पृष्ठ 49
24. द्वै विद्यै इत्यादि। (परा च परमात्मविद्या)। अपरा च धर्माधर्म–साधन तत्फल विषया। अपराहि विद्या अविद्या स निरा कर्तव्या। तद्विषये हि विदते नका चत् तत्व तौ विदितं स्यात् ।(शंकर भाष्य)।
25. डॉ0 ए0एस0 अल्तेकरः प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, परिशिष्ट, पृष्ठ 229, डा0 आर0के0 मुखर्जी. हिन्दू सभ्यता, पृ0 130
26. आत्मानन्द स्वामीः शंकरस् टीचिग्स इन हिज ओन वईस, पृष्ठ 143
27. श्रीश्री 108 स्वामी, उपनिषद वाणी, पृष्ठ 16
28. डॉ0 गीता देवीः उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था
29. यावज्जीव मधीते विप्रः।
30. अक्षरावनतः कर्णनो सखायो भवन्तः जवेषु असमायमृकः। ऋग्वेद, 10/7/17
31. विद्ययामृतमश्नुते, यजुर्वेद, 40/14
32. सा विद्या या विमुक्तये।
33. दूरमेते विपरीते विषुची अविद्या या व विद्येति ज्ञाता।

    विद्यामीप्सितं नचिकेतस मन्ये न स्व कामा बहवोलोलपन्त।

    – कठोपनिषद् 2/4

34. नास्ति विद्या समं चक्षुर्नास्ति सत्य समं तपः महाभारत, 12/339/6

35. ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं समस्ततत्वार्थलोकिदक्षम्।

तेजात्रपेक्षं विगतान्तरायं प्रवृत्तिमत्सर्वजगत्त्रयेपि।।

सुभाषितरत्नसन्दोह, पृ. 194

36. डॉ0 जयशंकर मिश्रः प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 500

37. कथासरित्सागर 1/7/48

38. वही, 1/3/44

39. वहीं, 7/6/13–14

40. विद्याविहीनः पशुः भर्तृहरि, नीतिशतक, 16,

41. कथासरित्सागरः 7/6/20–24

42. तकाकुसु प्रकाशनः बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेज इन इण्डिया, पृ0 116

43. राजतरंगिणी 4.530, स्टेन, 1, पृ0 170–171

44. विष्णु पुराण, 6.5.62– अद्यतम इवाज्ञानम्।

45. दिव्यभु ही चक्षुर्भूत भवद् भाविष्यत्सु व्यवहितः।

प्रकृष्टादिषु च विषयेषु शास्त्र नामाप्रतिहतवृत्तिः।।

दशकुमार चरित आठवां उच्छ्वास।

46. न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा। सु0भा0, 40,21

47. डॉ0 गीता देबी पूर्वोक्त, पृ0 5

48. ओसिया, सोसल डेवलपमेन्ट एण्ड एजुकेशन पृ. 248

49. भोज प्रबन्ध पृ0, 329

50. पेस्टालॉजीः हाऊ गर्ट टीच्स हर चिल्ड्रेन, पृ0 156–157

51. भोज प्रबन्ध, श्लोक 224

52. उक्ति व्यक्ति प्रकरण, पृ0 77

53. डॉ0 गीता देवी : पूर्वोक्त, पृ0 16

54. भोज प्रबन्ध, पृ0 77

55. विद्या विवादाय धनं मद्राय, प्रज्ञाप्रकर्षपरवंचनाय। विचार 3

56. वहीं, श्लोक 28.

57. आर0के0 मुखर्जीः एण्शियण्ट इण्डियन एजूकेशन, पृ0 11

58. मनु पर कुल्लूक : 2.69, 5.136

59. नीतिवाक्यामृतम् पृ0 22, श्लोक 57

60. व्यासस्मृति, 1/36

61. नारदस्मृति, 1/79

62. एस0के0 अग्रवालः शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त, पृ0 49

63. नीतिवाक्यामृतम्, पृ0 23, श्लोक 70

64. वहीं, पृ0 64, श्लोक 5

65. मनु पर कुल्लूक 2.18

66. रस्कः डॉक्ट्रिन्स ऑफ ग्रेट एजूकेटर्स, पृ0 210

67. 'इन्द्रिय – निग्रह' एवं ब्रह्मचारिनियमाः नामक अध्याय. 14, 15

68. एस0के0 अग्रवालः थियरी ऑफ एजूकेशन, पृ0 59

69. कुल्लूक, 2,69ः 5.136

70. अल्तेकरः पूर्वोक्त पृ0 10

71. हर्ष चरितः पृ0 130

72. सभी लिपिया, भाषाए, वेदं, वेदांग, का व्य, नाट्यकला, धर्मशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष, तर्वशास्त्र, मीमांसा, राजनीति, संगीत, छन्द, रसशास्त्र, युद्ध विद्या, दयुत, चौर्यविद्या आदि। दस कुमार चरित, पृ0 21–22.

73. अलबेरूनीज इण्डिया, भाग 1, पृ0 159

74. अल्तेकर : पूर्वोक्त, पृ0 13–14

75. एस0के0 अग्रवालः शिक्षा के तास्विक सिद्धान्त, पृ0 47

76. अलबेरूनीज इण्डिया पृ0 126–127

77. मेधातिथि, मनु0 3,1, याज्ञवल्क्य 1, 57 अपरार्क, पृ0 74–75

78. कृत्यकल्पतरू, गृहस्थ काण्ड, पृष्ठ 252

79. नीलकण्ठ शास्त्रीः चोलवंश, पृ0 486

80. चोपरा, पुरी एवं दासः ए सोशल कल्चरल एण्ड इकानामिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ0 151–152.

81. एस0के0 अग्रवाल : शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त, पृ0 45

82. डॉ0 वाचस्पति द्विवेदी : कथा सरित्सागर एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ. 1–17

83. कृत्यकल्पतरू, ब्रह्म0 पृ0 22 पर उद्धृत विष्णुपुराण, अग्निपुराण 1–17

84. राजतरंगिणी, 8/30, 18, 1071, 1345

85. एपिग्राफिया इण्डिका, 4–158

86. डॉ0 वाचस्पति दि्वेदी : कथासरित्सागरः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ0 180

87. एस0के0 अग्रवाल पूर्वोक्त, पृ0 42–44

88. दशकुमार चरितः पूर्वपीठिका, पृ0 47

89. अल्तेकरः पूर्वोक्त, पृ0 122

90. तकसुकुः ए रेकार्ड आफ दि बुद्विस्ट रेलिजन वाई इत्सिंग, पृ0 183, अल्तेकर, पूर्वोक्त, पृ0 122

91. ऋग्वेद 10, 717

92. तैत्तिरीय उपनिषद् 1,11

93. स्वाध्याय प्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम् तैत्तिरीय उपनिषद् 1,11

94. धर्म हियो वर्धयते स पण्डितः 1 महाभारत 12, 321, 78

95. शम शास्त्री अनुवाद अर्थशास्त्र, पृष्ठ 11

96. दिव्यावदान, 26, 99—100

97. रघुवंश, 5,21, तंत्रवार्त्तिक, 1,3,6 एपिग्राफिया इंडिका 8, 287

98. वायु पुराण, 1, 61—70

99. कामसूत्र, 1,3,16

100. इत्सिंग रेकर्ड, पृ0 170 आदि

101. गरूड़ पुराण, 223, 20

102. मानसोल्लास, 3, 1238—1304

103. भविसयत्त कहा, 2, 1—3

104. मेधातिथि टीका मनु, 9, 329—31

105. वही, 9, 76

106. कुट्टनीमतम् 212

107. वाटर्स— 1 154, बील 122

108. इत्सिंग —रेकर्ड पृष्ठ 170

109. बील 112

110. इत्सिंग — रेकर्ड, पृ0 184

* * * * *

द्वितीय अध्याय

प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रबन्धन एवं संरक्षण

प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रबन्धन एवं संरक्षण

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता हैं कि प्राचीन भारत में आधुनिकयुग की तरह शैक्षिक प्रबन्धन के लिये कोई पृथक विभाग नहीं था। बल्कि समाज के कल्याणर्थ नैतिक एवं धार्मिक भावना से प्रेरित होकर तत्कालीन राजसत्ता, सम्पन्न वर्ग और सामान्य जन अपनी क्षमता के अनुरूप स्वैच्छिक आर्थिक सहयोग देते थे। प्राचीन भारतीय इतिहास में ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं प्राप्त होता जिससे यह कहा जा सके कि शिक्षा के प्रबन्ध को अर्थ ने प्रभावित किया हो या अर्थ के फलस्परूप शिक्षा की संस्थाएं अथवा केन्द्र का प्रबन्धन प्रभावित हुआ हो। राजसत्ता या समाज द्वारा आर्थिक सहायता के फलस्वरूप भी शिक्षण संस्थाओं के प्रबन्धन पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं था। प्रबन्धन एवं व्यवस्था के क्षेत्र में संघ अपने आप में स्वतन्त्र थे।

वैदिक काल में शिक्षा का प्रबन्धन एवं संरक्षण

प्रारम्भ में सम्भवतः पिता ही अपनी संतान को शिक्षा देता था। बाद में वैदिक ग्रन्थों के विद्धान गुरु भी शिक्षा देने लगे। बालक और बालिकाओं दोनों को शिक्षा दी जाती थी। यह इससे स्पष्ट है कि अनेक वैदिक सूक्त विश्ववारा, सिकता, निवावरी घोषा, लोपामुद्रा और अपाला आदि विदुषी स्त्रियों की रचनाएं है। अनेक स्त्रियां यज्ञों में मंत्रों का उच्चारण करती थी। इससे स्पष्ट है कि माता–पिता उनकी शिक्षा का उचित प्रबन्ध करते थे।

उत्तर वैदिक काल में शिक्षा का प्रबन्ध राज्य नहीं करता था। ब्राह्मण विद्वान अपने घरों पर ही उच्च तीन वर्णों के विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। इसके बदले में विद्यार्थी इन गुरुओं की सेवा करते थे और विद्या समाप्ति पर गुरु दक्षिणा देते थे। ये शिष्य अपने गुरुओं की पारिवारिक कार्यों में भी सहायता करते थे। विद्यार्थी गुरु के घर की सफाई करता, अग्निहोत्र के लिये समिधा इकट्ठी करके लाता और गुरु की गायों

की सेवा करता। इस समय अनेक संहिताओं और ब्राह्मणों की शाखाओं के विद्वान अपने घर अपनी–अपनी शाखा का ज्ञान अपने शिष्यों को देते थे। इन ब्राह्मणों का उनकी सच्चरित्रता और विद्वता के कारण समाज में बहुत आदर था।

उपनिषदों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है जहां धर्म ज्ञान के पंडित ब्राह्मण भी जनक जैसे क्षत्रिय राजाओं से दार्शनिक ज्ञान की शिक्षा ग्रहण करते थे। लगभग 700 ई0 पू0 तक कन्याओं का उपनयन संस्कार होता था। उपनयन संस्कार के बाद वे घर पर ही वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करती थी। सुलभा, वडवा, प्राथितेयी, मैत्रेयी और गार्गी ने विद्या प्रसार में बहुत योगदान दिया। गृहस्थ भी इन विदुषियों के प्रति नित्य कृतज्ञता प्रकट करते थे।[1] इस समय स्त्री अध्यापिकाएं भी विद्यमान थी जो 'उपाध्याया' कहलाती थी। वे अधिकतर कन्याओं को शिक्षा देती थी। उत्तरवैदिक काल में दो प्रकार की छात्राएं थी : एक वे जिनका शिक्षा समाप्ति के बाद तुरन्त विवाह हो जाता था (सद्योद्वाहा), दूसरी वे जो सारा जीवन ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में लगाती थी (ब्रह्मवादिनी)।

साधारणतया विद्यार्थी बारह वर्ष में अपना विद्याध्ययन समाप्त करता था। परन्तु विद्या समाप्ति के बाद भी गुरु शिष्यों से यह आशा करता था कि वे जीवन–भर वैदिक स्वाध्याय करते रहेंगे। अनेक विद्वान ज्ञान प्राप्ति के लिये देश में घूमते रहते थे। कुरु–पांचाल देश में ऐसे एक विद्वान उद्दालक आरुणि थे। ऐसे विद्वानों को 'चरक' करते थे। विद्वानों की कुछ सभाएं थी जिनमें राजा और विद्वान आध्यात्मिक विषयों पर वाद–विवाद करते थे। पांचाल देश की ऐसी परिषद पांचाल–परिषद कहलाती थी। राजा विद्वानों के सम्मेलनों का भी आयोजन करते थे। विदेह के राजा जनक ने ऐसे एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें उसने गुरु और पांचाल जनपदों के सभी विद्वानों को बुलाया। इस सम्मेलन में याज्ञवल्क्य को इस काल का सर्वश्रेष्ठ विद्वान घोषित किया गया। जनक ने उनकी विद्वत्ता का आदर करने के लिये उन्हें एक हजार गाय और पांच

हजार सोने के सिक्के दान में दिये। निश्चय ही याज्ञवल्क्य के शिष्य इन गायों की सेवा करते होंगे और उन्हें इस प्रकार गोपालन की पर्याप्त शिक्षा मिल जाती होगी।

सूत्रकाल में शिक्षा का प्रबन्धन एवं संरक्षण

सूत्रकालीन शिक्षा प्रबन्धन में पूर्ण उत्तरदायित्व गुरु का होता था। शिक्षा प्रणाली में राज्य कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। गुरु विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य आश्रम में दीक्षित करता था। वहीं उसके नैतिक, मानसिक और शारीरिक विकास का पूरा ध्यान रखता था। गुरु विद्यार्थियों के रहने और खाने का प्रबन्ध अपने घर में ही करता था जिसे गुरुकुल कहते थे। शिष्य उसके घर के प्रत्येक कार्य में उसकी सहायता करते थे वे कोई शुल्क उसे नहीं देते थे। विद्या समाप्ति पर शिष्य स्वेच्छा से कुछ धन गुरु दक्षिणा के रूप मे गुरु को देते थे। सभी शिष्य गुरु का बहुत आदर करते थे। गुरु भी विद्यार्थियों के स्वास्थ्य और शिक्षा का पूरा ध्यान रखते थे।

मनु के अनुसार विद्यार्थी को अपने गुरु को जब तक शिक्षा समाप्त न हो, कोई धन नहीं देना चाहिये।[2] उसने जो अध्यापक शुल्क लेकर पढ़ाते हैं उन्हें उपपातकी (छोटा पाप करने वाला) कहा है। उशनस ने ऐसे अध्यापक को वृत्तिक कह कर उसकी निंदा की है।[3]

केवल योग्य और शिक्षा के उत्सुक विद्यार्थियों को ही शिक्षा दी जाती थी। जो विद्यार्थी गुरु के अनुशासन में नहीं रहते थे या पढ़ाई पर ध्यान नहीं देते थे उन्हें गुरु अपने घर से निकाल देता था। उन्हें पतंजलि ने 'खट्वारुढ़' अर्थात खाट में पड़े रहने वाला कहा है।[4] जो विद्यार्थी बार–बार अध्यापक बदलते थे उन्हें पतंजलि ने 'तीर्थकाक' कहा है। पतंजलि ने निंदनीय विद्यार्थियों के लिये कुछ अन्य विशेषण दिये हैं जैसे कि कन्याओं के कारण दाक्ष के शिष्य बनने वाले 'कुमारीदाक्ष', भिक्षा का माल हड़पने की इच्छा से बने शिष्य 'भिक्षा माणव' भात खाने की इच्छा से बने पाणिनि के शिष्य 'ओदन पाणिनीया', घी के लिये बने शिष्य 'घृत राढ़ीया':, और कंबल लेने की इच्छा से बने

शिष्य 'कंबल चारयणीयाः'।[5] किसी ऐसे प्रसिद्ध अध्यापक के लिये जिसके पास सैकड़ों मील से विद्यार्थी पढ़ने आते थे पंतजलि ने 'यौजन शातिक' पद प्रयुक्त किया है।[6] जो अध्यापक जीवन निर्वाह के लिये वेद वेदांग पढ़ाते थे 'उपाध्याय' कहलाते थे।[7] जो बिना शुल्क लिये वेद, कल्पसूत्र और उपनिषद् पढ़ाते थे आचार्य कहलाते थे[8] शिष्य आचार्य को शिक्षा समाप्ति पर गुरु दक्षिणा के रूप में भूमि, सुवर्ण, गाय, घोड़ी, छत्री, जूते, अनाज, शाक या वस्त्र देते थे।[9] शुल्क लेने वाले अध्यापक और शुल्क देने वाले शिष्य का समाज में आदर नहीं था। उसे श्राद्ध भोजन का निमन्त्रण भी नहीं दिया जाता था।[10] प्रत्येक आचार्य के पास दस से पन्द्रह तक विद्यार्थी, शिक्षा प्राप्त करते थे। प्रखर बुद्धि वाले विद्यार्थी भी अध्यापन कार्य में आचार्य की सहायता करते थे।

बौद्ध शिक्षा का प्रबन्धन एवं संरक्षण

विवेच्ययुगीन साक्ष्यों[11] में अनेक मठों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है जो शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र थे, और राज्य अथवा धनिक वर्ग द्वारा संरक्षण प्राप्त थे। अभय तिलकमणि ने लिखा है – विद्यामठ वह संस्था था जहां धनी लोग अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिये भोजन, वस्त्र तथा अन्य वस्तुऐं देकर पुण्य का अर्जन करते हैं।[12] ग्राम सभाओं एवं निगम और व्यापारियों के संघ द्वारा विद्यालय खोलकर उसके लिये धन की व्यवस्था करने के प्रमाण भी प्राप्त हुयें हैं।[13] बेलूर की गाँव सभा ने स्थानीय पाठशाला के आंशिक खर्च के लिये भूमि दी थी।[14] धारवाड़ जिले में डम्बल की एक निगम सभा द्वारा 12वीं शताब्दी में एक संस्कृत विद्यालय चलायें जाने की जानकारी प्राप्त होती है।[15]

सम्पन्न वर्ग दुर्लभ पुस्तकों की प्रतिलिपि कराकर विद्यालयों या पाठशालाओं को भेंट किया करते थे। गड़ी हुई सम्पति विद्या प्रसार में खर्च की जाती थी।[16] छात्रों को अध्ययन के लिये छात्रवृत्तियां भी प्रदान की जाती थी[17]

अल्तेकर ने लिखा हैं कि[18] बौद्ध विश्वविद्यालयों, मन्दिरों और मठों के अन्तर्गत चलने वाली पाठशालाओं तथा अग्रहार विद्यालयों में विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। पर्याप्त अनुदान प्राप्त हो जाने पर इन पाठशालाओं में विद्यालयों के आवास, भोजन, वस्त्र, चिकित्सा आदि की व्यवस्था भी निः शुल्क कर दी जाती थी।।

ब्राह्मण शिक्षा–पद्धति में विद्यार्थी गुरु के परिवार में जाकर रहता था और विद्यार्थियों की संख्या दस या पन्द्रह से अधिक नहीं होती थी। ब्राह्मण शिक्षा पद्धति में केवल तीन उच्च जातियों के बालकों को वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करने की अनुमति थी। शूद्रो को इसका अधिकार न था किन्तु बौद्ध शिक्षा पद्धति में इस प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न था। सभी जातियों के बालक पूरी शिक्षा प्राप्त कर सकते थे किन्तु बौद्ध शिक्षा–व्यवस्था में विहारों में शिक्षा दी जाती थी, जिनमें भिक्षुओं की संख्या पर्याप्त होती थी। इन बौद्ध भिक्षुओं को सामूहिक शिक्षा दी जाती थी। भिक्षु स्वयं कृषि करके अन्न उपजाते और विहार के अन्दर ही पशुओं को पालकर दूध, दही, घी, मक्खन आदि प्राप्त करते थे। इन्हें एक ही प्रकार की शिक्षा दी जाती और वे एक ही प्रकार के अनुशासन में रहते थे। इस प्रकार उन्हें भाई–चारे और लोकतन्त्र की शिक्षा भी मिल जाती थी। किन्तु प्रत्येक भिक्षु को स्वाध्याय और मनन के लिये भी पर्याप्त समय मिलता था। वह अपनी कोठरी में स्वाध्याय और मनन करता था और अपने वर्ग के उपाध्याय के निर्देशन में अपनी सब शंकाओं का समाधान कर लेता था।

ह्वेनसांग के अनुसार साधारणतया विद्यार्थी तीस वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करते थे। इस काल में भी कुछ विद्वान घूम–2 कर शिक्षा देते थे।[19]

सामूहिक शिक्षा का प्रबन्धन पांचवी शदी ईसवी के लगभग बौद्धों ने किया। बौद्ध विहारों में नवदीक्षित शिष्यों को सद्धिविहारिक कहा जाता था। उन्हें साधारणतया दस वर्षो तक शिक्षा दी जाती थी वे बौद्ध धर्म–ग्रन्थो का अध्ययन करते और आध्यात्मिक उन्नति के लिये कुछ योगाभ्यास आदि करते थे। पांचवी शदी से पूर्व बौद्ध विहारों में

केवल भिक्षुओं को शिक्षा दी जाती थी किन्तु इस शताब्दी के अन्त में उपासकों को भी शिक्षा दी जाने लगी। बौद्ध विहारों में से लगभग दस प्रतिशत विहारों में उच्च शिक्षा दी जाती थी।

इन विहारों के प्रबन्धन का कार्य अध्यक्ष करता था, अध्यक्ष मुख्य भिक्षु होता था, जिनका चुनाव संघ के सभी सदस्य करते थे। अध्यक्ष के निर्वाचन के समय व्यक्ति के चरित्र, उसकी अवस्था और उसकी विद्वता का ध्यान रखा जाता था। इन विहारों में दो परिषद् होती थी। एक शैक्षिक विषयों पर विचार करने के लिये और दूसरी प्रबन्ध की देखभाल करने के लिये। शैक्षिक परिषद् ही पाठ्यक्रम निर्धारित करती थी।

इत्सिंग (लगभग 675 ई0) ने लिखा है कि बलभी में अध्यापक दो या तीन वर्ष तक विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे और उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी नीची कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाते थे।

बौद्ध शिक्षा का प्रबन्धन काफी उच्च स्तर का था, जिसकी वजह से ही चीन और तिब्बत आदि देशों के विद्यार्थी भी इनसे शिक्षा प्राप्त करने आते थे। नालन्दा और विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालयों के अनेक विद्वान भारतीय संस्कृति का प्रचार करने के लिये तिब्बत, चीन और मध्य एशिया गए। इन संस्थाओं में कुछ विषयों, जैसे कि व्याकरण, छन्द, तर्कशास्त्र या गणित के अध्ययन पर बहुत बल दिया जाता था। बौद्ध बिहारों में बौद्ध धर्म के 18 सम्प्रदाओं को भी शिक्षा दी जाती थी।

बौद्ध जातिप्रथा के विरुद्ध थे अतः उनकी शिक्षण संस्थाओं में सभी जातियों के विद्यार्थी प्रविष्ट होते थे। केवल चंडाल जैसी हीन जातियों के बालको को उनमें प्रविष्ट नहीं किया जाता था। इसलिए जाति–प्रथा का बौद्ध शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा के प्रसार पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

७०० ई० से १२०० ई० में शिक्षा का प्रबन्धन एवं संरक्षण

स्मृति ग्रन्थों में शिक्षा को प्रोत्साहन देना राजा का आवश्यक कर्तब्य बताया गया है।[20] प्राचीन भारत में राजागण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शिक्षा को प्रोत्साहन देने के

लिये शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता प्रदान करना अपना आदर्श कृत्य समझते थे। दान दिये गये गाँवों की चल तथा अचल सम्पत्ति को मिलाकर इन शिक्षा केन्द्रों के प्रबन्धन का कार्य होता था। जिससे अधिकांश छात्रों के लिये निःशुल्क शैक्षणिक सुविधाओं तथा आवासों का प्रबन्धन सम्भव होता था। 700 ई0 से 1200 ई0 के काल में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिसमें राजाओं द्वारा भूमिदान और वृत्तिदान का उल्लेख हुआ है।[21] कालान्तर में वही गाँव शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र हो जाते थे।

कल्हण के अनुसार काश्मीर के राजा जयसिह ने विद्या केन्द्र के रूप में इतनी ऊँची इमारत का निर्माण कराया था। जिसे देखने के लिए सात ऋषियों का आगमन हुआ था।[22] अपने किसी दिवंगत सम्बन्धी की स्मृति में[23] या केवल दान के रूप में शिक्षण संस्था के लिये भवन भी बनाये जाने के वर्णन मिलते है।[24] पाठशाला को चलाने के लिये भूमिदान के अनेक विवरण प्राप्त होते है। सांलोत्गी के एक व्यापारी ने एक विद्यालय की स्थापना के लिये 200 निवर्तन भूमि दी थी। इस सम्बन्ध में सौरतूर और धारवाड़ के इस प्रकार के दान भी उल्लेखनीय है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विवेच्ययुग में राजसत्ता एवं धनिक वर्ग द्वारा शैक्षणिक संस्थाओं को आर्थिक संरक्षण प्राप्त था।

भारतीय समाज शिक्षा प्रसार के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। इसी के तहत प्रत्येक गृहस्थ का यह नैतिक कर्तव्य माना जाता था कि यदि कोई ब्रह्मचारी द्वार पर भिक्षा लेने आये तो उसे भिक्षा अवश्य दी जाये, भिक्षा न देने वाला पाप का भागी होता था।[25] इस प्रकार शिक्षा प्रसार के लिये सामान्य गृहस्थ भी सहयोग करता था। यही कारण था कि गरीब से गरीब विद्यार्थी भी शिक्षा के लाभ से लाभान्वित होता था। जातकों से ज्ञात होता है कि निर्धन छात्र जो गुरुदक्षिणा नहीं दे सकते थे, वे गुरु की गृहस्थी में काम करते थे तथा समावर्तन के बाद भिक्षा मांगकर गुरु दक्षिणा चुकाते थे।[26] रघुवंश से ज्ञात होता हैं कि 'राजसत्ता और सम्पन्न वर्ग द्वारा भी स्नातकों को गुरू दक्षिणा चुकाने के लिये यथेष्ट धन दिया जाता था। शिष्य कौत्सकी को राजा रघु

ने चौदह हजार स्वर्ण मुद्राएं प्रदान की थी[27] विद्यार्थियों के अध्ययन के लिये छात्र–वृत्तियां भी प्रदान की जाती थी।[28] अप्रत्यक्ष साधनों के अन्तर्गत अध्ययन समाप्ति के बाद राजसत्ता से विद्यार्थी को छात्रवृत्तियाँ प्राप्त होती थी।[29]

समाज के सम्पन्न व्यक्ति भी शिक्षा प्रबन्धन के सहायक तत्व थे। वे अपने बालकों के शिक्षण के लिये स्वतन्त्र रूप से अध्यापकों की नियुक्ति करते थे। कभी–2 स्थानीय पाठशालाओं का व्यय भी ऐसे लोग स्वयं वहन करते थे। भास्कराचार्य के पौत्र चांगदेव के द्वारा पाटण में इस प्रकार के विद्यालय खोलने का वर्णन मिलता है।[30] इसी सम्बन्ध में होयसल के मन्त्री पेरुमल द्वारा कर्नाटक के मुसंगी नामक स्थान में 1290 ई0 में वेद, शास्त्र, कन्नड़, मराठी आदि की शिक्षा के लिये शिक्षालय की स्थापना उल्लेखनीय है।[31] इस काल में धनाड्य व्यक्तियों द्वारा छात्रों के लिये निःशुल्क भोजनालय की व्यवस्था थी। कर्नाटक, कोंकड़ और पाटण में अनेक अन्न भण्डागार थे। जिसकी पुष्टि तत्कालीन साहित्यिक एवं अभिलेखिक साक्ष्यों से होती है।

प्राचीन भारत में ज्ञानविदों को राजाओं द्वारा सहायता दिये जाने के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं।[32] आरण्य में निवास करने वाले तपस्वियों को यथा काल समादर पूर्वक आश्रम में ही भोजन और पात्रों की व्यवस्था करना राजा[33] का कर्तव्य था। राजागण आचार्यों की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहते थे। मनु ने राजा के द्वारा निरन्तर संस्थान को कुछ दिये जाने अर्थात उनका सत्कार[34] करने तथा वेदगायन में निपुण और धार्मिक यज्ञ करने वाले ब्राह्मण को अनेक प्रकार के रत्न और उपहार आदि दिये जाने के विधान का उल्लेख किया है।

प्राचीन काल में धार्मिक उत्सवों में विद्यार्थियों, अध्यापकों को आमंत्रित किया जाता था और विविध उत्सवों पर विशिष्ट दान दिये जाते थे। शुभ अवसरों पर राजा द्वारा वेदविद् विद्वान ब्राह्मणों को भूमिदान से विभूषित किया जाता था। 10वीं–11वीं शताब्दी के शिलाहार अपरादित्य प्रथम और उसके पुत्र विक्रमादित्य के ताम्रपत्र अभिलेख

में चन्द्रग्रहण के अवसर पर विद्वान रुद्र महोपाध्याय को गांव दान में दिये जाने का उल्लेख है। पश्चिमी चालुक्य राजा आहवमल्ल 'तैल द्वितीय' के शासन काल के प्रथम वर्ष धार्मिक समारोह के अवसर पर उसने अपनी ग्राम्य भू–सम्पत्ति को 20 विद्वान ब्राहमणों को अग्रहार बनाने के लिये प्रदान किया।[35] 1198 ई0 के कल्चुरी शासक विजय सिंह के अभिलेख में राजा द्वारा महाकुमार त्रैलोक्यवर्मन के जातकर्म संस्कार के अवसर पर विद्याधर शर्मा नामक विद्वान ब्राह्मण को ग्राम दान दिये जाने का उल्लेख है[36] भीम–द्वादशी के दिन उपाध्याय को अंगूठी कटक, सुवर्ण सूत्र, सुबस्त्रादि दान में मिलते थे[37]। विष्णु पुराण में प्रहलाद के शिक्षक को राजपुरोहित भी बताया गया है।[38]। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ज्ञानविदों को आचार्यत्व की दक्षिणा के साथ–साथ पौरोहित्य का दान भी प्राप्त हो जाता था। इन सब के सहयोगों से ही शिक्षा का प्रबन्धन और संरक्षण उचित ढ़ंग से होता था।

ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में राजागण राज्याभिषेक जैसे शुभ अवसरों पर विद्वान आचार्यों को राजदरबार में आमन्त्रित कर उन्हें भूमिदान करते थे और शिक्षा के प्रबन्धन और संरक्षण के लिये पैसा बांध देते थे, इस सन्दर्भ में अनेक राजाओं के नाम उल्लेखनीय हैं[39] कन्नौज का राजा यशोवर्मन का आश्रय भवभूति तथा वाक्पत्ति को प्राप्त था। राजशेखर राजा महेन्द्रपाल और महीपाल के आश्रय में रहते थे। कश्मीर के शासक अवन्तिवर्मा के दरबार में आनन्दवर्धन को राजाश्रय प्राप्त था।[40] राजा भोज, मुंज और सिन्धुराज के सम्बन्ध में अनेक कथाएं प्रचलित हैं। राजा भोज स्वयं एक उत्कृष्ट कोटि का विद्वान और लेखक था। चालुक्य राजा विक्रमादित्य षष्ठ ने कश्मीर के कवि विल्हण को अपने दरबार में आमन्त्रित किया था। मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर इन्हीं के दरबारी कवि थे। इस काल के पूर्ववर्ती विद्वान लेखक नृपति हर्ष के दरबर में बाणभट्ट जैसे उद्भट्ट विद्वान को राजाश्रय प्राप्त था।

इस समय ज्ञानविदो को भूमिदान एवं ग्राम दान देने के कारण ही शिक्षा का प्रबन्धन वे उचित ढ़ंग से कर पाते थे, और ये प्रथा समस्त भारत में प्रचलित थी।[41] राजसत्ता द्वारा वेदविद् ब्राह्मणों, आचार्यों और विद्वानों को राजाश्रय प्राप्त करने और भूमिखण्ड एवं गाँवों को दान देने का परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण भारत में एक परिस्कृत सांस्कृतिक विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ और सामाजिक एकता की प्रक्रिया को आधार प्राप्त हुआ। तत्कालीन शिक्षाविद् संस्कृति के पोषक एवं संरक्षक थे। समाज के विविध कार्यों के संचालन एवं सम्पादन, समाज को शैक्षिक ज्ञान प्रदान करना, उनके प्रधान कार्य थे। राजाश्रय प्राप्त इन्हीं विद्वानों के द्वारा शिक्षा और संस्कृति का चतुर्दिक प्रसार हुआ और तत्कालीन समाज को एक नया पथ प्रदर्शक प्राप्त हुआ। इस सन्दर्भ में अनेक राजवंशों के उद्धरण प्राप्त होते हैं।

राजपूत शासक[42] वर्ग वेदविद् एवं संस्कृति पोषक विद्वान आचार्यों को भूमिदान देकर तथा अपने क्षेत्रों में बसाकर शिक्षा के संरक्षण का कर्म करते थे। बंगाल नृपति सामलवर्मन ने पश्चिमी प्रान्तों से कुछ वैदिक ब्राह्मणों को उनकी वेद विद्या एवं धार्मिक कृत्यों के सम्यक् ज्ञान के कारण आमंत्रित किया[43]। महाराज आदिसूर के द्वारा पाँच विद्वान ब्राह्मणों को कन्नौज से बुलाया जाना प्रमाणित होता है। धर्मपाल के शासन के समय महासामन्ताधिपति[44] नारायण वर्मन द्वारा निर्मित नर नारायण मंदिर का कार्य भार लाट, गुजरात, प्रवजित बंगाल के लाट ब्राह्मणों को सौंपा गया था। गुप्त एवं गुप्तोतर काल में व्यक्ति, शासकीय अथवा अशासकीय अधिकारी अपनी क्षमता के अनुसार स्वेच्छापूर्वक शिक्षा के संरक्षण के लिये भूमिदान देते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को धार्मिक एवं विद्वान व्यक्तियों को अपनी एवं रानी की ओर से, की गयी सेवा के लिये पुरस्कृत करना चाहिये।[45]

चालुक्य राजा जयसिंह द्वितीय के शासन काल के 1016 ई0 के ताम्रपत्र अभिलेख में अग्रहार में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों के छात्रावास की सुविधाओं

हेतु भूमिदान दिये जाने का वर्णन है।[46] प्रमाणों के अनुसार उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी अग्रहारों, मठों एवं मंदिरों में जाते थे और वही शिक्षा ग्रहण करते थे। इनमें भी शैक्षणिक प्रतिष्ठानों में सर्वाधिक अग्रहार ही थे। विभिन्न अभिलेखों से प्राप्त सूचनाओं से उनके महत्व का प्रतिपादन होता है। अग्रहारों की शैक्षिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने में अग्रणी भूमिका थी।[47] 1219 ई0 के होयसल राजा नरसिंह तृतीय के ताम्रपत्र अभिलेख से अग्रहार में वैदिक साहित्य के अध्ययन एवं केशव मंदिर के रख रखाव हेतु दान दिये जाने का पता चलता है।[48] उच्च शिक्षा संस्था के रूप में राष्ट्रकूटों के शासन काल में कर्नाटक राज्य के धारवाड़ जिले का कादिपुर नामक अग्रहार पर्याप्त प्रतिष्ठित था। कल्चुरी चेदि अभिलेखों में प्रवजित भूमिदान प्राप्त ब्राह्मण षड्दर्शन, वेद, कला आदि के ज्ञान में निपुण बताते गये है। पृथ्वीदेव द्वितीय द्वारा भूमिदान प्राप्त देल्हुक नामक ब्राहमण को वेदान्त तत्व का ज्ञाता कहा गया है।[49] अल्तेकर के अनुसार अग्रहार अपने समय के प्रमुख शिक्षा केन्द्र थे जहाँ छात्र निः शुल्क विविध शास्त्रों का अध्ययन करते थे।[50] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि अग्रहारों की भूमिदान – व्यवस्था तत्कालीन शैक्षिक अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख अंग था।

विवेच्य युगीन संगीतज्ञों एवं कलाकारों को भी राजसत्ता द्वारा आर्थिक अनुदान प्राप्त होता था। महबूब नगर के चालुक्य अभिलेख में संगीत एवं कला जैसे विषयों के शिक्षण संस्थाओं के प्रोत्साहन का उल्लेख है।[51]

हमारे अध्ययन कालीन लेखकों से भी शिक्षा देने वाले विद्वानों को अग्रहारों में बसाये जाने और उन्हें भूमिदान के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि गंगा तट पर बहुसुवर्ण नामक प्रधानाचार्य शास्त्रज्ञ गोविन्द दत्त था।[52] इसी प्रकार यमुना तट पर स्थित अग्रहार में वेदज्ञ अग्नि स्वामी के उपाध्याय पद पर आसीन होने का उल्लेख है। कल्हण की राजतरंगिणी से अग्रहार में विद्वान ब्राह्मणों को भूमिदान देकर बसाये जाने के अनेक प्रमाण प्राप्त होता है।[53] विक्रमांकदेव चरित में भी

अग्रहारों का वर्णन प्राप्त होता है।[54] वैदिक विद्वानों, भाष्य एवं शास्त्र में दक्ष ब्राह्मणों को ही सम्मान एवं दान प्राप्त होते थे।[55]

इस प्रकार इन साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ग्राम दान या भूमिदान की प्रथा शैक्षिक संरक्षण के साथ ही साथ तत्कालीन समाज को सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने हेतु उस बौद्धिक परम्परा से सम्बद्ध थी जो वैदिक काल से चली आ रही थी वही दूसरी ओर तत्कालीन स्थानीय शिक्षालयों को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का अवसर प्राप्त हुआ।

शिक्षण संस्थाओं का विशेष आर्थिक प्रबन्धन

प्राचीन भारत में दान को विशेष महत्व प्राप्त था, चाहे वह विद्या दान हो या विद्या के लिये धन दान। यद्यपि धन दान से अधिक महत्व विद्यादान का था। स्मृतियों में वर्णित है कि भूमि दान से अधिक पुण्य विद्यादान से मिलता है।[56] धन लेकर विद्या देना निन्दनीय समझा जाता था। जिस प्रकार गुरु का यह धर्म था कि वह प्रत्येक शिक्षार्थी को बिना किसी भेदभाव के निः शुल्क शिक्षा प्रदान करे, उसी प्रकार राजा, सामन्त एवं प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य था कि वह प्रत्येक शिक्षक एवं शिक्षार्थी की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति सुनिश्चित करे। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के दान एवं शासक वर्ग का सहयोग आय के मुख्य स्रोत थे।

शिक्षा के विकास में शासक वर्ग एवं समाज के प्रत्येक नागरिक का योगदान सराहनीय रहा। किसी भी शिक्षार्थी को शिक्षा से वंचित रखना निंदनीय समझा जाता था तथा शिक्षा के लिये दान न देना पाप समझा जाता था। शासक एवं कुलीन वर्ग के अतिरिक्त समाज के प्रत्येक व्यक्ति का यह धर्म था कि शिक्षा के उत्थान हेतु अपना यथोचित सहयोग प्रदान करें। प्रत्येक ब्रह्मचारी को भिक्षा देना, शिक्षा समाप्ति के उपरान्त अपने गुरु को गुरु दक्षिणा अर्पित करना, श्राद्ध के अवसर पर विद्वानों को दान देना, विभिन्न उत्सवों पर उन्हें भोजन कराना एवं दान देना, विभिन्न अवसरों पर उपहार

वितरित कर उन्हें प्रोत्साहित करना, संस्थाओं को सुचारू रूप से चलाने के लिये कर मुक्त भूमि दान में देना आदि ऐसे कार्य थे जिनसे शिक्षण कार्य बिना किसी अवरोध के सुचारू रूप से चलता था। साक्ष्यों से विदित होता है कि मध्यान्ह में कोई भी भूखा ब्रह्मचारी भिक्षा के लिये किसी के दरवाजे पर दस्तक दे, तो उसे खाद्य पदार्थ दान में अवश्य देना चाहिये। ऐसा न करना और ब्रह्मचारी को खाली हाथ वापस लौटाना अत्यन्त निन्दनीय समझा जाता था और उस कुटुम्ब को पाप का भागी माना जाता था।[57] प्रत्येक गृहस्थ का यह धर्म था कि वह आगन्तुक ब्रह्मचारी को भिक्षा प्रदान करें।[58] विष्णु स्मृति के अनुसार, ब्रह्मचारी, यति और भिक्षु का जीवन गृहस्थों पर निर्भर करता है।[59] प्राचीन भारत में श्राद्ध का विशेष धार्मिक महत्व था। यह संस्कार प्रत्येक माह सम्पन्न होता था। ऐसे अवसरों पर प्राप्त होने वाले दान का बड़ा महत्व था, जिसकी मात्रा भी अधिक होती थी।[60] इस प्रकार प्राचीन भारत में सामाजिक एवं धार्मिक अवसरों पर अधिकाधिक शिक्षक और शिक्षार्थियों को आमंत्रित करने की परम्परा थी, जहाँ उन्हें भोजन के साथ–साथ उपहार स्वरूप दान भी दिया जाता था। तक्षशिला जैसे महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्रों पर यह प्रथा अत्य धिक प्रचलित थी।[61] जहाँ के शिक्षक और शिक्षार्थी विभिन्न आयोजनों पर आमंत्रित किये जाते थे। उपनयन और विवाह जैसे महत्वपूर्ण संस्कारों पर भी विद्वानों को पर्याप्त धन दान देने की परम्परा थी।[62] शिक्षा समाप्ति के उपरान्त गुरुदक्षिणा में प्राप्त धन भी आय के महत्वपूर्ण स्रोत होते थे। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि समाज के धनी व्यक्ति अपने बच्चों को शिक्षित करने के उद्देश्य से अध्यापकों की नियुक्ति करते थे जहाँ गांव के निर्धन बच्चे भी शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से जाते थे। स्थानीय पाठशालाओं में होने वाले व्यय का निवर्हन कभी–कभी सम्भ्रांत व्यक्ति स्वयं करते थे, तथा ऐसे लोग शिक्षा के उत्थान तथा विकास के लिये कर मुक्त भूमि भी दान में देते थे।

अंग्रेजों द्वारा पंजाब जीतने के समय डा0 लैटनर वहां पर प्रथम शिक्षा कमिश्नर नियुक्त हुये थे, का कथन हैं कि[63] –''ज्ञान का समादर करना प्राचीन काल से ही एशिया की विशेषता रही है''। पंजाब इसका अपवाद नहीं है। वाह्य आक्रमण एवं गृह युद्ध से यद्यपि आज यह जर्जर हो चुका है, तथापि अपनी शिक्षण संस्थाओं को सुरक्षित रखा है तथा उसमें अभिवृद्धि ही हुई है। खूंखार से खूंखार सरदार, कौड़ियों को दांतों से पकड़ने वाले महाजन भी शिक्षण संस्थायें खोलने और विद्वानों को आदर प्रदान करने में अत्यन्त आत्मिक शान्ति का अनुभव करते है। ऐसा कोई भी मंदिर, मस्जिद या धर्मशाला नहीं, जिससे सम्बद्ध कोई न कोई पाठशाला चलता न हो। शायद ही ऐसा कोई धनी बचा हो जिसने अपने बच्चों को पढ़ाने के लिये मौलवी, पंडित या गुरु न रखा हो। ऐसे सैकड़ों धर्मोपदेशक मिल जायेगे, जो धर्म एवं ईश्वर के नाम पर निःशुल्क शिक्षण कार्य करते हैं। प्रत्येक किसान अपनी उपज का एक अंश विद्वानों को दान देकर गर्व अनुभव करता है। इस उद्धरण से प्राचीन भारत के शैक्षिक महत्व को समझा जा सकता है।

शायद ही कोई धर्मशास्त्र ऐसा हो जिसमें शिक्षा को प्रोत्साहन देना राजा का कर्तव्य न बतलाया गया हो[64]। साक्ष्यों से विदित होता है कि शासक वर्ग दो प्रकार से शिक्षण संस्थाओं को सहायता प्रदान करते थे – प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। शिक्षण संस्थाओं की स्थापना कर और उन्हें कर मुक्त भूमि दान में देकर प्रत्यक्ष रूप से शिक्षा को प्रोत्साहित करते थे। गुप्त शासक कुमार गुप्त प्रथम ने न केवल नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना करवायी थी, बल्कि उसके कुशल संचालन हेतु गुप्तों द्वारा 200 गाँवों भी दान में दिये गये थे। तक्षशिला जैसे शिक्षण संस्थाओं को न केवल शासक वर्ग बल्कि समाज के सम्भ्रांत एंव सर्व साधारण वर्ग भी अपना सहयोग प्रदान कर शिक्षा को प्रोत्साहित करते थे, तथा समय–समय पर विद्वानों को सम्मानित कर उनके प्रति स्वयं को ऋणि महसूस करते थे। राज्याभिषेक जैसे आयोजनों पर विद्वान ब्राह्मणों को सम्मानित कर

उन्हें कर मुक्त गांव देकर बसा दिया जाता था, जो कालान्तर में शिक्षण केन्द्र के रूप में विकसित होते थे। कनिष्क, चन्द्रगुप्त द्वितीय, हर्ष एवं धर्मपाल जैसे उदार शासक अपने दरबार में आने वाले अधिकांश विद्वानों को कर मुक्त भूमि दान कर एवं अन्य सहयोग प्रदान कर न केवल उन्हें सम्मानित करते थे, बल्कि शिक्षा को भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रोत्साहित करते थे[65]। ताम्रपत्रों से ज्ञात हैं कि प्राचीन भारतीय शासक निर्मल चरित्र वाले विद्वानों को दान देकर उन्हें सम्मानित एवं प्रोत्साहित करते थे। ये विद्वान निःशुल्क शिक्षा प्रदान कर शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित करते थे। निश्चित रूप से यदि राज्य का पर्याप्त सहयोग नहीं मिला होता, तो पतंजलि, कालिदास, बाणभट्ट, भवभूमि, अमरसिंह, आर्यभट्ट, बाराहमिहिर, चरक, शुश्रुत, अश्वघोष, वसुमित्र, दण्डी, वाक्पति, राजशेखर और विशाखदत्त जैसे विद्वान अवतरित होकर ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में अपना योगदान अर्पित नही कर पाते। विद्वानों को प्रोत्साहित करना और शिक्षण संस्थाओं के कुशल संचालन हेतु उन्हें हर प्रकार के सहयोग प्रदान करना भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। 19वीं शताब्दी का अंतिम पेशवा बाजीराव द्वितीय भी प्रत्येक श्रावण मास में विद्वानों को सम्मानित कर उन्हें दान स्वरूप 5 लाख रु. देता था। स्पष्ट हैं कि भारतीय समाज विद्वान और विद्वता के महत्व को समझता था तथा शिक्षा के विकास में अपना यथोचित सहयोग प्रदान करता था, जब भी इसकी उपेक्षा की गई समाज एवं राष्ट्र का विकास बाधित हुआ।

प्राचीन भारतीय शासक शिक्षा के लिये दान तो देते थे, लेकिन प्रबन्धन पर नियन्त्रण रखने की कोशिश नहीं करते थे। यह कार्य विद्वत समाज स्वयं करता था। शिक्षण–संस्थाओं पर सरकारी नीति लादने तथा उन पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने के लिये शिक्षा निदेशक या नीरीक्षक जैसे सरकारी पदों का उल्लेख नहीं मिलता। जैसा कि वर्तमान व्यवस्था में देखने को मिलता है। विद्वान आचार्यो को दान देने से पूर्व यह शर्त नही रखी जाती थी कि वे निःशुल्क शिक्षा वितरित करेंगे। आचार्यों को दान देना

सभी का परम कर्त्तव्य था, तथा सभी को निःशुल्क शिक्षा वितरित करना शिक्षक का नैतिक धर्म था। दोनों पक्ष अपने नैतिक कर्तव्यों से युक्त थे तथा इसके लिये वे सर्वथा निष्ठावान बने रहे। गुप्त शासक नालन्दा को सैकड़ों गांव दान में दिये थे, लेकिन उन्होंने कभी यह शर्त नहीं रखी कि बौद्ध धर्म राज्य के प्रति अमुक प्रकार से काम करे या अमुक विषयों की शिक्षा दे।[66] जबकि, वर्तमान, अधिनायकवादी राज्यों की सरकारे शिक्षा को अपनी नीति और विचारों के प्रचार का एक साधन बना लिया है। आज निश्चित रूप से दोनों वर्ग अपने–अपने नैतिक कर्तव्यों एवं दायित्वों से विमुख और विचलित हो चुके हैं। जिसके कारण शिक्षा का न तो समग्र रूप से विकास हो पा रहा हैं, और न ही वर्तमान शिक्षा व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करने मे सफल हो पा रही है। प्राचीन शिक्षा का तात्पर्य बोध से था, चिंतन से था, शाश्वत मूल्यों से था। जिसका अभाव वर्तमान शिक्षा में है। आज शिक्षा का तात्पर्य महज साक्षरता और रोजगार से है।

मध्यकालीन यूरोप में शिक्षण संस्थाएं चर्च द्वारा संचालित होती थी। शिक्षा के लिये धन जुटाना, अध्यापकों की नियुक्ति, अध्यापक एवं छात्रों की व्यवस्था तथा पाठ्यक्रमों का निर्धारण भी वही करता था।[67] कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड जैसे विश्वविद्यालय ब्रिटिश सरकार के किसी प्रस्ताव या आदेश से नहीं बने थे, बल्कि कुछ विद्वानों ने वहां एकत्र होकर विद्या की ज्योति जगायी थी। उनकी निष्ठा और उदारता से प्रभावित होकर वाल्टर–डी–मेटर्न और बीकेनहम जैसे दाताओं ने दान देकर कॉलेज के लिये भवन और छात्रावास बनवाये थे।[68] इस तरह की परम्परा प्राचीन भारत में अत्यधिक थी। यद्यपि वर्तमान समय में कतिपय उक्त परम्पराओं का निर्वहन हो रहा है। आज भी ऐसी शिक्षण संस्थायें हैं, जिनकी निष्ठा और उदारता से प्रभावित होकर विभिन्न दान–दाताओं, सामाजिक संगठनों और राज्य सरकारें उन्हें विभिन्न माध्यमों से प्रोत्साहित एवं पुरस्कृत करती है। लेकिन इसकी संख्या बहुत कम है। 19वी. शताब्दी तक यूरोपीय शिक्षा चर्च, दान दाताओं और विभिन्न कारपोरेशनों पर आश्रित थी।

सर्वप्रथम 1832 ई0 में वहां की सरकार ने प्रारम्भिक शिक्षा के लिये 2000 पौंड अनुदान देकर प्रारंभिक शिक्षा के विकास का मार्ग प्रशस्त किया था। फ्रांस में क्रान्ति के बाद ही राज्य ने शिक्षा के विकास पर ध्यान दिया था। मार्टिन लूथर का विचार था कि शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य को स्वयं अपने ऊपर ले लेना चाहिये, क्योंकि जर्मनी में इसका अच्छा प्रभाव देखने को मिला था, लेकिन भारत में अति प्राचीन काल से ही ऐसे दायित्वों का सम्यक् निर्वहन करना राज्य का परम कर्तव्य एवं धर्म था। यही कारण है कि प्राचीन शिक्षा न केवल अपने उद्देश्यों में सफल रही, बल्कि ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्र में अविस्मरणीय प्रतिमान स्थापित कर भारतीय संस्कृति को समृद्धि किया। स्पष्ट है कि प्राचीन शिक्षा के विकास में समाज के प्रत्येक वर्ग का सम्यक् सहयोग मिला और उनका सहयोग ही आर्थिक प्रबन्धन का आधार बना।

सन्दर्भ

1. आश्वलायन गृह सूत्र 3, 4, 4.
2. मनु, 2, 245.
3. उशनस 4, 24.
4. महाभाष्य, 2, 4, 32 और 3, 1, 26 (2) पर.
5. वही 2, 1, 41, और 1,1,73 (6) पर
6. महाभाष्य 5, 1 74(2) पर.
7. मनु 2, पृ. 141.
8. वही, 2, पृ. 140.
9. वही, 2, पृ. 246.
10. वही, 3, 156 तथा याज्ञवल्य 3, 230.
11. सी.आई.आई, जिल्द 4, राजतरंगिणी, कथासरित्सागर आदि।

12. सा.ई.ई.पृ. 145 दशरथ शर्मा : चौहान सम्राट पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग पृ. 68.

13. ई.ऐ., भाग–13, पृ. 273.

14. वही. भाग–13.

15. ई.ऐ., भाग–8, पृ. 185.

16. मनु पर कुल्लक 8, 35–39.

17. अलतेकर : पूर्वोक्त, पृ. 75.

18. अल्तेकर : पूर्वोक्त, पृ. 62.

19. वाटर्स, 1, 15,9–61.

20. मनुस्मृति 7–82, याज्ञवल्क्य स्मृति, 1–131, महाभारत, अध्याय, 13–59–60.

21. सी.आई.आई., जिल्द 4, भाग – 28, 36–37, 51, 72 भाग–2, पृ. 396.

22. स्टीन–दि क्रानिकल ऑफ काश्मीर, खण्ड–2 पृष्ठ–185.

23. ए.ई., भाग–1, पृ. 60.

24. ए.ई. भाग–4 पृष्ठ 60, सोलोत्गी के एक विद्यालय को राष्ट्रकूटों के मन्त्री नारायण ने 945 ई. में ऐसा हीरक दान दिया था।

25. आश्वलायन धर्म सूत्र 1, 2, 24, 25 तथा गोपथ ब्राह्मण 2, 5, 7.

26. जातक संख्या 478.

27. रघुवंश – कालिदास, – कौत्सप्रपये वरतन्तु शिष्य :

28. अल्तेकर : पूवौक्ति, पृ. 75.

29. शुक्रनीतिसार : 1–368 तथा जातक 522.

30. ए.ई., भाग–1 पृष्ठ 130.

31. ए.ई., 3 तिरुनर्सपुर, स0. – 27.

32. छान्दोग्य उपनिषद, 5/11/5 तथा वृहदारण्यक उपनिषद, 3.1.1.

33. महाभारत, शान्तिपूर्व, 165, 17–18

34. मनु, 8, 395.

35. ए कापर्स ऑ इन्स्क्रिप्सन्स इन दि कन्नड़ डिस्ट्रीक्ट ऑफ हैदराबाद स्टेट पृ. 57.

36. इण्डियन आर्कियोलाजी 1976–77, ए रिव्यु, पृ. 60–1980.

37. मत्स्य पुराण, 69. 25–47.

38. विष्णु पुराण, 1. 17, 48–54.

39. अल्तेकर : पूर्वोक्त, पाद टिप्पणी, पृ. 77.

40. वासुदेव उपाध्याय : पूर्वोक्ति पृ. 133–34.

41. इण्डियन आर्कियोलाजी, 1982–83, ए रिव्यू, पृ. 122, 1984.

42. डी.डी. कौशाम्बी : दि कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन ऑफ एन्शियेंट इण्डिया, पृष्ट–171.

43. प्रमोद लाल पाल : दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ बंगाल, पृष्ठ 31.

44. वही, पृ. 42. आर. वी. पाण्डेय : हिस्टारिकल एण्उ लिटरेरी इंस्क्रिप्सन पृ. 228.

45. प्रमोद लाल पाल : पूर्वोक्ति, भाग–2 पृ. 42.

46. इण्डियन आर्कियोलाजी, 1962–63, एरिव्यू, पृ. 49

47. ए कापर्स ऑफ इन्सिक्रप्सन्स इन दि कन्नड़ डिस्ट्रिक्स ऑफ हैदराबाद पृ. 24.

48. इंडियन आर्कियोलाजी, 1976–77, एरिव्यु, पृ. 60.

49 वही, पृष्ठ. 462.

50. अल्तेकर : एजूकेशन इन एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ. 294.

51. इण्डियन आर्कियोलाजी 1981–82, ए रिव्यू, पृ. 79.

52. कथासरित्सागर, 1.7. 41–42.

53. राजतरंगिणी, 1.183, 1.343, 8.2444.

54. विक्रमाकदेव चरित 18.24, पृष्ठ 196.

55. इण्डियन आर्कियोलाजी 1972–73, ए रिव्यू, पृ. 46.

56. स्मृ. च. सं. कांड में वृह. का वचन पृ. 145.

57. आ.ध.सू., 1.2 24–25,

58. गो. ध. सू., 5.16, विष्णु पु. 3.95, भिक्षान्नमशनीयात्

59. विष्णु स्मृति, 59.27.

60. सालोत्गी में ऐसी ही प्रथा थी, ए.ई., भाग–4, पृ. 60.

61. जातक सं. 498.

62. याज्ञवल्क्य की टीका (1–212) में अपरार्क द्वारा उद्धृत। नालन्दा और विक्रमशिला दोनों विश्वविद्यालयों में पुस्तकों के लिये दान का उल्लेख मिलता हैं।

63. ए हिस्ट्री ऑफ इंडिजिनस एजूकेशन इन द पंजाब, पृ. 1, इंडियन एजूकेशन कमीशन, 1892 ई. मं उद्घृत।

64. मनु, 7.82, याज्ञ., 1.131 : शुक, 1.369, अर्थव, 20–21 महा., 13, अध्याय 59.601.

65. अश्वघोष, चरक, एवं सुश्रुत जैसे विद्वानों को कनिष्क द्वारा राज्याश्रय प्रदान किया जाना, सातवाहनों द्वारा विद्वानों को आश्रय देना।

66. वैटर्स, भाग–2, पृ. 164–65.

67. रेमण्ड कृत प्रिंस पुल्स् ऑफ एजूकेशन, पृ. 13

68. मेहमू, पृ. 77.

* * * * *

तृतीय अध्याय

शिक्षक और शिक्षार्थी : पात्रताएं एवं वर्जनाएं

शिक्षक और शिक्षार्थी : पात्रताएं एवं वर्जनाएं

प्राचीन भारत में शिक्षण संस्थाओं का जन्म अपेक्षाकृत विलम्ब से होने के कारण इस दायित्व का निर्वहन शिक्षक स्वयं करते थे। अतः समाज उन्हें प्रोत्साहित कर आदर व सम्मान देना अपना धर्म समझता था। ऐसी मान्यता थी कि ज्ञान रूपी दीपक एक प्रकार के आवरण से आच्छन्न रहता है और गुरू द्वारा इस आवरण के हटाते ही प्रकाश की किरणें फूट निकलती है। [1] अतः गुरू के प्रति कृतज्ञ होना एवं उसका अधिकाधिक सम्मान करना शिष्य का परम कर्तव्य माना गया था। धर्मशास्त्रों में गुरू को शिष्य का मानस पिता कहा गया है,[2] क्योंकि माता पिता से छात्र को पार्थिव शरीर मिलता है, जबकि उसका बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास गुरू के द्वारा ही होता है। अतः ज्ञान के लिये गुरू की अपरिहार्यता थी। जब गुरू द्रोणाचार्य ने एकलब्य को सैन्य शिक्षा देने से इंकार कर दिया, जब उसने अभिलाषित गुरू की प्रतिमा से प्रेरणा प्राप्त कर धनुर्विद्या में दक्षता प्राप्त किया था। निःसन्देह यह दृष्टान्त गुरू के महत्व को रेखांकित करता है। बौद्ध और जैन सम्प्रदाओं में भी गुरू आदरणीय एवं पूज्य थे।

महाभारत में वर्णित है कि जो व्यक्ति वेदों को लिपिबद्ध करता है, उसे नरकीय यातनाएं भोगनी पड़ती है। इससे स्पष्ट होता है कि वेदों की शिक्षा मौखिक दी जाती थी। चूंकि, प्रारम्भ से ही वैदिक मंत्रों के उच्चारण की शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता था, जो योग्य अध्यापकों के बिना सम्भव नहीं था। उपनिषद काल में रहस्य वादी दर्शन का जन्म हुआ, जिनका विश्वास था कि मुक्ति का मार्ग गुरू ही दिखला सकता है।[3] अतः इस काल में गुरू की महिमा और बढ़ गयी। गूढ़ विषय एवं दार्शनिक शिक्षा के क्षेत्र में गुरू की महिमा बढ़ने के कारण साधारण अध्यापकों का भी मान सम्मान बढ़ने लगा, क्योंकि समाज के साधारण अध्यापक भी बिना किसी लोभ या शुल्क के शिक्षा देने हेतु तत्पर रहते थे। पुस्तकों के अभाव में शिक्षार्थी अपने शिक्षकों पर आश्रित रहते थे।

व्यवसायिक और तकनीकी शिक्षा अनुभवी शिक्षकों के माध्यम से ही संभव थी। अतः किसी भी व्यवसाय की मूल नब्ज पकड़ने हेतु शिक्षकों का सान्निध्य एवं उनका आर्शीवाद प्राप्त करना आवश्यक था।

उपनिषद् काल में शिक्षक को जो मान और प्रतिष्ठा प्राप्त थी, उसका कारण, आध्यात्म विद्या का होना था, जिसकी शिक्षा गुरू के द्वारा ही संभव थी। गंभीर विषयों का स्पष्ट ज्ञान, उसकी वैज्ञानिक व्याख्या एवं उनके कार्य – व्यवहार से साधुता का होना भी उन्हें पूज्य बनाया। सत्यकाम को देवताओं ने ज्ञान तो अवश्य दिया, लेकिन उसमें दक्षता; उसे तभी प्राप्त हुई जब वह गुरू से उपदिष्ट हुआ। सत्यकाम की उक्ति है कि श्रीमन। आप सदृश ऋषियों से सुना है कि आचार्य से प्राप्त विद्या से ही साधुता की प्राप्ति होती है। [4] इस प्रकार देवताओं से प्राप्त ज्ञान से संतुष्ट न होने के कारण वह आचार्य के पास गया था। [5] इससे शिक्षक की महत्ता देवों से भी श्रेष्ठतर सिद्ध होती है। प्राचीन शास्त्रों में उसे देवता सदृश्य मानकर, [6] उसी की भांति पूज्यभाव रखने का दृष्टान्त मिलता है। [7] चूंकि आत्म ज्ञान के लिये गुरू का होना आवश्यक था।[8] अतः उपनिषद् काल में आत्म ज्ञान का होना ही उसकी प्रतिष्ठा का मूल कारण था। प्रश्नोपनिषद् [9] से विदित होता है कि श्वेतकेतु, सत्यकाम जाबाल, सौर्यापणि, कौशल्य, वैदर्भि तथा कबन्दी आदि समित्पाणि होकर ही पिप्लाद के पास गये थे। तात्पर्य यह है कि बड़े – बड़े विज्ञ आचार्य भी अपने ज्ञानपिपासा को शांत करने के उद्देश्य से उन गुरूओं के पास जाते थे जो सुविज्ञ आत्मवादी एवं चिंतक परायण होते थे। [10]

प्रारम्भ से ही गुरू का स्थान बहुत आदरयुक्त, प्रतिष्ठित एवं गरिमामय था। ऋग्वेद में इन्द्र और अग्नि जैसे देवताओं को गुरू के रूप में वर्णित किया गया है, जो विश्ववेद (सर्वज्ञ), सत्यमान्या (सत्य को जानने वाला), विश्वानिवयुनानि (विभिन्न विद्याओं में पारंगत) जैसे विशेषणों से युक्त होते थे। आचार्य दिव्य और अलौकिक ज्ञान के प्रतीक थे, जो न केवल व्यक्ति और समाज को शिक्षित करते थे, बल्कि उनका बौद्धिक

एवं आध्यात्मिक उत्थान भी करते थे। ऐसी मान्यता थी कि अच्छे आचार्य के सम्पर्क से मनुष्य को सच्चे अर्थों में ज्ञान की प्राप्ति होती है। [11] अलौकिक व्यक्तित्व एवं ज्ञान के कारण ही उसके कुल का मान था। समाज में उसकी प्रतिष्ठा थी और वह पूज्य था। अपने चिरसंचित ज्ञान और विद्या से वह समुचित उत्तराधिकारी को अवगत करा देता था, जो उसके न रहने पर उसकी ज्ञान गरिमा की परम्परा को बनाए रखता था। इस प्रकार आचार्य की प्रतिष्ठा और गरिमा धीरे – धीरे बढती गई और वह माता पिता के समकक्ष स्वीकार्य होने लगा। कालान्तर में उसका स्थान पिता से भी बढ़कर हो गया। अथर्ववेद के अनुसार, उपनयन संस्कार के समय प्रत्येक शिष्य को वह गर्भ में धारण करता है, जिसके अनन्तर तीन दिन तक गर्भ में पोषण कर चौथे दिन उसको जन्म देता है। [12] यह इस बात का प्रमाण है कि आचार्य की गरिमा जन्म देने वाली मां से कम नहीं था। आचार्य की सार्थकता ज्ञान प्रदान करने में ही थी और वह इस कार्य का निवर्हन उसी प्रकार करता था, जिस प्रकार बिना अपेक्षा के सूर्य प्रकाश एवं सरिता जल प्रदान करती है।

ज्ञान देने की दृष्टि से प्राचीन शिक्षक कई प्रकार के होते थे, जैसे – आचार्य, उपाध्याय, प्रवक्ता, गुरू, अध्यापक, पिता आदि।

आचार्य : शिक्षकों को आचार्य इसलिए कहा जाता था, क्योंकि वे अपने शिष्यों को ज्ञान देने के साथ – साथ आचरण एवं चरित्र की भी शिक्षा देते थे। [13] मनु के अनुसार, जो ब्राह्मण शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर, उसे कल्प विद्या (यज्ञ विद्या) एवं रहस्य विद्या (उपनिषदों) समेत वेदशाखा की शिक्षा देता था, वह 'आचार्य' था। [14] व्यास के विचार में, जिसमें वेदों के प्रति उत्सर्ग की भावना हो, श्रोत्रिय हो, शुचि हो, वैदिक शाखा का अध्ययन किया हो तथा जो आलसी न हो, वह 'आचार्य' है।[15]

उपाध्याय : – मनु ने शिक्षकों की कई श्रेणियों का उल्लेख किया है, जिनमें 'उपाध्याय' भी एक श्रेणी है। उनके अनुसार, जो ब्राह्मण वेद के एक भाग (ब्राह्मण भाग)

तथा वेदांगो (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, ज्योतिष और छन्दशास्त्र) की शिक्षा जीविका के उद्देश्य से देता था, वह 'उपाध्याय' कहा जाता था।[16] इस प्रकार वे आचार्य, जो शिष्य से उपहार, द्रव्य, धन या दक्षिणा प्राप्त कर अपने परिवार का पोषण करते थे, वे 'उपाध्याय' कहलाते थे।

प्रवक्ता – प्रोक्त (शाखा, ग्रन्थ, ब्राह्मण और श्रोत सूत्र का विद्वान) साहित्य की शिक्षा प्रदान करने वाला 'प्रवक्ता' कहा जाता था। उसे 'व्याख्याता', 'आख्याता' भी कहा जाता था।

अध्यापक : वैज्ञानिक और लौकिक साहित्य की शिक्षा प्रदान करने वाले 'अध्यापक' कहे जाते थे।

श्रोत्रिय :– ऐसे अध्यापक जो वेद की शाखाओं को स्वयं कंठस्थ करने के उपरान्त अपने छात्रों को शिक्षित करते थे, 'श्रोत्रिय' कहे जाते थे।

गुरू :– मनु के अनुसार, जो विद्वान शास्त्र–सम्मत गर्भादानादि संस्कारों को सम्पन्न कराकर दान में प्राप्त अन्नादि से, अपने परिवार का पोषण करता था, वह 'गुरू' कहलाता था।[17] पिता को भी 'गुरू' की श्रेणी में गृहीत किया गया था। इस प्रकार जो शिक्षक गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए शिक्षक की भूमिका का भी सम्यक् निर्वहन करते थे, उन्हें 'गुरू' कहा जाता था।

ऋत्विक :– जो ब्राह्मण पाद पूजनादि कराकर अग्न्याधान, पाक्यज्ञ और अग्निष्टहोम, जैसे यज्ञों को सम्पादित कराता था, वह 'ऋत्विक' के नाम से जाना जाता था।

चरकः प्राचीन भारत में ऐसे भी अध्यापक थे, जिनका जीवन यायावर की भांति था। वे घूम घूमकर अपने शिष्यों का चुनाव कर उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। ऐसे अध्यापक 'चरक' रहे जाते थे।[18] उपनिषद्कालीन महान् विद्वान उद्दालक आरूणि ऐसे ही 'चरक' आचार्य थे।

आलोच्यकालीन ग्रन्थों में माता पिता को भी शिक्षक के रूप में निर्दिष्ट किया

गया है। धर्मसूत्रों में माता को श्रेष्ठ गुरू कहा गया है। क्योंकि संतति को प्रारम्भिक शिक्षा सर्व प्रथम अपनी माँ से ही प्राप्त होती है। महाभारत में कहा गया है कि पिता दस उपाध्यायों से बढ़कर और माँ दस पिताओं से बढ़कर होती है, अतः प्रारम्भिक शिक्षा के लिये माँ से बेहतर कोई दूसरा गुरू नहीं हो सकता। अनेक भाष्यकारों ने पिता को भी शिक्षक के रूप में निर्देशित किया है। और पिता को अपने पुत्र का आचार्य माना है। महाभारत में वर्णित है कि अध्यापन और पोषण करने वाला पहला गुरू पिता ही होता है। इस प्रकार तद्युगीन समाज में माता पिता की गरिमा यशपूर्ण थी, जिनके द्वारा अपनी संतति को आवश्यक शिक्षा प्राप्त होती थी। आरूणी पुत्र श्वेतकेतु ने अपने पिता से 24 वर्ष में समस्त वेदों की शिक्षा प्राप्त कर आध्यात्म लाभ के निमित्त क्षत्रिय आचार्य प्रवाहण जैबलि के पास गया था।[19] पिता के आचार्यत्व में ही देवों, मनुष्यों और असुरों की शिक्षा सम्पन्न हुई थी।[20] आचार्य प्रवाहण ने यह प्रश्न किया था कि क्या पिता ने तुझे शिक्षित किया है।[21] यह दृष्टान्त पिता के शिक्षक धर्म को रेखांकित करता है। चूंकि, तत्कालीन समाज में ऐसे आचार्यों की संख्या कम थी, जो धन लेकर शिक्षा देते थे या जो शिक्षा को व्यवसाय समझते थे। अतः पिता को आचार्यत्व सम्बन्धी वैधानिक स्वीकृति प्राप्त थी। वे प्रारम्भिक एवं व्यवहारिक शिक्षा के साथ – साथ वेदों की शिक्षा भी प्रदान करते थे, क्योंकि आरम्भ में गायत्री मंत्र के अध्यापन का अधिकारी पिता ही होता था।[22] स्पष्ट है कि गायत्री मंत्र के द्वारा वह विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रारम्भ करता था। यह संस्कार पहले मौखिक स्वीकृति मात्र थी।[23] इस प्रकार शिक्षक के कई सोपान थे और शिक्षकों की अलग – अलग भूमिका थी।

ब्राह्मणेत्तर आचार्य

प्राचीन भारत में अध्ययन – अध्यापन पर एक मात्र अधिकार ब्राह्मणों का था। इसकी पुष्टि एस0जी0 कान्तावाला के विवरण से भी होती है। डॉ0 प्रदीप केशरवानी के अनुसार, शिक्षा के क्षेत्र में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता वैदिक काल से थी, यद्यपि बौद्धकाल में

उन्हें चुनौती अवश्य मिली थी तथापि वे सभी वेदों के ज्ञाता और सभी विधाओं में मर्मज्ञ होते थे। यही कारण है कि तद्युगीन समाज में उन्हें आदर व सम्मान प्राप्त था। परवर्ती साहित्य से भी इस विचार को बल मिलता है। किन्तु प्रवाहण के दृष्टान्त से यह विचार दृढ़ होता है कि रहस्य एवं आध्यात्म विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं थी। [24] यह विद्या सर्वप्रथम क्षत्रियों के पास थी, और वे इसमें दक्ष होते थे। कई ब्राह्मण आचार्य आध्यात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अश्वपत्ति, जनक और प्रवाहण जैबलि जैसे क्षत्रिय आचार्यों के पास गये थे।[25] यद्यपि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्राह्मण आचार्यों का रहस्य एवं आध्यात्म विद्या में दखल नहीं था और वे इस विद्या से पूरी तरह अनभिज्ञ थे, बल्कि ब्रह्म विद्या के विभिन्न स्वरूप को उद्घाटित करने वाले ब्राह्मण आचार्य ही थे। तथापि यह सच है कि उपनिषद् एवं बौद्ध काल में इस विद्या पर क्षत्रियों का वर्चस्व था। उपनिषद् काल में आचार्यत्व का प्रधान आधार विद्वता थी, पर कालान्तर में यह अधिकार वर्ण एवं जाति ने ले लिया और वेदों के अतिरिक्त अन्य विषयों की शिक्षा प्रदत्त करने का उत्तरदायित्व ब्राह्मणों को प्राप्त हो गया। क्षत्रिय शासक जो कभी आध्यात्मिक ज्ञान में ब्राह्मणों से आगे थे, राजकीय कार्यों में व्यस्त रहने के कारण अध्ययन अध्यापन से विरत होते गये। इस प्रकार अध्ययन – अध्यापन का विशेषाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त हो गया। किन्तु अन्य वर्ण के विद्वान भी शिक्षण धर्म का पालन करते रहे। विश्वामित्र, वाल्मीकि, व्यास, कण्व, भारद्वाज, श्रृंगी आदि जन्मना ब्राह्मण नहीं थे, फिर भी अपने ज्ञान के कारण ब्राह्मर्षि कहलाये।

शिक्षकों के आदर्श

प्राचीन शिक्षक मिथ्या प्रदर्शन में विश्वास नहीं करते थे। अपनी स्पष्टवादिता के कारण उन्हीं विषयों पर व्याख्यान देते थे, जिन पर वे दक्ष होते थे। काव्य पतंचल से याज्ञिकों ने जब लोक, परलोक से संबंधित विषयों पर जानकारी मांगी, तो उसने अपनी स्पष्ट वादिता के कारण तत्काल अनभिज्ञता जाहिर कर दी। [26] महर्षि भारद्वाज से जब

षोडश कला वाले पुरूष के विषय में प्रश्न पूछा गया, तो उसने भी तत्काल अपनी अनभिज्ञता व्यक्त की थी। इसी प्रसंग में उन्होंने कहा है कि मिथ्याभिलाषी के कारण ज्ञान का नाश होता है। जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं अनृतवादी हूँ।[27] उपनिषद् में पिप्लाद का कथन है कि आप एक वर्ष के ब्रह्मचर्योपरान्त उचित समय पर मेरे पास आइए, आपके द्वारा पूछे गये ब्रह्मविषयक प्रश्नों की जानकारी, यदि मैं रखता होऊँगा तो अवश्य बतला दूँगा।[28] ज्ञान के क्षेत्र में इस तरह की स्पष्टोक्तियाँ तत्कालीन शिक्षा के आदर्श की परिचायक थी।

गोधन का संरक्षण एवं संवर्द्धन करना, प्रायः वे अपना नैतिक धर्म समझते थे। सत्यकाम को चार सौ गाये चराने के लिये दी गयी थी, जिनके विषय में उसने जाते समय कहा था कि जब तक ये सहस्त्र संख्यात्मक नहीं हो जायेगी, तब तक मैं वापस नहीं लौटूँगा।[29] वे अपने पास गायों के साथ – साथ अश्व, परिधान एवं दासी भी रखते थे,[30] जिनसे शिष्यों के भोजन, वस्त्र एवं पेय आदि समस्याओं का निराकरण होता था। यद्यपि वे सुपथ से आयी हुई संपत्ति के विनियोग में ही विश्वास रखते थे। जनक ने याज्ञवल्क्य को अत्यन्त पुष्ट सहस्त्र गायें दान में दी थी, किन्तु उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि बिना शिक्षित किये धन नहीं लेना चाहिए। इससे तत्कालीन शिक्षकों का नैतिक आदर्श रेखांकित होता है। इस संबंध में उन्होंने अपने पिता के मत को उद्धृत किया था।[31] समावर्तन के समय प्रत्येक ब्रह्मचारियों से आचार्य कहता था कि जो हमारे शुभ कर्म है वे ही सत्य है तथा जो श्रेष्ठ ब्राह्मण है, उनका आसनादि द्वारा सत्कार होना चाहिए।[32] इससे प्राचीन शिक्षकों का आदर्श एवं उनकी विनम्रता का भाव प्रदर्शित होता है।

शिक्षकों का प्रशिक्षण

समावर्तन के समय प्रत्येक शिक्षक अपने शिष्यों को आर्शीवाद देता था कि चारों दिशाओं से योग्य शिष्य तुम्हें प्राप्त हो।[33] यह इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन

स्नातकों को शिक्षा धर्म का पालन करने से पूर्व किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं थी। वेदों के शिक्षार्थी अपने अध्ययन काल के दौरान ही शिक्षक के मुख से शुद्ध उच्चारण सुनकर, उसका ज्ञान प्राप्त कर लेते थे। व्याकरण, छन्द, न्याय, ज्योतिष, दर्शन, इतिहास आदि विषयों का विशेषाध्ययन करने वाले ब्रह्मचारियों को किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि प्रत्येक शिक्षार्थी को अपने अध्ययन के दौरान ही शास्त्रार्थ की कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ता था तथा उन्हें खण्डन–मंडन का सामना करना पड़ता था। अतः अध्ययन की समाप्ति तक उनकी तार्किक शक्ति परिपक्व और चिंतन शक्ति परिष्कृत हो जाती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि अनेक शिक्षणशालाओं में ज्येष्ठ और योग्य ब्रह्मचारियों को नये शिक्षार्थियों को पढ़ाने का भी अवसर प्रदान किया जाता था।[34] अतः शिक्षा के समापन तक ज्यादातर स्नातकों को अध्ययन अध्यापन का पर्याप्त अनुभव हो जाता था और उन्हें किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नही रह जाती थी।

आचार्यत्व का आधार

उपनिषद् काल में आचार्यत्व का प्रधान आधार विद्वता थी। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते है, जब क्षत्रिय विद्वानों ने अन्य वर्ण के लोगों के अतिरिक्त ब्राह्मणों को भी शिक्षा प्रदान की थी। ऐसा विधान नहीं था कि शिक्षक धर्म का पालन ब्राह्मण ही करे। अनेक विद्वान क्षत्रिय आचार्य का भी शिष्यत्व स्वीकार कर उनके ज्ञान से लाभान्वित हुए थे। विदेह नरेश जनक, काशी नरेश अजातशत्रु, कैकय नरेश अश्वपति, पांचाल नरेश प्रवाहण जैबलि, सनत्कुमार, सम्राट प्रतर्दन, जानश्रुति पौत्रायन, बृहद्रथ आदि क्षत्रिय शासक जो अपने ज्ञान और आध्यात्म विद्या के लिये विख्यात थे तथा अनेक विद्वान ब्राह्मणों को अपने आध्यात्मिक ज्ञान से तृप्त किये थे।[35] किन्तु उत्तर काल में जब कार्यों का स्पष्ट विभाजन हो गया, तब अध्ययन–अध्यापन का एकाधिकार ब्राह्मणों को प्राप्त हो गया।

वेदों के अतिरिक्त अनेक विषयों की शिक्षा देना उनका परम कर्तव्य बन गया। क्षत्रिय शासक, जो कभी आध्यात्मिक ज्ञान में ब्राह्मणों से अग्रणी थे, राजनैतिक

प्रतिद्वन्द्विता एवं प्रशासनिक जटिलता के कारण, वे अपने को राजकीय कार्यों में ही व्यस्त रखने लगे। इस प्रकार, सूत्रकाल से शिक्षक धर्म की भूमिका का निर्वहन प्रमुखतया ब्राह्मण ही करने लगे और यह परम्परा क्रमशः जड़वत होती चली गयी।

शिक्षक की योग्यता और उसका कर्तव्य

प्राचीन काल में शिक्षक समाज के आदर्श माने जाते थे। उनका सम्पूर्ण जीवन विद्यार्थियों के लिये आदर्श होता था। उनसे अनेक गुणों की अपेक्षा की जाती थी। ऐसी मान्यता थी कि अध्यापक को शांत स्वभाव का होना चाहिए, किसी भी छात्र के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए। सर्वप्रथम उसे शास्त्रों में पारंगत होना चाहिए। जीवन भर स्वाध्याय नहीं छोड़ना चाहिए। [36] उसे बोलने में चतुर, अच्छा वक्ता, प्रत्युत्पन्नमति, तार्किक, रोचक कथाओं का ज्ञाता तथा कठिन से कठिन विषयों का तत्काल व्याख्या कर देने वाला होना चाहिए। [37] अतः अध्यापकों के लिये मात्र पांडित्य प्राप्त होना ही आवश्यक नहीं था। कालिदास के अनुसार [38] उससे अत्यन्त उच्च योग्यता की अपेक्षा की जाती थी, जिससे वह अपनी पवित्रता, चारित्रिक बल, पांडित्य और सदाचारी जीवन का अमिट प्रभाव उन छात्रों के जीवन पर डाल सके, जो उसके चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त करते थे।

चूंकि प्राचीन शिक्षक अपने – अपने विषयों में पारंगत होते थे, अतः उन्हें शिष्य को मुक्ति के मार्ग का दिग्दर्शन कराने वाला, सुज्ञानी समझा जाता था। [39] नम्रता और निर्भिमानता का सच्चा स्वरूप होने के साथ ही साथ सत्य भाषण करने में भी वह अप्रतिम होता था। जिस विषय को वह नहीं जानता था, उसके लिए वह अविलम्ब अपनी असमर्थता व्यक्त करता था। प्रश्नोपनिषद् से विदित होता है कि सुकेशा भारद्वाज से कोसल कुमार द्वारा सोलह कलाओं से युक्त पुरूष के बारे में पूछे जाने पर उसने तत्क्षण जबाव दिया, कि मैं नहीं जानता यदि मुझे ज्ञात होता तो अवश्य बतला देता। जो असत्य भाषण करता है, उसका समूल नष्ट हो जाता है। अतः मैं तुमसे असत्य नहीं बोल सकता। [40]

तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य के लिये कहा गया है कि वह अपने व्यवहार में औचित्य और अनौचित्य का ध्यान रखते हुए, सत्य भाषण करते हुए, तप का पालन करते हुए इन्द्रियों पर संयम प्राप्त करते हुए, मन को शान्त रखते हुए, अतिथि सत्कार करते हुए, लोक समाज के प्रति अपने कर्तव्यों तथा गृहस्थ धर्म का सम्यक् पालन करते हुए स्वाध्याय और प्रवचन करें। मुद्गल ऋषि के पुत्र का मत है कि स्वाध्याय और प्रवचन को ही उसका मुख्य कर्तव्य मानना चाहिए, क्योंकि स्वाध्याय और प्रवचन का अनुपालन ही वास्तविक तप है।[41] उस समय के शिक्षक का मुख्य कर्तव्य था, वेद की शिक्षा प्रदान करना। महाभारत में व्यास ने इस कार्य को महान् कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया है। धर्मसूत्रों में वर्णित है कि शिष्यों को पुत्रवत मानते हुए उनसे कुछ न छिपाये, छात्र अध्यापन में उदासीनता प्रदर्शित न करे और अपने पांडित्य और ज्ञान से छात्रों को लाभान्वित करे।[42] कालिदास के अनुसार वह महज विद्वान ही नहीं होता, बल्कि–शिष्ट–क्रिया युक्त साधु प्रकृति वाला पटु शिक्षक भी होता है।[43]

स्पष्टतः आचार्य की योग्यता उसके स्वाध्याय और प्रवचन में निहित थी। किन्तु उसमें अनुशासन, सत्याचरण, सत्यभाषण, सहिष्णु, उदार, संयम और चित्त की एकाग्रता का होना भी आवश्यक था। आपस्तम्ब के अनुसार, गृहस्थ होते हुए भी वह ऐसा जीवन व्यतीत करे, जिससे शिष्यों के मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो। उसका रहन – सहन गरिमामय हो। वर्षा एवं शरद् ऋतुओं में वह ब्रह्मचारी की भांति जीवन व्यतीत करे। भीड़ – भाड़ से दूर एकान्त स्थल पर अध्ययन – अध्यापन में तल्लीन रहता था। अनावश्यक घूमना वर्जित था। घास काटना और ढेला फोड़ना भी उसके लिए निषिद्ध माना गया था।[44]

महाभारत के अनुसार, दीक्षा लेने आये वह प्रत्येक ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करता था[45] जिस प्रकार माता अपने शिशु को गर्भ में धारण करने के उपरान्त चाहकर भी उसका आहार कम नहीं कर सकती, उसी प्रकार आचार्य भी अपने नवजात शिक्षार्थी को अपने ज्ञान से निराश नहीं कर सकता था।

चूंकि, प्राचीन शिक्षाविदों की दृष्टि में शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध पिता पुत्र सा होता था। [46] अतः शिष्यों को शिक्षित करने के साथ – साथ उसके अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी उसका धर्म था। शिष्य का मानस पिता होने के कारण उसके अन्दर के समस्त दोषों को दूर करने का उत्तरदायित्व भी उसी पर था।[47] कौन सी आदतें डालना, किसे छोड़ना, किस कार्य में तत्परता दिखलाना, कब शयन करना, किसके साथ रहना तथा किन स्थानों पर जाना इन सभी बातों की जानकारी, उन्हें अपने शिष्यों को देनी पड़ती थी। [48] भोजन, वस्त्रादि का प्रबन्ध भी उन्हीं को करना पड़ता था। निर्धन छात्रों के लिये आर्थिक व्यवस्था करना भी उनका धर्म माना गया था। इसके लिए स्थानीय सम्पन्न नागरिकों का यथोचित सहयोग प्राप्त होता था। पूर्वी भारत के संस्कृत पाठशालाओं के प्राध्यापक अभी हाल तक इस व्यवस्था का पालन करते रहे है। छात्रों के रूग्णावस्था में पिता की भांति उसकी सेवा शुश्रुषा एवं चिकित्सकीय प्रबन्ध करना भी उनका धर्म होता था। [49]

अध्यापन नियम की उदात्तता

अध्यापन के नियम बड़े ही सरल एवं उदात्त थे। यदि कोई अध्यापक अपने प्रतिद्वन्द्वी से पांडित्य में पराजित हो जाते थे तो उसे अपनी शिक्षण शाला बन्द कर, उनका शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता था। [50] चूंकि अध्ययन – अध्यापन शिक्षक का अनिवार्य धर्म माना गया था। [51] अतः अकारण वह शिक्षण कार्य बाधित नहीं करता था। तथा जिज्ञासु एवं उपयुक्त छात्र को शिक्षा प्रदान करने हेतु तत्पर रहता था। [52]

वर्तमान की भांति शिक्षण शुल्क निश्चित न होने के कारण गुरू–सेवा की प्रतिज्ञा कर निर्धन से निर्धन छात्र भी शिक्षा की मांग कर सकता था और शिक्षा पा सकता था। प्रत्येक अध्यापक का यह कर्तव्य था कि वह बिना कुछ छिपाएं अपने शिष्यों को सम्पूर्ण ज्ञान से परिचित करा दे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि कोई भी अध्यापक इस भय से कि एक दिन उसका शिष्य अपनी विद्वता से हतप्रद कर उसकी वृत्ति पर आघात पहुंचा

सकता है उससे कुछ नहीं छिपाता था।[53] कुछ छिपाने पर वह 'आचार्य' पद का अधिकारी नहीं माना जाता था।[54] आचार्य की उदारता का अनुमान अलार कलाम के वचन से लगाया जा सकता है। स्नातक बोधिसत्व से उन्होंने कहा था। – "भंते ! आप जैसे श्रद्धेय को पाकर आज हम कितने प्रसन्न है। जो ज्ञान मुझे प्राप्त है, वहीं आपको भी तथा जो ज्ञान आपको प्राप्त है, वहीं मुझे भी। अतः जैसा मैं हूँ वैसे ही आप है। कृपया इस गुरूकुल के संचालन में आप मेरे सहायक हो।"[55]

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों का जीवन सरल एवं सादगीपूर्ण होने के कारण उन्हें आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वर्तमान की भांति धन और सम्मान परस्पर सम्बद्ध नहीं माने जाते थे।

शिष्य के प्रति शिक्षक की संतुलित भावना

आचार्य अपने शिष्यों के प्रति स्नेहिल व्यवहार रखते थे। आचार्य जैबलि ने शिक्षा के निमित्त आये उद्दालक का सस्नेह सम्मान किया था।[56] यमराज ने शिष्य नचिकेता का हार्दिक अभिनंदन किया था।[57] तत्कालीन आचार्य अपने शिष्यों को 'सौम्य' संज्ञा से संबोधित करते थे,[58] जिसका अभिप्राय चन्द्रमा सदृश आकर्षण और मधुर गुण – सम्पन्न था। शिष्यों द्वारा बारम्बार प्रश्न पूछे जाने पर भी आचार्य अपना संतुलन नहीं खोते थे। वृहदारण्यक् उपनिषद् से ज्ञात होता है कि महर्षि पंतजलि ने शिष्य द्वारा बारम्बार प्रश्न पूछे जाने पर प्रत्येक बार उसका नम्रतापूर्वक उत्तर दिया था,[59] छान्दोग्य उपनिषद् से ज्ञात होता है कि आचार्य आरूणि ने अपने शिष्य श्वेतकेतु द्वारा बार – बार आत्मा सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाने पर उन्होंने प्रत्येक बार उसके प्रश्नों का समाधान किया था।[60]

इस प्रकार शिक्षक और शिक्षार्थी की अंतरगता[61] तथा उनका पिता–पुत्र का सम्बन्ध सर्वथा बना रहा।[62] लक्ष्मीधर ने आप स्तम्ब को उद्धृत करते हुए लिखा है कि अध्यापक अपने शिष्य को पुत्रवत् स्नेह करते थे और उसकी सभी आवश्यकताओं का

ध्यान रखते थे। कोई भी अध्यापक अपने ज्ञान को छिपाता नहीं था, बल्कि वह इसे धरोहर समझता था।[63] कादम्बरी से ज्ञात होता है कि गुरूजनों का चन्द्रापीड के प्रति अपार स्नेह था।[64] बाल्मीकि लव–कुश के हित के लिए सर्वथा चिन्तित रहते थे।[65] भारद्वाज का अपने प्रिय शिष्य द्रोण एवं द्रुपद के प्रति अपार स्नेह था।[66] जो शिष्य के प्रति आचार्य की स्नेहिल भावना को रेखांकित करता है।

उपासक और आचार्य

उपासक जीवन का प्रारम्भ 'प्रव्रज्या' की दीक्षा से एवं उसका समापन 'उपसम्पदा' की दीक्षा से होता था। प्रव्रज्या ग्रहण करने वाला भिक्षु 'श्रामणेर' कहा जाता था, जिसे किसी उपाध्याय या आचार्य के निर्देशन में रहना पड़ता था। उपाध्याय और श्रामणेर का सम्बन्ध वैदिक परम्परानुसार गुरू–शिष्य की भांति था तथा उपाध्याय के न रहने पर वह उसके उत्तरदायित्व को संभालता था। उपासकों को भिक्षुपद पर आने के लिये दस विशिष्ट भिक्षुओं के संघ की अनुमति लेना आवश्यक था। चूंकि, बौद्ध उपासकों का जीवन पूर्णतया 'भिक्षाटन' पर आधृत था। अतः उन्हें 'भिक्षु' की संज्ञा से संबोधित किया जाता था। भिक्षाटन के द्वारा वे न केवल अपना पोषण करते थे, बल्कि घूम– घूम कर बुद्ध के विचारों को प्रसारित भी करते थे। उनके लिये दस 'शिक्षा पद' एवं चार निश्रयों का उल्लेख मिलता है। सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, धर्म में श्रद्धा, मध्यान्होत्तर भोजन का निषेध, विलास से विरक्ति, सुगंधित द्रव्यों का निषेध, सुन्दर शैय्या और शासन का त्याग तथा स्वर्ण रजत जैसी मूल्यवान वस्तुओं के प्रति अनिच्छा। ये दस वर्जनाएं दस शील को अभिव्यक्त करती है। चार निश्रयों में भिक्षा से प्राप्त भोजन, चीथड़ों का बनाया गया चीवर, वृक्ष के नीचे निवास एवं गोमूत्र का भेषज था, जिसका उल्लेख विनय पिटक में मिलता है। प्रत्येक भिक्षु निर्देशित नियमों का पालन करता था। वह समयानुसार सोकर उठ जाता था, भिक्षापात्र को झोले में डालकर स्कन्ध पर लटका लेता था, पीठ पर उत्तरासंग डाल लेता था, चप्पल पहनता था, थाली तथा अन्य पात्रों

को यथास्थान रखता था और दरवाजा बंद करके नित्य भिक्षाटन के लिये निकल जाता था। निकटवर्ती ग्रामवासियों और नगरवासियों से जो कुछ भी उसे भिक्षा में मिलता था उससे वह अपना पोषण करता था। बौद्ध विहारों में शिष्टाचार का विशेष ध्यान रखा जाता था। वरिष्ठ भिक्षु के खाली पैर रहने पर कनिष्ठ भिक्षुओं को जूता न पहनने के लिये निर्देशित किया जाता था। अभिवादन, अंजलिकर्म सम्मान और सेवा–शुश्रूषा आदि के वे अधिकारी थे। उन्हें अपेक्षाकृत उत्तम भोजन, उत्तम आवास और उत्तम जल प्राप्त होता था। ब्राह्मण ब्रह्मचारियों की भांति वे भी गुरू सेवा के लिये तत्पर रहते थे, जैसे – आचार्य का आसन तैयार करना, जल और दातून देना, फर्श और भिक्षा – पात्र तथा अन्य बर्तनों की सफाई, भंडारों का नीरीक्षण, भिक्षाटन और उपदेशना हेतु ग्राम या नगर गमन के समय एक सेवक के रूप में उनके साथ जाना आदि उनका धर्म था। उन्हें अपरिग्रह, इंद्रिय – निग्रह, संयम व्रत जैसे कठोर नियम का भी पालन करना पड़ता था।

वे त्रिचीवर (तीन वस्त्र – अन्तर्वासक, उत्तरासंग और संघाटी) धारण करते थे, जिनका रंग गैरिक होता था। बुद्ध का कथन है कि भिक्षुगण कूड़े के ढेर से जीर्ण वस्त्र को चुनकर अपने पहनने के लिये चीवर बनाएं। विनय पिटक से ज्ञात होता है कि वे स्वयं कूड़े के ढेर से जीर्ण वस्त्र को चुनकर अपना चीवर बनाते थे, यद्यपि श्रद्धालु श्रावक भी उन्हें चीवर आदि दान में देते थे। प्रारम्भ में वह कपास का होता था, किन्तु बाद में रेशम, ऊन, कपास, साण और क्षौम आदि के चीवर को धारण करने की अनुमति दी। संघ की ओर से प्रत्येक भिक्षु को बिछाने की चादर, मुख पोछने का वस्त्र और एक थैला वितरित किया जाता था। यद्यपि उनके लिये आभूषण पहनना निषिद्ध था, किन्तु उन्हें आंख में अंजन लगाने की छूट थी। उनका आहार प्रायः सात्विक होता था। किन्तु कुछ भिक्षुगण मांसाहारी भी होते थे। कभी – कभी दुर्भिक्ष के समय वे मांस का सेवन भी करते थे। मद्यपान वर्जित था, किन्तु औषधीय रूप में उसे लेने का विधान मिलता

है। प्रातः काल वे मधुमिश्रित दुग्ध भात का सेवन करते थे। बुद्ध ने इस खाद्य को जीवन, आनन्द और शक्ति का स्रोत माना था। श्रावकों के नियंत्रण पर वे उसके घर भी भोजन करते थे।

जहाँ तक भिक्षुओं के विकास में आचार्यों की भूमिका का प्रश्न है, दोनों का सम्बन्ध पिता – पुत्र की भांति था।[67] उसके हित लाभ के लिये वे सर्वदा सन्नद्ध रहते थे। विनय पाठ की शिक्षा देकर उनका ध्यान ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं इंद्रिय – निग्रह की ओर आकर्षित कर अपनी उपदेशना और व्याख्यानों से उसकी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्षण में सहायता करते थे। भिक्षा और चीवर प्राप्ति में उसकी सहायता करना तथा रोग ग्रस्त होने पर उसकी सेवा शुश्रूषा करना भी आचार्य का धर्म था। उनका जीवन छात्रों के लिये दृष्टान्त होता था। अपने आदर्शों से विचलित तथा संघीय नियमों का उल्लंघन करने को उद्यत आचार्यों को उनके शिष्य रोकने के लिये स्वतन्त्र थे। उन्हें अपनी आवश्यकताएं न्यूनतम रखनी पड़ती थी। नालन्दा के प्रसिद्ध अध्यापकों को साधारण शिक्षार्थियों से तीन गुणा अधिक धन मिलता था, जो उनके साधारण जीवन स्तर को रेखांकित करता है। यावज्जीवन अपने विषय के अध्ययन में मग्न रहा करते थे, क्योंकि उनके अध्ययन में विवाह जैसी संस्था बाधक नहीं थी। यह स्थिति उपासक और आचार्य दोनों के साथ थी। आचार्य बनने के लिये प्रत्येक उपासक को न्यूनतम 10 वर्ष का भिक्षु जीवन व्यतीत करना अपेक्षित था।

शिक्षक की जीविका

वर्तमान में शिक्षा विभाग ने अध्यापकों का वेतन क्रम निर्धारित कर रखा है। गैर सरकारी संस्थाओं में भी थोड़े बहुत अंतर से इसका पालन होता है। किन्तु प्राचीन काल में ऐसा कोई भी विभाग नहीं था, जो शिक्षकों को वेतन वितरित कर उनके आय का मार्ग प्रशस्त करे। शिक्षार्थी समित्पाणि[68] होकर गुरू के पास जाते थे, जहाँ उन्हें निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। वैभवयुक्त ज्ञान गमन करने वाले छात्रों को निन्दनीय

समझा जाता था। जनश्रुति [69] पौत्रायन ने आचार्य के पास छः सौ गायें, एक हार तथा सच्चरियों से युक्त रथ लेकर गया था। इस कार्य से अप्रसन्न होकर आचार्य रैक्व ने उसे शूद्र की संज्ञा से संबोधित किया था। [70] क्योंकि तत्कालीन परम्परा इसके खिलाफ थी। इस प्रकार समित्पाणि होकर ज्ञान गमन करने वाले छात्रों को ही शिक्षा देने की परम्परा थी।

प्राचीन शिक्षक संतोषी एवं निस्पृह प्रकृति के होने के कारण प्रायः वे धन की मांग नहीं करते थे। शिक्षाविदों ने शुल्क प्राप्त कर शिक्षा प्रदान करने वाले शिक्षकों की निन्दा की है। ऐसी मान्यता थी कि शिष्य को उपदिष्ट किये बिना उससे धन नहीं लेना चाहिए।[71] गुरू दक्षिणा के रूप में जो कुछ भी उसे प्राप्त होता था, वही उसकी जीविका का एक मात्र साधन होता था। चूंकि प्राचीन शिक्षक पुरोहित्य का कार्य भी करते थे, अतः इस कार्य से जो कुछ भी उसे दान में प्राप्त होता था, वही उसकी जीविका का आधार बनता था। दृष्टत्य है कि प्रह्लाद के शिक्षक राज पुरोहित भी थे। [72] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों का जीवन भिक्षाटन से प्राप्त अन्न एवं दान दक्षिणा पर निर्भर होता था।

प्राचीन शिक्षक बिना किसी राग – द्वेष या लोभ – मोह के निःस्वार्थ भाव से शिक्षण कार्य करते थे। अथर्ववेद के अनुसार ब्रह्मचारी से प्राप्त दक्षिणा ही उनकी आय होती थी। [73] लेकिन बौद्धकाल तक आते आते राजाओं और श्रेष्ठियों के अध्येता पुत्रों ने थोड़ा – बहुत दानादि देना प्रारम्भ कर दिया। तक्षशिला के आचार्यों को एक हजार तक स्वर्ण मुद्राएं दक्षिणा में प्राप्त होती थी।[74]

विकास के क्रम में ऐसी परम्परा विकसित हुई कि शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त ही अपने आचार्य को गुरू दक्षिणा के निमित्त धन देने का प्रयास करे। जब कौत्स ने अपनी शिक्षा समाप्त कर ली, तब अपने गुरू वरतन्तु से दक्षिणा के लिए बार – बार आग्रह करने पर गुरू ने रूष्ट होकर उससे चौदह कोटि धन गुरूदक्षिणा में

मांगा। [75] कौत्स के पास उस समय गुरू दक्षिणा में देने को कुछ भी नहीं था। अतः वह उपयुक्त व्यक्ति की तलाश में निकल पड़ा, ताकि गुरू दक्षिणा हेतु आवश्यक धन प्राप्त कर सके। इस प्रयास में वह महाराज रघु के पास पहुंचा, जहाँ उसका भव्य स्वागत हुआ। किन्तु, राजकोष रिक्त होने के कारण उसे कुछ प्रतीक्षा करना पड़ा। तदुपरान्त वह प्राप्त धन अपने गुरू वरतन्तु को सौंपकर उनसे विदा ली। यद्यपि गुरूदक्षिणा में इस प्रकार के अकूत धन राजपरिवार के सदस्य या धनाढ्य व्यक्ति ही दे सकते थे। फिर भी प्रत्येक शिक्षार्थियों का यह हार्दिक प्रयास होता था कि वह अपने आचार्य को गुरू दक्षिणा अर्पित करने के उपरान्त ही गृह गमन के लिये प्रस्थान करे। [76] ऐसा उल्लेख मिलता है कि कृष्ण और बलराम ने भी शिक्षा प्राप्ति के उपरान्त गुरू–दक्षिणा अर्पित की थी। [77] शिक्षार्थी कुशध्वज ने भी अपनी शिक्षा समाप्ति के उपरान्त गुरू श्वाणिक्य को गुरू दक्षिणा अर्पित की थी। [78] मनु के अनुसार, ब्रह्मचारी द्वारा आचार्य की भूमि, सुवर्ण, गोधन, अश्व, छाता, जूता, आसन, शाक और वस्त्रादि गुरू दक्षिणा में अर्पित किया जाता था। [79]

विभिन्न अवसरों पर भी विद्वान आचार्यों को पर्याप्त धन दान में मिलता था। भीम द्वादशी के दिन उपाध्याय को अँगूठी, कटक, सुवर्ण, वस्त्रादि दान में मिलता था। [80] कौरव और पाण्डवों को शिक्षित करने के उद्देश्य से पितामह भीष्म ने गुरू द्रोणाचार्य को धन – धान्य से परिपूर्ण कर एक आवास भी दान में दिया था। [81] स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शिक्षकों का जीवन मासिक आय पर निर्भर नहीं था, बल्कि उनके भरण– पोषण की व्यवस्था समाज के सभी वर्ग करते थे, जो उपहार और दान आदि के रूप में होता था। वैसे तो शिक्षा समाप्ति के उपरान्त गुरू दक्षिणा स्वीकार करने का विधान था, किन्तु यह धारणा प्रचलित थी कि ब्रह्मविषयक् शिक्षा सर्वाधिक बहुमूल्य होती है, जिसका मूल्य दक्षिणा से नहीं चुकाया जा सकता। [82] फिर भी गुरू दक्षिणा अर्पित करने की प्रथा तत्कालीन समाज में मान्य थी।

कात्यायन को उद्धृत करते हुए अपरार्क ने लिखा है कि गुरू दक्षिणा में ब्राह्मण और क्षत्रिय ब्रह्मचारी गाय तथा वैश्य ब्रह्मचारी घोड़ा दे।[83] मनु, शंख और विष्णु जैसे स्मृतिकारों का विचार था कि जो गुरू धन की लालसा में शिक्षा प्रदान करते हैं, वे 'उपाध्याय' कहलाते है।[84] गौतम और विष्णु जैसे स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था दी थी कि जो गुरू अपने शिष्यों से कुछ नहीं लेते और निःशुल्क शिक्षा प्रदान करते हैं, उनके भरण पोषण का ध्यान राजा को रखना चाहिए। राजा का यह परम कर्तव्य था कि वह देखे कि कोई विद्वान भूखा तो नहीं रह रहा है।[85] विदेह नरेश जनक[86] और जनश्रुति पौत्रायन द्वारा प्रदत्त उपहारों से स्पष्ट होता है कि आचार्य कुल को सम्पन्न बना देने का प्रयास राजाओं द्वारा किया जाता था। धन के प्रति निःस्पृह रहने के कारण कुछ आचार्य उसे लेने से इंकार कर देते थे। आचार्य नागसेन को शिक्षार्थी मिलिन्द ने दक्षिणा में बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण आदि प्रदान किया था, जिसको यह कहकर उन्होंने लौटा दिया था कि मुझ जैसे साधु के लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।[87] जातक साहित्य से विदित होता है कि ऐसे छात्र जो निर्धन, किन्तु मेधावी थे, राज्य की ओर आर्थिक सहायता प्राप्त कर तक्षशिला में उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे।[88] स्पष्ट है कि निर्धन, किन्तु मेधावी छात्रों को राज्य की ओर से प्रोत्साहित किया जाता था।

राजसेवा से रत रहकर शिक्षण कार्य करने वालों को विशेष आर्थिक सहायता दी जाती थी।[89] किन्तु, ऐसे अध्यापकों की संख्या बहुत कम थी। शिक्षाविदों का ऐसा विचार था कि अध्यापन कोई व्यापार नहीं है, जिसे बेचकर धनार्जन किया जा सके। अतः जीविका के प्रयोजन से जो अध्यापक विद्या का मूल्य लेते थे, उनके ज्ञान को ज्ञान न मानकर बिक्रय की वस्तु माना जाता था।[90] तथा वह अध्यापक सर्वत्र निन्दा का पात्र बनता था।

नालन्दा, बलभी और विक्रमशिला जैसे ख्याति प्राप्त बौद्ध शिक्षा केन्द्रों पर अध्यापन कार्य प्रायः भिक्षु ही करते थे। अतः उन्हें किसी प्रकार के शुल्क या दक्षिणा की

आवश्यकता नहीं थी। उन्हें जीवन – यापन के लिये प्रायः उतना ही धन मिलता था, जितने से चार छात्र गुजर कर सकते थे।[91] इस धन की व्यवस्था संस्थान की तरफ की जाती थी। तक्षशिला के अध्यापक अपने ज्ञान एवं पांडित्य के कारण जगत प्रसिद्ध थे। उनके निर्देशन में प्रायः 500 शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे, जिनसे पर्याप्त मुद्राएं दक्षिणा में प्राप्त होती थी।[92]

इस प्रकार प्राचीन अध्यापकों का जीवन न तो अत्यन्त दरिद्रतापूर्ण होता था और न वे अत्यन्त धनवान होते थे। सादा जीवन और उच्च विचार जैसे आदर्शों के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करते हुए समाज के प्रति अपने नैतिक दायित्वों का सम्यक् निर्वहन करते थे। इस बात की चिन्ता समाज को रहती थी कि कोई भी विद्वान भूखा न रहे और उनके भरण–पोषण की व्यवस्था सुनिश्चित हो। इसके लिये दान और उपहार आदि वितरित किये जाते थे। कालान्तर में जब दान की अनिवार्यता स्वीकार्य हो गई, तब शिक्षित राजकुमारों से कर मुक्त भूमि भी, उन्हें दान में प्राप्त होने लगी। कश्मीरी इतिहासकार कल्हण ने विद्वानों को दिये जाने वाले दान की प्रशंसा की है।[93] पाल शासक धर्मपाल ने विक्रमशिला के संचालन हेतु कर मुक्त ग्राम–भूमि दान में दिया था। गुप्त शासक भी इस कार्य में पीछे नहीं थे। सौराष्ट्र नरेश गोविन्द राज ने निःशुल्क शिक्षा वितरित करने वाले आचार्यों को अनेक भूखण्ड दान में दिया था।[94] सोमेश्वर ने लिखा है कि राजकुमार अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद आचार्य को वस्त्र, स्वर्ण, भूमि और कभी – कभी गांव दक्षिणा में देते थे।[95] इस प्रकार दान देने और लेने की प्रवृत्ति का विकास होने पर उसकी अनिवार्यता क्रमशः बढ़ती गयी और तत्कालीन शिक्षक धन लोलुप्त होते गये। इसका सीधा प्रभाव तत्कालीन शिक्षा पर पड़ा और अर्थ प्रधान शिक्षा की परम्परा विकसित होने के कारण शैक्षिक मूल्यों एवं आदर्शों में ह्रास होना प्रारम्भ हो गया।

जहाँ तक शिक्षार्थियों की पात्रता एवं अपात्रता का प्रश्न है, प्रारम्भ से ही ज्ञान पिपासु और जिज्ञासु शिक्षार्थियों को न केवल शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति प्राप्त थी,

बल्कि आचार्य ऐसे शिक्षार्थियों को शिक्षित करने के साथ – साथ उनकी बुनियादी आवश्यकताओं का भी ध्यान रखते थे। उनकी यह व्यक्तिगत कामना होती थी कि अधिकाधिक शिष्य योग्य बनकर, उनके सान्निध्य से निकले और उनके यश को सर्वत्र फैलाएं। स्वयं भी आचार्य बनकर अपने शिष्यों की संख्या बढ़ाएं, जिससे शिष्य परम्परा का विस्तार होता रहे।

आश्रम व्यवस्था का आधार ब्रह्मचर्य

मानव जीवन को सुसंस्कृत, सुसंगठित और सुव्यवस्थित बनाने हेतु उनकी कार्यपद्धतियों का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर मूलभूत आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए मानवीय कर्तव्यों का विभाजन विभिन्न आश्रमों के आधार पर किया गया था। यह मानसिक एवं नैतिक व्यवस्था थी, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी आयु के विभिन्न स्तरों पर मनःकृत और नीतिकृत विविध कर्मों और दायित्वों को सम्पन्न करते हुए अग्रिम जीवन के सुखद होने की कामना करता था। प्राचीन शिक्षाविदों ने जीवन को एक मात्र भोग्य रूप में स्वीकार न कर उसे नैतिक कर्म, कर्तव्य परायणता, बौद्धिकता धार्मिकता और आध्यात्मिकता का समष्टि रूप से स्वीकार किया था। पुरूषार्थ की अवधारणा आश्रमों के अन्तर्गत स्वीकार्य थी तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति आश्रमों के समन्वय से ही संभव थी। ज्ञान, कर्तव्य, त्याग और आध्यात्म के आधार पर सम्पूर्ण जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास चार आश्रमों में विभाजित कर जीवन के वास्तविक लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना ही प्राचीन शिक्षकों का ध्येय था।

'आश्रम' शब्द संस्कृत के 'श्रम' धातु से बना है, जिसका तात्पर्य अथक प्रयास और प्रयत्न है। इसके अंतर्गत मनुष्य अपने जीवन की सम्पूर्ण यात्रा को स्वाभाविक रूप में पूर्ण करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में वह ज्ञान विज्ञान से परिचित होकर अपना बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक एवं चारित्रिक विकास करता था। प्रत्येक व्यक्ति के लिये ज्ञानवान् और बुद्धिमान होना तथा शारीरिक रूप से पुष्ट होना आवश्यक माना गया था। क्योंकि

तभी वह गृहस्थ जीवन का वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता था। समस्त सामाजिक और धार्मिक कार्य गृहस्थ आश्रम में सम्पादित होते थे। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की प्राप्ति गृहस्थ आश्रम में स्वीकार की गई थी। एक सच्चे गृहस्थ के लिये गृहस्थ धर्म का पालन करना अनिवार्य था। वानप्रस्थ आश्रम सांसारिकता और भौतिकता से मुक्त होकर एकान्त जीवन व्यतीत करने हेतु प्रेरित करता था, जो पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन की प्राप्ति हेतु एक अभ्यास था। चौथा और अन्तिम सन्यास आश्रम था, जिसका उद्देश्य ब्रह्म अथवा मोक्ष की प्राप्ति था। इस प्रकार आश्रमिक व्यवस्था के अन्तर्गत पुरूषार्थ करने से व्यक्ति स्वतः मोक्ष की प्राप्ति हेतु उत्प्रेरित होता था। [96]

जीवन को परिष्कृत सुसंस्कृत और धर्मनिष्ठ बनाने हेतु सोलह प्रकार के संस्कार का विधान मिलता है, जिसे सम्पन्न कर व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा को प्राप्त करता था तथा आध्यात्मिक जीवन की ओर अग्रसर होता था। अधिकांश संस्कारों की नियोजना गृहस्थ आश्रम में थी।

आश्रमिक जीवन का व्यवस्थित स्वरूप उत्तर वैदिक काल से मिलने लगता है। ब्रह्मचारी शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर हुआ है, जबकि 'यति' शब्द जिसका तात्पर्य सन्यासी से था, दो, तीन स्थानों पर हुआ है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, और यति (मुनि) शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। [97] किन्तु मानव जीवन को चार भागों में विभाजित करने का सन्दर्भ उत्तर वैदिक कालीन साहित्यों में मिलता है। [98] उपनिषद् साहित्य में भी आश्रम सूचक शब्दों का प्रयोग हुआ है। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहता है कि अब मैं गृहस्थ जीवन से प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हूँ[99] जाबलोपनिषद् में सभी आश्रमों का उल्लेख मिलता है। याज्ञवल्क्य ने जनक को विभिन्न आश्रमों की व्याख्या कर उसकी महत्ता बतायी थी। [100] स्पष्ट है कि उपनिषद् काल तक आश्रम व्यवस्था की जड़ मजबूत हो चुकी थी, और सूत्र एवं स्मृति काल तक वह पूर्ण प्रतिष्ठा को प्राप्त हुई।

महाभारत [101] और पुराण साहित्य में इसका उद्‌भव ब्रह्मा से मानकर दैवी अभिव्यक्ति दी गयी है, जिससे लोगों की अभिरूचि इसे स्वीकार करने में हो। पुराण साहित्य में वर्णित है कि आश्रमों का चिंतन इसलिए किया गया कि समाज के प्रत्येक सदस्य अपने – अपने कर्मों को निष्ठा पूर्वक संपादित कर सके। [102] ऐसा उल्लेख मिलता है कि आश्रम धर्म का पालन करने वालों को परलोक में सुख की प्राप्ति होती है। [103] धर्मसाहित्य में चारों आश्रमों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। [104] कुछ स्मृतिकारों ने 'सन्यास' के लिये 'परिव्राजक' का व्यवहार किया है। [105] पंतजलि ने चारों आश्रमों को 'चतुराश्रम्य' कहा है। [106] मनु ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और यति शब्द का उल्लेख किया है।[107] ब्राह्मणों के लिये चारों आश्रमों का पालन आवश्यक था। [108] अन्य तीन वर्णों के लिये प्रथम तीन आश्रमों का विधान मिलता था। इस प्रकार विद्या के लिये ब्रह्मचर्य, संतान के लिए गृहस्थ, इंद्रिय दमन के लिये वानप्रस्थ और मोक्ष के लिये सन्यास आश्रम का विधान था। इससे मानव जीवन संतुलित और अनुशासित होता था, तथा उसका स्वाभाविक विकास भी होता था।

शिक्षार्थी एवं ब्रह्मचर्य आश्रम

ब्रह्मचर्य शब्द 'ब्रह्म' और 'चर्य' दो प्रत्ययों से मिलकर बना है। ब्रह्म का अर्थ है 'वेद' और चर्य का अर्थ है 'विचरण करना'। अर्थात ब्रह्म के मार्ग पर चलना या ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इंग्रिय निग्रह नहीं था, बल्कि इसके साथ वेदाध्ययन भी सम्मिलित था। इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति के साथ ही साथ बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक विकास ब्रह्मचर्य के अनुपालन से ही संभव था। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रबल बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है और वासनाओं को वश में कर लेने से उत्कृष्ट फल की प्राप्ति होती है। [109] श्री अरबिन्द के शब्दों में भौतिक तत्व का आध्यात्मिक तत्व में उत्कर्षण ही ब्रह्मचर्य है।[110] उपनिषद् काल में ब्रह्मज्ञान की प्रतिष्ठा अधिक होने के कारण संयम–नियम, तप – त्याग की भावना के अनन्तर ब्रह्मचर्य का महत्व अधिक था।

महाभारत से विदित होता है कि ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करने वाले शिक्षार्थियों को अपनी आंतरिक एवं वाह्य शुद्धि हेतु विभिन्न संस्कारों, व्रतों, सन्ध्योपासना, सूर्योपासना, अग्निहोत्र, गुरू प्रणाम, वेदों का श्रवण एवं स्मरण, तीनों समय स्नान, ध्यान नित्य भिक्षा मांगकर उसे गुरू सेवा में अर्पित करना तथा गुरू के हर आदेश को मानते हुए स्वाध्याय आदि के लिए तत्पर रहना आवश्यक था।[111]

उपनयन संस्कार के उपरान्त छात्र का ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था। उपनयन शब्द 'उप' और 'नयन' प्रत्यय से मिलकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है, समीप ले जाना। इस संस्कार के द्वारा प्रत्येक ब्रह्मचारी को गुरू के सन्निकट लाया जाता था।[112] और वह शिक्षा पाने का अधिकारी हो जाता था।[113] द्विज का अर्थ है, दुबारा जन्म लेने वाला, जो उपनयनोपरान्त संभव था। इसके उपरान्त वह धार्मिक कार्य सम्पादित करने योग्य बन जाता था।[114] उसका कठोर और अनुशासित जीवन प्रारम्भ होता था। शूद्र वर्ण के शिक्षार्थी इस संस्कार से वंचित थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्राह्मण को बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य को शरद् ऋतु में 'उपनयन संस्कार' कराये जाने का विधान मिलता है।[115] तीनों वर्ण के विद्यार्थियों के लिये अलग – अलग मंत्रों का विधान मिलता है – ब्राह्मण के लिये 'गायत्री मंत्र', क्षत्रिय के लिये 'त्रिष्टुभ मंत्र और वैश्य के लिये' 'जगती मंत्र' स्वीकार्य था।[116] इस प्रकार द्विज वर्ण के शिक्षार्थी उपनयन के अधिकारी थे।[117] और इसके उपरान्त उनका ब्रह्मचार्य जीवन प्रारम्भ होता था।[118] उपनयनच्युत व्यक्ति न तो द्विज वर्ण के माने जाते थे और न उस जाति के सदस्य, जिसमें वे जन्म लेते थे। इससे प्राचीन शिक्षा की अनिवार्यता का पता चलता है, जो द्विज वर्ण के शिक्षार्थियों के लिये आवश्यक था।

प्रारम्भ में स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था और वे भी ब्रह्मचार्य धर्म का पालन करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त उनका समावर्तन संस्कार भी होता था।[119] विवाह के समय यज्ञोपवीत धारण करने का[120] निर्देश उपनयन संस्कार की अनिवार्यता को रेखांकित करता है।

प्रत्येक ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत धारण करने का निर्देश था। [121] जिसके अन्तर्गत उसे मेखला और डण्डा भी धारण करना पड़ता था। विभिन्न वर्णों के ब्रह्मचारी अलग – अलग मेखला धारण करते थे। ब्राह्मण मुंज की, क्षत्रिय अयस खंड से युक्त मुंज की तथा वैश्य ऊन की मेखला धारण करते थे। [122] प्रत्येक ब्रह्मचारी उत्तरीय (उर्ध्ववस्त्र) एवं वास (अधोवस्त्र) नामक वस्त्र धारण करते थे। ब्राह्मण का उत्तरीय अजिन का, क्षत्रिय का रीख का और वैश्य का गोचर्म का होता था। [123]

इस प्रकार प्राचीन शिक्षार्थी उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए गुरू के सान्निध्य में रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। [124] गुरूकुल का वातावरण अत्यंत निरापद, शांत और एकांत होता था, जहाँ उनका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक उत्थान होता था। संयमित और अनुशासित जीवन से उसका भावी जीवन सुनियोजित होता था। सदाचार और इंद्रिय नियन्त्रण से उसकी तामसिक प्रवृत्तियों का नाश होता था तथा भ्रमित इंद्रियाँ वश में होती थी। शरीर, मन और मस्तिष्क का संतुलित विकास भावी जीवन की मजबूत नींव तैयार करती थी। स्पष्ट है कि अन्य आश्रमों की सफलता ब्रह्मचर्य जीवन की सफलता पर अवलम्बित थी।

विद्यार्थी के प्रकार

विद्यार्थियों की उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ तीन श्रेणियां थी। [125] कुछ छात्र पढ़ने के साथ – साथ आचरण और व्यवहार में भी उत्तम होते थे। जबकि, कुछ मध्यम, एवं कुछ अत्यन्त मंद बुद्धि के होते थे। 'उपकुर्वाण' एवं 'नैष्ठिक' दो प्रकार के छात्रों का उल्लेख मिलता है। उपकुर्वाण शिक्षार्थियों में तीन प्रकार के स्नातक होते थे – 'वेद स्नातक' 'ब्रत स्नातक' एवं 'वेद व्रत स्नातक'[126] ये सभी स्नातक कुछ वर्षों तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त गुरू दक्षिणा अर्पित कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश कर जाते थे। [127] लेकिन, वे विद्यार्थी जो आजीवन गुरूकुलों में रहकर ब्रह्मचारी बने रहते थे, 'नैष्ठिक

ब्रह्मचारी' कहलाते थे। साधारणतया वे आठ वर्ष की अवस्था में उपवीत होकर 48 वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए विद्यार्थी बने रहते थे। किन्तु कुछ ऐसे भी नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, जो जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए अध्ययनरत रहते थे।[128] नैष्ठिक का अर्थ है– 'जीवन पर्यन्त ब्रह्मज्ञान के निमित्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला'। इन्हें 'वृहदव्रतधारी' भी कहा जाता था। ऐसी मान्यता थी कि इनका 'पुनर्जन्म' नहीं होता। [129] उपनिषद् काल में ऐसे ब्रह्मचारियों की संख्या अधिक थी। महर्षि कण्व, ऐसे ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे, जो कालान्तर में शिक्षक धर्म का निर्वहन करने लगे थे। हारीत के अनुसार, जो न तो कभी विवाह करता था और न ही सन्यास लेता था, बल्कि अतिन्द्रिय होकर वह शरीर त्याग करता था और पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता था, [130] 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' कहलाता था। प्रारम्भ में स्त्रियों के लिये भी नैष्ठिक ब्रह्मचर्य विहित था।

महर्षि पाणिनि ने दो प्रकार के छात्रों का उल्लेख किया है – 'दण्ड मानव' और 'अन्तेवासी'। [131] दण्डमानव छात्र उपनयन के उपरान्त आचार्य के पास जाते थे, जबकि अन्तेवासी छात्र प्रारम्भ से ही आचार्य के सान्निध्य में रहते थे। इस प्रकार जो शिक्षार्थी प्रारम्भ से ही गुरूकुलों में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे, 'अन्तेवासी' कहलाते थे। [132] इत्सिंग के अनुसार 'माणव' और 'ब्रह्मचारी' शिक्षार्थियों के दो वर्ग थे। वे शिक्षार्थी जो भविष्य में संघ की दीक्षा लेते थे, माणव कहलाते थे, लेकिन वे शिक्षार्थी जो प्रव्रजित होना नहीं चाहते थे, ब्रह्मचारी कहलाते थे। [133]

विषय विशेष में दक्षता प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को शिक्षावधि के अनुसार उन्हें द्वादश वार्षिक, वार्षिक, मासिक और अर्ध मासिक ब्रह्मचारी कहा जाता था। ऋचा अथवा शास्त्र आदि का विशेषाध्ययन करने वाले विद्यार्थी को उसी नाम से सम्बोधित किया जाता था, जैसे – पांच महानाम्नी संज्ञक ऋचाओं का अध्ययन करने वाला शिक्षार्थी, 'महानाम्नी' संज्ञों से संबोधित किया जाता था। उसका व्रत भी 'महानाम्नी'

संज्ञा से ही अभिहित किया जाता था।[134] आदित्य सम (जैमिनिय उपनिषद् ब्राह्मण) को 'व्रत ब्रह्मचारी' की संज्ञा से संबोधित किया जाता था।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शिक्षार्थियों की कई श्रेणियां थी, जिन्हें विभिन्न नामों से संबोधित किया जाता था। वे अभिलाषित विषयों की शिक्षा प्राप्त कर अपना नैतिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विकास करते थे। लेकिन, सच्चा ब्रह्मचारी उसे माना जाता था, जो नैतिक आचरण करता हुआ गुरू सेवा में रत रहता था तथा दुर्लभ ज्ञान को प्राप्त कर अद्वितीय फल की आशा करता था।[135] एक गुरू के सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी 'सतीर्थ्य' कहलाते थे।[136]

छात्र की योग्यता

छात्र को निष्ठावान् और जिज्ञासु होना परम आवश्यक था। चूंकि, शिष्यत्व का आधार योग्यता होता था, अतः छात्र में विशिष्ठ गुण का होना आवश्यक था। निरूक्त में वर्णित है कि जो नम्रता के विशिष्ठ गुण को स्वीकार नहीं करता, उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।[137] स्पष्ट है कि योग्य, बुद्धिमान, निष्ठावान, सहिष्णु, उदार, जिज्ञासु, चरित्रवान एवं परिश्रमी होना उनके लिए आवश्यक था। मनु के अनुसार सेवा करने वाला, धर्मात्मा, पवित्र, ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ, स्वजातीय एवं हिताभिलाषी आदि गुणों से युक्त छात्र शिक्षा के योग्य थे।[138] सदाचारी प्रतिभावान और सुयोग्य शिष्य का चयन आचार्य की योग्यता का द्योतक था।[139]

विद्यारम्भ के पूर्व शिष्य को प्रायः एक वर्ष तक गुरू के सान्निध्य में रहना पड़ता था। नचिकेता की सम्यक् परीक्षा लेने के उपरान्त ही यमाचार्य ने उससे कहा था कि "हे ब्रह्मन तुम्हें नमस्कार"! तेरा कल्याण हो। तुम आदर योग्य अतिथि होकर भी मेरे घर में तीन रात्रि तक बिना भोजन के रहे। अतः प्रत्येक रात्रि के लिये मुझसे तीन वर मांग लो।" इसके बाद ही यमाचार्य ने उसे उपदेश दिया था।[140] कच के शील एवं स्वभाव से भली–भांति संतुष्ट होने के उपरान्त ही आचार्य शुक्राचार्य ने उसे अपना शिष्यत्व

स्वीकार किया था।[141] कृष्ण और बलराम के आचरण से संतुष्ट होने के उपरान्त ही आचार्य सन्दीपनि ने उन्हें वेद–शास्त्र का ज्ञान कराया था।[142] स्पष्ट है कि छात्र की योग्यता से संतुष्ट होने के उपरान्त ही आचार्य उसे शिष्य के रूप में स्वीकार करते थे। मनु का कथन है कि जिस शिष्य में धर्म न हो अथवा सेवाभाव का संस्कार न हो उसे ऊसर समझकर विद्यारूपी बीज का दान नहीं करना चाहिए[143]। उसका आचरण, व्यवहार और सच्चरित्रता ही उसके शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास में सहायक बनता था। गुरू–सेवा के अन्तर्गत गुरू–पुत्र की सेवा का भी विधान था। उसे भी गुरू सदृश मानकर उसके उच्छिष्ट भोजन और पाद–संवाहण को सर्वथा उचित माना गया था।[144] उसकी योग्यता और तपश्या। इंद्रिय – निग्रह में सम्मिलित थी। वह अपने इंद्रियों पर नियंत्रण कर तप के नियमों का पालन करता था।[145] इस प्रकार वह गुरू का स्नेहिल व्यवहार और सामीप्य का सुख प्राप्त करता हुआ उनके प्रति उत्सर्जित भाव से क्रियानिष्ठ रहता था। उदारता, विनम्रता, सहनशीलता, प्रतिभा, जिज्ञासा, इंद्रिय–निग्रह, शील, संयम, तप आदि उसके गुण थे, जो उसके उत्कर्ष में सहायक होते थे।

शिक्षा प्राप्ति में जाति भेद

वैदिक एवं उपनिषद् काल में शिष्यत्व प्राप्ति हेतु जाति का कोई स्थान नहीं था। शिष्य की योग्यता, विनम्रता एवं ग्राहयता को शिष्यत्व का आधार स्वीकार किया जाता था। विद्वान ब्राह्मण भी आध्यात्म लाभ के निमित्त क्षत्रिय आचार्यों के पास जाते थे और उनका शिष्यत्व स्वीकार करते थे। चूंकि प्राचीन काल में आध्यात्म विद्या के ज्ञाता अधिकांश क्षत्रिय आचार्य थे। अतः उसमें पारंगत होने हेतु विद्वान ब्राह्मणों को भी उनके पास जाना पड़ता था। उपनिषद् साहित्य से ज्ञात होता है कि सत्यकाम जाबाल अपने समय का महान विद्वान था। उसके कुल में शिक्षण कार्य नियमपूर्वक सम्पन्न होता था।[146] अपने बाल्यकाल में शिक्षा प्राप्ति के निमित्त, जब वह हरिद्रुमत गौतम के आश्रम में गया, तब आचार्य ने उसे अपना शिष्यत्व स्वीकार करने से पूर्व उसका गोत्र पूछा, तो उसने अपने को सत्यकाम जाबाल बताया। जाबाल उसकी मां का नाम था और

सत्यकाम उसका अपना नाम। उसे अपने पिता के विषय में ज्ञात नहीं था, क्योंकि यौवनावस्था में जब उसकी मां परिचारिणी के रूप में काम कर रही थी, तब वह पैदा हुआ था। उसकी मां को भी पता नहीं था कि वह किस गोत्र का है। अतएव वह सत्यकाम को परामर्श दी कि वे अपने नाम के साथ, उसका भी नाम जोड़ ले। आचार्य उसके इस सत्य वचन पर प्रसन्न होकर निर्देशित किया कि होमार्थ समिधा ले आओं मैं तुम्हें उपनयन से संस्कारित कर, आचार्य कुल का वासी बनाऊंगा। तुम्हारा यह गुण अद्वितीय है जो तुम सत्य से विचलित नहीं हुए। [147] कैकेय नरेश अश्वपति से ब्रह्मविद्या की शिक्षा प्राप्त करने वालों में उद्दालक आरूणि भी थे, जो जन्मना ब्राह्मण थे।[148] पांचाल नरेश, प्रवाहण जैबलि से ब्रह्म विद्या प्राप्त किये बिना वापस लौटने पर श्वेतकेतु के इस व्यवहार से कुपित पिता आरूणि ने स्वयं वहां जाकर पंचाग्नि विद्या सीखने का निश्चय किया था। आचार्य प्रवाहण ने आरूणि का स्वागत करते हुए, उसे पंचाग्नि विद्या की शिक्षा दी थी।[149] उद्दालक आरूणि के साथ शिलक और दालभ्य जैसे कई विद्वान ब्राह्मण भी गये थे और आचार्य प्रवाहण से ब्रह्म विषयक् शिक्षा प्राप्त कर उसमें पारंगत हुए थे। विख्यात् दार्शनिक गार्ग्य बालाकि, जो जन्मना ब्राह्मण थे, काशी नरेश अजातशत्रु से ब्रह्मविषयक शिक्षा प्राप्त कर विद्वान बने थे। [150] ब्रह्मर्षि नारद भी क्षत्रिय आचार्य सनत्कुमार से ब्रह्म विषयक् शिक्षा प्राप्त कर उसमें दक्ष बने थे, जबकि वे स्वयं कई विषयों के ज्ञाता थे। क्षत्रिय शासक जनश्रुति पौत्रायण के यहाँ ब्रह्मविद्या के निमित्त दूर – दूर से विद्यार्थी आते थे। राजा वृहद्रथ के यहां भी कई विद्वान ब्राह्मण रहस्य एवं आध्यात्म विद्या के उद्देश्य से निवास करते थे। [151] विश्वामित्र, बाल्मीकि, व्यास, कण्व, भारद्वाज, श्रृंगी आदि विद्वान जन्मना ब्राह्मण नहीं थे, फिर भी अपने ज्ञान के कारण ब्रह्मर्षि कहलाए।

उपनिषद् साहित्य से ज्ञात होता है कि विरोचन नामक असुर 32 वर्ष तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए आचार्य प्रजापति के सान्निध्य में विद्या लाभ प्राप्त किया था। तत्कालीन साक्ष्यों से विदित होता है कि सूत्रकाल तक शूद्र वर्ण के शिक्षार्थी भी ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए वैदिक शिक्षा प्राप्त करते थे तथा उनका भी समावर्तन संस्कार होता था। [152] किन्तु स्मृतिकाल से उनकी वैदिक शिक्षा प्रतिबंधित होने

लगी और वे अपने पैतृक व्यवसाय से सम्बन्धित विषयों की ही शिक्षा प्राप्त करने लगे। जातक साहित्य के विदित होता है कि अनेक शूद्र भी उच्चकोटि के विद्वान थे। आचार्य शुक्राचार्य असुरों के गुरू थे। सुत्तनिपात के अनुसार, मातंग नामक चांडाल ख्यातिलब्ध विद्वान था, जिसके यहां दूर – दूर से उच्च वर्णीय शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्ति के लिए आते थे। [153] बौद्ध काल में अन्य वर्णों की भांति शूद्र को भी शिष्य के रूप में स्वीकार किया जाता था। बुद्ध के अनेक शिष्य जन्मना शूद्र थे। उपालि और सुनीति जन्मना नापित थे। हरिकेशबल जाति के चांडाल थे, किन्तु अपने ज्ञान एवं व्यवहार के कारण ऋषि के रूप में विख्यात थे। [154] रामायण और महाभारत साहित्य से ज्ञात होता है कि अन्य वर्णों की भांति शूद्र वर्ण के जिज्ञासु शिक्षार्थी भी स्वाध्याय करते थे तथा समाज में उनकी स्थिति अच्छी थी। विदुर और वाल्मीकि इसके जीवंत उदाहरण है। द्विज वर्ण के छात्रों को 'वर्णी' कहा जाता था। [155] यद्यपि समय – समय पर शैक्षिक पाठ्यक्रमों का स्वरूप परिवर्तित होता रहा, और उसकी शिक्षा सभी वर्ण के शिक्षार्थी प्राप्त करते रहे। किन्तु उत्तरकाल में धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म पर एक मात्र अधिकार ब्राह्मणों का बना रहा। वैदिक शिक्षा से न केवल स्त्रियों को वंचित कर दिया गया, बल्कि शूद्र वर्ण के शिक्षार्थी भी उच्च शिक्षा से वंचित होते गये। उन्हें बौद्ध साहित्य एवं व्यवसायिक पाठ्यक्रमों की शिक्षा प्राप्त कर ही संतोष करना पड़ा।

छात्र जीवन में सदाचार

प्राचीन शिक्षाविदों की यह अवधारणा थी कि विद्यार्थी का जीवन शिष्टाचार, मर्यादा और आत्मसंयम से पूर्ण हो। अतः छात्र जीवन में पवित्रता की भावना विकसित करने हेतु संध्या–वंदन और हवन आदि का विधान था। गुरू के प्रति आदर और सम्मान का भाव प्रदर्शित करने पर बल दिया जाता था, जिससे प्रत्येक विद्यार्थी में शिष्टाचार एवं सदाचार का भाव विकसित हो। उन्हें असत्य भाषण, गाली – गलौंज, चुगलखोरी और निन्दा आदि कार्यों से दूर रहने की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षाविदों का यह विचार था कि कामनाओं के दमन से ही मन और चरित्र दृढ़ होता है।[156] चूंकि, युवावस्था में

मांस, मिष्ठान भोजन, वस्त्र और आभूषण आदि के प्रति आकर्षण का भाव रहता है और इससे काम वासना उद्दीप्त होती है। अतः ब्रह्मचारियों के लिये इसका उपयोग वर्जित था। गुरूकुलवासी राजकुमारों को भी अपने पास धन रखने की अनुमति नहीं थी। वे न तो इन वस्तुओं को खरीद सकते थे और न अपने पास रख सकते थे।[157] छात्र जीवन का आदर्श जीवन में सादगी और विचारों की उदात्तता था। प्रत्येक विद्यार्थी को या तो अपने बाल मुड़ाने पड़ते थे या जटा रखनी पड़ती थी, जिससे केश प्रसाधन या तेल–लेप में समय न नष्ट हो। प्रातः काल स्नान करना अनिवार्य था। जूता, छाता, या खाट का इस्तेमाल उनके लिए वर्जित था। भोजन और वस्त्र की सादगी पर विशेष ध्यान दिया जाता था। चूंकि, बाल्य और युवावस्था चरित्र निर्माण का काल होता है, अतः प्राचीन शिक्षाविदों ने इसका विशेष ध्यान रखा था। नियमित अध्ययन करना एकाग्रचित्त होकर व्याख्यान सुनना और प्रतिदिन पाठ याद करना उसका दैनिक कार्य था।

धर्माचरण से सम्बन्धित कार्य–व्यवहार का पालन कड़ाई से किया जाता था। यद्यपि, सामान्य नियमों में आवश्यकतानुसार छूट संभव थी। दृष्टान्तस्वरूप स्पार्टा की भांति प्राचीन भारत में जूते और छाते के प्रयोग के सम्बन्ध में कठोर कड़ाई नहीं बरती जाती थी। ऐसे नियमों का अभिप्राय यह था कि छात्र इतना कोमल न हो जाय कि गांव और नगर की सड़कों पर बिना जूते के चल न सके।[158] यद्यपि, जंगलों से यज्ञीय समिधा चुनने तथा उत्तरी भारत की मरूभूमि को पार कर अध्ययन के लिये तक्षशिला जाने वाले विद्यार्थी को जूते और छाते के उपयोग की अनुमति थी। [159] श्राद्ध जैसे धार्मिक अवसरों पर मिष्ठानादि खाने की छूट थी। केश मुंडन के उपरान्त एकाध बार तेल का उपयोग [160] तथा मच्छर और सर्प प्रभावित क्षेत्रों में खाट पर शयन की अनुमति थी।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शैक्षिक नियमों का ध्येय छात्र जीवन में पवित्रता का संचार करना, उन्हें शिष्टाचार की शिक्षा देना और आत्मसंयम के माध्यम से वासनाओं को रोकना था। वासना दमन का तात्पर्य उसका निर्मूलन नहीं था। ब्रह्मचर्य

व्रत पर बल इसलिए दिया जाता था, ताकि छात्र एकाग्र मन से अध्ययन करते हुए तन एवं मन दोनों का समुचित विकास कर उसे स्वस्थ बना सके। ब्रह्मचर्य जीवन के उपरान्त प्रत्येक शिक्षार्थी को गृहस्थ जीवन में प्रवेश की अनुमति थी। स्पार्टा में विद्यार्थियों को सादा भोजन और अल्पाहार की सलाह दी जाती थी, लेकिन प्राचीन भरत में भोजन की सादगी और उसकी पवित्रता पर जोर दिया जाता था। चूंकि, प्राचीन शिक्षाविद् इस मत के थे कि बाल्य और युवावस्था ही शारीरिक विकास और गठन का उपयुक्त समय होता है, अतः उन्होंने शारीरिक आवश्यकता के अनुसार ही भोजन करने का निर्देश दिया था। जहाँ तक भिक्षावृत्ति का प्रश्न है, इसके पीछे एक महान् सामाजिक उद्देश्य छिपा हुआ था कि निर्धनतम छात्र भी अपनी योग्यतानुसार विद्याध्ययन कर सके। अमीरी के कारण किसी छात्र में अहंकार की भावना का संचार न हो और निर्धनता के कारण किसी छात्र में हीन भावना का विकास न हो। इससे सभी वर्ण के छात्रों में सामाजिक दायित्व और सामाजिकता की भावना का विकास होता था।

यह एक वैज्ञानिक सच है कि जो व्यक्ति अत्यधिक संघर्षशील होता है, चाहे उसका संघर्ष शारीरिक हो या मानसिक, उस व्यक्ति का शरीर उतना ही बलवान और मस्तिष्क उतनी ही प्रखर व पुष्ट होती है। सदाचार के जो नियम बने थे, उसके पीछे दार्शनिक लॉक की भावना विद्यमान थी। उसका मानना था कि बच्चों की इच्छाओं का दमन शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व ही कर देना चाहिए। किन्तु, प्राचीन शिक्षाविद् प्रत्येक बच्चे को 8'9 साल की अवस्था तक पूरी स्वतन्त्रता देने के पक्ष में थे। तदुपरान्त, वे छात्र जीवन में सहज एवं सादगीपूर्ण तथा कठोर एवं अनुशासित जीवन के पक्षधर थे। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन उनके लिये अनिवार्य था।

विद्यार्थी की दिनचर्या

प्राचीन भारत में शैक्षिक पाठ्यक्रमों का स्वरूप काफी विस्तृत था और प्रत्येक विद्यार्थी अपनी अभिरूचिनुसार विषयों का चयन कर विशेषाध्ययन करते थे। अतः भिन्न

– भिन्न विषय के शिक्षार्थियों की पृथक –पृथक दिनचर्या होती थी। धर्म और साहित्य के शिक्षार्थी प्रातः चार बजे उठ जाते थे।[161] वेदाध्ययन से सम्बद्ध विद्यार्थी व्रह्म मुहूर्त का अधिकांश समय हवनादि कार्यों के सम्पादन में लगाते थे। ऐसा करने से उन्हें यज्ञों का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त होता था। अन्य विषय के विद्यार्थी स्नान – ध्यान के उपरान्त अपना अधिकांश समय नये पाठ को पढ़ने और पुराने पाठ को दुहराने में लगाते थे। यह क्रम ग्यारह बजे तक चलता था, तदुपरान्त वे भोजन के लिए प्रस्थान करते थे। आचार्य के सान्निध्य में रहने वाले अंतेवासियों को पका पकाया भोजन मिल जाता था, जबकि अन्य छात्रों को भोजन एकत्र करने हेतु बस्ती में जाना पड़ता था। भोजनोपरान्त और अल्पविश्रामोपरान्त पुनः दो बजे से अध्ययन कार्य प्रारम्भ हो जाता था, जो शाम तक चलता था। जातक साहित्य से पता चलता है कि वे सांध्य बेला में यज्ञीय कार्य के लिए समिधादि एकत्र करने के लिये भी जाते थे।[162] किन्तु, समिधा एकत्र करने का कार्य केवल वैदिक शिक्षार्थी ही करते थे और वह भी आरम्भिक काल में। संध्या का अधिकांश समय व्यायामादि में व्यतीत होता था। सूर्योस्तोपरान्त संध्या–वंदन, हवन और फिर भोजन। निर्धन छात्र, जो दिन में आचार्य की गृहस्थी या उनके खेतों में काम करते थे, रात्रि का अधिकांश समय अध्ययन में लगाते थे। मूर्तिकला, वास्तुकला, चित्रकला तथा काष्ठकला जैसे शिल्पों के विद्यार्थी प्रायः दिन भर गुरू के सान्निध्य में रहकर विषय सम्बन्धी बारीकियों का सूक्ष्म और व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करते थे। इस समय वे गुरू के कार्यों में सहयोग भी प्रदान करते थे। इससे उनका व्यवहारिक ज्ञान और दृढ होता था। इस प्रकार प्रत्येक छात्र को चाहे वह धर्म का विद्यार्थी हो या शिल्प का उसे ऐसे सांचे में ढाल दिया जाता था, जो उसके भावी जीवन का प्रतिरूप होता था।

विद्यार्थी का कर्त्तव्य और उसका निष्ठाव्रत

प्राचीन भारत में प्रत्येक विद्यार्थी अपने शिक्षक को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। वह अपनी सौम्यता, शिष्टता, सदाशयता और गुण सम्पन्न व्यवहार से गुरू

को आकृष्ट करता था। अपने जीवन को अनुशासनात्मक और आदर्शात्मक बनाने हेतु वह नियम संयम का दृढ़ता पूर्वक पालन करता था। माता–पिता और देवता की भांति गुरू के प्रति आदर व सम्मान प्रदर्शित करना उसका परम कर्तव्य माना गया था। [163] सदाचार और शिष्टाचार के साथ अत्यन्त निष्ठापूर्वक गुरूकुल के नियमों का पालन करना, समय से उठाकर आचार्य का अभिवादन करना, नीचे के आसन पर बैठना, भड़कीले वस्त्र, सुखासन और अलंकारों से अपने को दूर रखना, असत्य एवं अपशब्द संभाषण, वाद विवाद और चुंगलखोरी जैसे दुर्गुणों से अपने को दूर रखते हुए गुरू द्वारा प्रदत्त दायित्वों का निष्ठापूर्वक निर्वहन करने के साथ ही साथ इंद्रिय–निग्रह पर बल देना प्रत्येक छात्र का धर्म था। गुरू के प्रति उच्च सम्मान की भावना प्रदर्शित करने के साथ ही साथ बुद्ध[164] और आपस्तम्ब [165] जैसे मनीषी यह व्यवस्था देते है कि यदि आचार्य में किसी प्रकार की बुराई लक्षित हो, तो छात्र एकान्त में उसका ध्यान आकर्षित करे। यदि वह बुरे कार्यों में संलग्न हो तो उसे सम्मानपूर्वक रोके। धर्माचरण से च्युत हो जाने पर शिष्य उसकी आज्ञा न मानने के लिये स्वतंत्र था।[166] यदि शिष्य कोई पाप करता था तो उसके लिये आचार्य को ही दोषी समझा जाता था। [167]

ब्रह्मचर्य का पालन करना प्रत्येक विद्यार्थी का धर्म था। ऐसी मान्यता थी कि इसका पालन करने वालों में तेजोमय ब्रह्म और देवता अधिवास करते है। [168] समिधा, मेखला, मृगचर्म और लम्बे बाल, इत्यादि धारण करने वाले श्रमशील एवं तपस्वी ब्रह्मचारी लोगों को समुन्नत करता था। [169] यह उल्लेख मिलता है कि आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषध्यिां, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरूष उत्पन्न हुआ है।[170] अतः जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह समस्त भोगों को प्राप्त कर लेता है।

आचार्य कुल में वह विद्यालाभ प्राप्त करते हुए भिक्षाटन, अग्नि परिचर्या ओर गोसेवा से सम्बन्धित कार्य भी करता था।[171] आचार्य के निर्देश पर जब वह भिक्षावृत्ति

अपनाता था, तब अपनी विनम्रता एवं सेवाभाव प्रदर्शित करता था, जब वह समिधादान करता था, तब अपनी आत्मा और मन को तेजोमय ब्रह्मचर्य से दीप्त करता था तथा जब गोचारण करता था तब वह स्वच्छ वायु और सुन्दर प्रकृति में विचरण करते हुए वातातपिक जीवन जीता था। [172] इंद्रिय – निग्रह और जप – तप प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये अनिवार्य था। क्योंकि, प्राचीन शिक्षाविदों की यह मान्यता थी कि यदि एक भी इंद्रियां विषयाक्त रहती है, तो उससे ब्रह्मचारी की बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार चमड़े के बर्तन के एक छिद्र से समस्त पानी बहकर नष्ट हो जाता है। [173] मनु के अनुसार जो शिक्षार्थी नित्य सूर्योपासना और संध्योपासना तथा ध्यान औरवंदन नहीं करता, उसे शूद्र की भांति समझा जाना चाहिए। [174] अतः प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये यह आवश्यक था कि वह प्रतिदिन सूर्यापासना, और संध्योपासन कर्म करते हुए ध्यान और वंदन कर स्नान करते समय जल क्रीडा से दूर रहे, अपने केशों को गुच्छा बनाकर रखे अथवा शिखायुक्त मुंडन करवा ले, किसी स्त्री से संभाषण न करे, सूर्योदय से पूर्व स्नान कर ले, गुरू को सदैव 'भगवन' 'श्री' या 'आचार्य' 'जी' कहकर संबोधित करे, अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व आचार्य का पैर छूकर आशीर्वाद ले और हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक बैठ जाय। इस प्रकार वह तन, मन एवं वचन से अपने इंद्रियों को वश में करके गुरू की आज्ञा की प्रतीक्षा करता था। छात्र की कर्तव्यनिष्ठा के संबन्ध में आरूणि की कथा का दृष्टान्त प्रासंगिक है जिसके अनुसार एक बार आचार्य ने उसे खेत का मेंड बांधने के लिये भेजा, किन्तु जल के तीव्र प्रवाह के कारण जब वह मेड को बांधने में असफल रहा तब वह स्वयं उस स्थान पर लेट गया, जहाँ मेड़ की मरम्मत करनी थी। सूर्योस्तोपरान्त वापस न लौटने पर आचार्य की व्यग्रता बढ़ने लगी और वेउसे ढूंढते हुए उस स्थान तक जा पहुंचे जहां वह लेटा हुआ था। आरूणि को इस अवस्था में पाकर वे भाव विभोर हो उठे और उसे चलने के लिये कहा। आरूणि ने उठते ही आगे के कार्य के लिये आदेश मांगा, जो उसकी कर्तव्य निष्ठा और गुरू भक्ति का परिचायक

था। महाभारत में ऐसे अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं। शिष्य इतंग ने अपनी अपार सेवा और विश्वास से आचार्य गौतम को इतना अधिक प्रसन्न एवं अपने ऊपर निर्भर बना लिया था कि उसे अपने आचार्य से वृद्धावस्था में भी मुक्ति नहीं मिली। एक दिन उसने अपने आचार्य से कहा कि वह गुरू सेवा में इतना अधिक तल्लीन रहा कि वह वृद्धावस्था का आना भी नहीं जान पाया है और न ही जीवन के अन्य सुखों से परिचित हो सका। [175] ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि तत्कालीन शिक्षार्थी 12–12 वर्षो तक अपने आचार्यो के निर्देश पर उनकी गायें चराया करते थे। यह उनकी निष्ठाव्रत का ही परिचायक था।

दुपट्टे के बाहर अपना दाया हाथ किये हुए वे गुरू के समक्ष खड़े रहते थे और उनका आदेश मिलने पर ही बैठते थे। उनके उठने से पूर्व उठ जाते थे। न तो स्वयं कभी उनकी निन्दा करते थे और न ही उनकी निन्दा सुनना पसन्द करते थे। इस प्रकार अपने कार्य व्यवहार, आचरण, तप एवं व्रत से आचार्य को तृप्त करते थे। [176] समिधा आदि के लिए उन्हें दुर्गम जंगलों में भी जाना पड़ता था, लेकिन उन्हें जूते, छाते, रथ आदि के उपयोग की अनुमति नहीं थी। [177] किन्तु विशेष परिस्थिति में वे इसका उपयोग कर सकते थे। यह व्यवस्था संभवतः इसलिए दी गयी थी, जिससे वे कठोर, परिश्रमी, सहनशील, अनुशासित एवं स्वावलम्बी बन सके तथा हर परिस्थिति के लिए तैयार रहे। परिधान में वे मृग चर्म का प्रयोग करते थे, जो 'उत्तरीय एवं 'वास' के रूप में होता था। शयन कार्य हेतु कुश की चटाई का इस्तेमाल होता था, क्योंकि खाट पर सोना उनके लिये वर्जित था। वे विलम्ब से सोते थे तथा पहले जग जाते थे। इस प्रकार गुरूकुल में रहकर प्रत्येक छात्र न केवल संयम और नियम से परिचित होते थे।[178] बल्कि जितेन्द्रिय, आत्मविजयी, कर्तव्यपरायण, विनीत, शीलवान और प्रतिभा – सम्पन्न छात्र बनते थे। [179] उन्हें निष्ठा भाव से संयम नियम का पालन करना पड़ता था। [180]

शिष्य अपने आचार्यों को ब्रह्मा की मूर्ति के समान समझते थे। [181] और वे उसी

रूप में उनकी सेवा व अभिवादन कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करते थे। संध्या, स्नान, जप, होम, स्वाध्याय और अतिथि पूजन जैसे षड् कर्मो के साथ ही साथ अपने आचार्यों के लिये नित्य जल, दातून और आसान आदि की व्यवस्था करना भी उनका धर्म था।[182] इस प्रकार गुरू सेवा को अपना परम धर्म समझते हुए [183] उनके हित लाभ के लिये सर्वदा प्रयत्नशील रहते थे [184] तथा प्रत्येक प्रहर उनकी सेवा में रत रहते हुए [185] अपने अभीष्ट (विद्या) की प्राप्ति में सफल होते थे। [186] ऐसा उल्लेख मिलता है कि वाण ने भी अपने गुरू की वंदना की थी। [187]

आचार्य कुलों में निवास करने वाले छात्रों के पास प्रायः धन का अभाव रहता थां जातक साहित्य से विदित होता है कि शिक्षार्थी काशीकुमार से एक ब्राह्मण का भिक्षा पात्र टूट गया। इस पर उसे चिन्ता होने लगी कि उसे कैसे लौटाया जाय। उसने उस पात्र को लौटाने की प्रतिज्ञा की लेकिन, यह प्रतिज्ञा उसके घर लौटने पर ही पूरी हो सकी, क्योंकि उस समय उसके पास धन नहीं था। [188] यह छात्र जीवन की सादगी को रेखांकित करता है।

शिक्षक की सेवा शुश्रूषा

जिस प्रकार कोई पुत्र अपने पिता की और दास अपने स्वामी की सेवा करता है उसी प्रकार गुरू की सेवा करना प्रत्येक विद्यार्थी का धर्म माना गया था। [189] प्रतिदिन समय से जल और दातून पहुंचाना, उसका आसन लगाना और उठाना तथा स्नान के लिये जल की व्यवस्था करना शिष्य का परम कर्तव्य था। [190] आवश्यकता पड़ने पर आचार्य के बर्तन और वस्त्र भी साफ करते पड़ते थे। [191] तथा छोटे – छोटे अन्य कार्य भी करने पड़ते थे, जैसे कमरों की सफाई, ईधन की व्यवस्था और पशुओं की देख भाल आदि। वैदिक काल के बाद इस परम्परा का और विकास हुआ।[192] लेकिन बाद में ह्रास होने लगा। दंत कथाओं से ज्ञात होता है कि कृष्ण जैसे महापुरूष भी अपने छात्र जीवन में गुरू की सेवा करने में गौरवान्वित महसूस करते थे। इस प्रकार गुरू सेवा सभी के लिये अनिवार्य था, क्योंकि इसके बिना ज्ञान की पूर्णता संभव नहीं थी।[193]

यद्यपि, इसकी भी एक सीमा थी। छात्रों से ऐसा कोई काम नहीं लिया जाता था जिससे उसका अध्ययन कार्य बाधित हो। शुल्क देने वाले विद्यार्थियों से ये कार्य नाममात्र को लिये जाते थे। किसी भी छात्र को शिक्षा देने से इंकार नहीं किया जा सकता था। अतः निर्धन छात्रों का शिष्यत्व महज सेवा के आधार पर ही स्वीकार किया जाता था। जातक साहित्य से विदित होता है कि तक्षशिला में जो छात्र गुरू दक्षिणा अग्रिम चुका देते थे, उन्हें आचार्य के घरों में ज्येष्ठ पुत्र की भांति रहने की अनुमति थी तथा उनसे गृह सम्बन्धी कोई विशेष कार्य नहीं लिया जाता था। किन्तु, कृष्ण का दृष्टान्त इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक विद्यार्थी आचार्य के हित लाभ के लिए सन्नद्ध रहते थे तथा उनसे हर तरह का सहयोग लिया जा सकता था। 'धम्मान्तेवासी' शब्द का उल्लेख इस बात का प्रमाण है कि शुल्क मुक्त विद्यार्थी गुरू सेवा हेतु तत्पर रहते थे तथा गुरू द्वारा दिये कार्य को करना अपना नैतिक कर्तव्य समझते थे। इस प्रकार उनकी शिक्षा पूर्णतया गुरू सेवा पर ही आश्रित थी। श्रम के कारण उनका अध्ययन कार्य बाधित न हो, इसलिए रात्रि के समय उनके अध्ययन का प्रावधान था।[194] नालन्दा जैसे प्रसिद्ध बौद्ध शिक्षण केन्द्रों पर जहां विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदत्त की जाती थी, लौकिक विषयों का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों से जो निःशुल्क भोजन और आवास की व्यवस्था चाहते थे, उनसे श्रम दान लिया जाता था।[195] किन्तु, समावर्तन एवं उपसम्पदा संस्कार के उपरान्त किसी भी छात्र से सेवा लेने का कोई दृष्टान्त नहीं मिलता। ऐसा भी कोई उल्लेख नहीं मिलता कि कुलीन छात्र, निर्धन छात्रों से सेवा लेते हो। इस प्रकार विद्यार्थियों के मध्य एक दूसरे की सेवा लेने का कोई प्रावधान नहीं था।[196] गुरू कीसेवा करना ही प्रत्येक विद्यार्थी का धर्म माना गया था।

विद्यार्थियों के लिये भिक्षा का प्रयोजन

प्राचीन शिक्षाविदों ने ऐसा प्रावधान कर रखा था कि प्रत्येक विद्यार्थी नियमित रूप से भिक्षाटन करे और जो कुछ भी उसे प्राप्त हो, गुरू की सेवा में लाकर अर्पित

कर दे। इस प्रकार भिक्षा मांगना प्रत्येक विद्यार्थी का धर्म माना गया था। वैदिक काल से ही भिक्षा सम्बन्धी बहुतेरे उदाहरण मिलते है। [197] इस कार्य को वह नित्य सुबह–शाम सम्पन्न किया करता था। [198] मनु के अनुसार वह गुरू के कुल में, अपने कुल में और अपने जाति समूह जाकर भिक्षा नहीं मांगता था। [199] श्रेष्ठ और योग्य गृहपतियों के अभाव में वह मौन धारण कर महापातकियों को छोड़कर पूरे ग्राम में भिक्षा मांगता था।[200] दोपहर का समय भिक्षाटन के लिए वर्जित था। [201] क्योंकि, यह समय प्रत्येक कार्य के लिए अपवित्र समझा जाता था। प्रायः प्रत्येक गृहस्थ आगन्तुक ब्रह्मचारियों को विभिन्न खाद्य सामग्री भिक्षा में देते थे, [202] जिसे वह साहर्ष स्वीकार करता था। [203] इस प्रकार प्रत्येक गृहस्थ का यह धर्म माना गया था कि वह आगन्तुक ब्रह्मचारी को भिक्षा प्रदान करे। [204] विष्णु स्मृति के अनुसार ब्रह्मचारी यति और भिक्षु का जीवन प्रायः गृहस्थों पर ही निर्भर होता था। [205]

इस प्रकार भिक्षाटन की परम्परा से प्रत्येक जिज्ञासु शिक्षार्थी अपेक्षित शिक्षा प्राप्त करने में सफल होते थे। उन्हें विनय की शिक्षा मिलती थी तथा उनमें सामाजिकता की भावना का विकास होता था। इस परम्परा को हतोत्साहित करने वाली गृहिणियों से दान–हवन से प्राप्त पुण्य, पशु, कुल की विद्या और धनादि वापस ले लेने का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मचारियों के समूह को भिक्षा दिये बिना वापस लौटाना पाप समझा जाता था। इस कर्तव्य से विचलित होने वाले प्रत्येक गृहस्थ को दैवी कोप का भय दिखलाया गया था। [206] यह परम्परा गलत स्वरूप धारण न कर ले इसके लिए स्पष्ट निर्देश था कि प्रत्येक विद्यार्थी उतनी ही भिक्षा मांगे जितनी उसे आवश्यकता हो। अधिक संचय करने की स्थिति में उसे चोरी का पाप लगता था। [207] भिक्षा में प्राप्त अन्न, वस्त्रादि गुरू को सौंप देने का प्रावधान, था। [208] ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति के उपरान्त कोई भी स्नातक भिक्षा मांगने का अधिकारी नहीं था। [209] अपवाद की स्थिति में (गुरू दक्षिणा अर्पित करने के उद्देश्य से) भिक्षा में प्राप्त धन गुरू को सौंप देने का प्रावधान था।

यदि किन्हीं कारणों से गुरू उसे लेने से इंकार कर दे तो उसे किसी धार्मिक कार्य में लगाने की व्यवस्था थी। लेकिन, स्नातक या उसका परिवार उस धन का उपयोग व्यक्तिगत कार्य के लिये नहीं कर सकते थे। [210] इस प्रकार गुरू दक्षिणा अर्पित कर देने के उपरान्त कोई भी स्नातक भिक्षा मांगने का अधिकारी नहीं था। द्रष्टव्य है कि मध्यकालीन यूरोप में भी भिक्षाटन की परम्परा थी और शिक्षार्थियों का जीवन इसी पर आश्रित होता था।

विवेच्य युग के उत्तरकाल में शिक्षार्थियों के लिये भिक्षाटन एक अनिवार्य धर्म नहीं रहा। सभी छात्रों से इस नियम के अक्षरशः पालन की आशा नहीं की जाती थी। यदि कोई विद्यार्थी सप्ताह में एक बार भी भिक्षा मांग ले तो उसे कोई दोष नहीं लगता था।[211] इस प्रकार कुलीन छात्रों के लिये यह महज प्रतीकात्मक ही रहा। [212] किन्तु निर्धन छात्रों से इसकी सम्यक् पालन की अपेक्षा की जाती थी और यह उनके लिये एक अनिवार्य धर्म बना रहा।[213] निःसन्देह इस व्यवस्था के कारण छात्रों के अन्दर असमानता का भाव जागृत हुआ होगा। कुलीन छात्रों के लिये यहाँ तक व्यवस्था दी गयी कि यदि संभव हो तो वे आचार्य के घर पर ही भोजन करे। [214] इस परिवर्तन के पीछे तत्कालीन सामाजिक,धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ सहायक रहीं। इस समय बौद्ध शिक्षा का विकास अपने चरमोत्कर्ष पर था और सम्बन्धित शिक्षण संस्थाएं अपने छात्रों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं करने लगी थी। वस्तुतः गुरूकुलीय व्यवस्था के अन्तर्गत विकसित ब्राह्मण शिक्षण संस्थाएं भी परिवर्तित व्यवस्था को आत्मसात करने लगी। परिणामतः भिक्षाटन की परम्परा को आघात लगना स्वाभाविक था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि तक्षशिला में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिये भोजन और आच्छादन की व्यवस्था आचार्य स्वयं करते थे। नालन्दा, सालोत्गी और एन्नायिरम् के शिक्षण संस्थाओं को सम्भ्रान्त व्यक्तियों द्वारा पर्याप्त धन उपलब्ध कराये जाने के कारण संस्थान के व्यवस्थापकों की ओर से प्रत्येक विद्यार्थियों को निःशुल्क

भोजन और आवास की व्यवस्था सुलभ करायी जाती थी। कभी – कभी दयालु एवं उदार जन स्वयं इसका प्रबंध कर देते थे, जैसे काशी के छात्रों के लिये अन्न छत्र खुले हुए थे।[215] ऐसे संस्थानों के विद्यार्थियों के लिए भिक्षाटन अनिवार्य नहीं था, बल्कि उनकी बुनियादी आवश्यकताओं (भोजन, वस्त्र, आवास, औषधि इत्यादि) की आपूर्ति भी संस्थान कीओर से की जाती थी।[216] निःसन्देह, इस व्यवस्था के कारण शिक्षा में अर्थ की प्रधानता बढ़ी, छात्रों का व्यवहारिक ज्ञान, आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन की प्रक्रिया बाधित हुई और धनलोलुप समाज का निर्माण होने लगा।

इस प्रकार भिक्षाटन धर्म, जो प्रारम्भ में सभी छात्रों के लिये अनिवार्य था, जिसके कारण निर्धनतम छात्र भी अपेक्षित शिक्षा प्राप्त करते थे, का विकास बाधित हुआ। इसके कारण सभी छात्रों को संयम और विनय की शिक्षा मिलती थी। वे विनीत भाव से जीवन के हर पक्ष का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करते थे। किसी भी छात्र में अमीरी के कारण अहंकार और गरीबी के कारण हीन भावना का विकास नहीं होता था। जीवन का सर्वांगीण विकास और कुंठारहित समाज का निर्माण उनका ध्येय होता था।

सन्दर्भ -

1. यथा घटप्रतिच्छन्ना रत्नराजा महाप्रभाः।

   अकिंचित्करता प्राप्तारद्वद्विद्याश्चतुर्दश।।

   याज्ञ., 1.212 की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धृत।

2. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम् कृणुते गर्भमन्तः।

   अ.वे., 11.5, बौ.ध.सू. 28.38–39, गौ. ध.सू., 1–10, मनु., 2.170.

   बौ. ध.सू., 1.2.48 का कथन है कि श्रोत्रिय को कभी भी संतानहीन नहीं समझना चाहिए। उसके छात्र ही उसके पुत्र है।

3. कठोपनिषद्, 11–9, नैषा मतिस्तर्कोणपनेया प्रोक्तान्येव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।

   मुण्डकोपनिषद्., 1.2.3, तद्विज्ञानाय गुरूमेवाभिगच्छेत्सामित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं।

4. छां. उप., 4.9.3 श्रुतं, हमें में भगवद् दृशेभ्य आचार्याद्धेव विद्या विदिता सधिष्ठं प्रापतीति .... |

5. वही, 4.5.9,.......... अन्ये मनुष्येभ्य इतिह प्रति यज्ञे भगवांस्त्वेव ये कामे ब्रूयात्।

6. तै. उप. 1.11.2, आचार्य देवो भवः।

7. श्वे., उप., 6.23 यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथा गुरो।

8. मुण्डकोपनिषद्, 1.2.12, तद्विज्ञानार्थ स गुरूमेवा भिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्।

9. प्रश्न. उप., 1.11,

10. क. उप., 1.2.8, सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

11. तै. उप., 1.11, आचार्य देवो भवः।

    छां. उप., 6.14.2., आचार्यवान् पुरूषो वेद।

    द्रष्टव्य : धर्मपाल, गुरू – शिष्य परम्परा इनका विचार है कि गुरू के सन्निध्य आशीर्वाद से ही ज्ञान की पूर्णता संभव थी। गुरू ही समस्त शंकाओं एवं संज्ञयों से मुक्त कर वैज्ञानिक बुद्धि विकसित करता था।

12. अर्थव, 1.5.3, आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम् कृणुते गर्भमन्तः।

    तं रात्रीस्तिसु उदेर विभर्ति तं जातुं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।

13. निरूक्त, 1.4, आचार्यः कस्मात्। आचार्य आचारं ग्रह्यति।

14. मनु., 2.140,

    उपनीय तु मः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।

    संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य प्रचक्षते।।

15. व्यास., वेदैकनिष्ठं धर्मज्ञं कुलनं श्रोतियं शुचिम्।

    स्वाशाखाज्ञमनालस्यं विप्रं कर्ता रमीप्सितम्।।

16. मनु., 2.141, एकदेश तु वेदस्य वेदागन्यपि वा पुनः।

    योअध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्चते।।

17. वही, 2.142, निषकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरूच्यते।।

18. श. ब्रा., 4.2.4.1

बृ. उप., 3.3.1

19. छां. उप., 5.3.1.

20. वृह. उप., 5.2.1.

त्रयाः प्रजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूधुर्देवा मनुष्या असुर उषित्वा।

21. वही, 6.2.1 अनुशिष्टीडन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच।

22. प्रा. भा. शिक्षण पद्धति, अल्तेकर, पृ. 27

23. वृह. उप. 6.2.7. वाचाह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायन कीर्त्योवास।

24. छां. उप. 5.3.0,.........

न प्राक् त्वतः पुरा विद्या ब्रह्मणान्गच्छति

तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्।

25. प्रा. भा. शिक्षण पद्धति, अल्तेकर, पृ0 31

26. वृह. उप., 3.7.1,............... नाहं तं0 भगवनत् वैदेति...........।

27. प्रश्नो, 6.1,........... नाहमियं वेद यद्यहमिमवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एव स्थमारूह्म प्रवव्राज।

28. प्रश्नों., 1.1

29. छां. उप., 4.4.5,

कृशानामबलानाम् चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः

सौभ्यानुसंब्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्त्रेणावर्ते येति।

30. बृह. उप., 6.2.7, हिरण्यास्यापातं गौ अश्वानां

दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य........।

तै. उप., 1.4.2, वासांसि मम गावश्य।

अन्नपाने च सर्वदा। ततो में त्रियमावह।

लोमशां पशुभिः सह स्वाहा।

31. तै. उप.,1.4.3, हस्त्यृषभंसहस्रं दादामीति होवाच जनको वैदेहः।

स होवाच याज्ञवल्क्यः पितोमेअमन्यत नानुशिष्य हरेतेति।

32. तै. उप., 1.11.2–3.

33. बौ.गृ.सू., 2.6.

34. सुतसोम जातक, सं. 537.

इत्सिंग, पृ. 177, इत्सिंग का कथन है कि नालन्दा और वलभी के विश्वविद्यालयो में ऊँची कक्षाओं के उन्नत शिक्षार्थी अध्ययन – अध्यापन के निमित्त दो – तीन वर्ष बिताते थे।

35. छां. उप., 5.3.6, 5.11.5

बृह. उप., 5.3.6, 3.7.1, 3.7.23

36. यावज्जीवमधीते विप्रः।

37. म. भा. 5.33.33, प्रवृत्तवाक् चित्रकथः ऊहवान् प्रतिभानवान्।

आशु ग्रंथस्य वक्ता चयः स पंडित उच्यते।।

38. मालविकाः प्रथमांक, शिष्टा क्रियां कस्यचिदात्मसंस्था संक्रांतिरन्यस्य विशेषरूपा। यस्योभ्यं साधु सशिक्षकाणाम् धुरि प्रतिष्ठापतिव्य एव।।

39. क.उ., 11.9, नैषा मतिस्तर्केणापनेया प्रोक्तान्येव सुज्ञाताय प्रेष्ठ।

मु.उ., 1.2.3, लद्विज्ञानाय गुरूमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रेत्रियं ब्रह्मनिष्ठं।

40. प्रश्नो, उप., 6.1, नाहमिमं वेद। यद्यहमिमवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलों वा एष परिशुष्यति योअनृमभिवदति तस्मान्नाहम्यिनृतं वक्तुम्।

41. तै. उप., 1.9.1 ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने। तपश्च स्वाध्यायप्रवचनेचा दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

अग्नयश्च स्वाध्याय प्रचने च।.........................

स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौदगल्यः। तपः तपस्तद्धि तपः।।

42. आ.ध., 1.2.8.24–27, 1.1.11–12

43. मालविका., 1, शिष्टा क्रिया कस्यचिदा संक्रांतिन्यस्य विशेषरूपा।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापदयतव्य एव।।

44. मालविकाः 1.11.32

45. महा. उद्योग पर्व, 44.6,

आचार्य योनिमिह ये प्रविश्य मूत्वा गर्भे ब्रह्मचर्यम् चरन्ति।

इहैव ते शास्त्रकारा भवंति।।

46. आ0.ध0सू0, 1.2.8, पुत्रमिवैनमभिनकांक्षन्।

महावग्ग, 1.32

47. पंचतंत्र, 1.21, अतीत्य बंधूनवलध्य शिष्यानाचार्यमागच्छति शिष्य दोषः।

48. मिलिन्दपन्ह, भाग– 1, पृ0 142.

49. इत्सिंग पृ0, 120, इत्सिंग के वर्णनों से ज्ञात होता है किबौद्ध विहारों में भी यही परम्परा विद्यमान थी।

महावग्ग, 1.2.6, सवयं बुद्ध द्वारा निर्देश दिये गये थे।

50. गो0ब्रा0, 1.1.37, मौद्गल्य से पराजित होने पर मैत्रेय ने तत्काल अपनी पाठशाला बन्द कर ज्ञान की पूर्णता प्राप्त करने हेतु वह अपने प्रतिद्वन्दी का शिष्यत्व स्वीकर किया था।

शंकर और मंडन मिश्र के बीच हुए शास्त्रार्थ की शर्त यह थी कि पराजित को विजयी का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ेगा।

51. वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश में उद्धृत कूर्मपुराण का वचन।

संवत्सरोषिते शिष्ये गुरूर्ज्ञानमनिर्दिशन्।

हरते दुष्कृतं तस्य शिष्यस्य वसतो गुरू।।

अध्यापन 6 माह या साल भर तक छात्रों के चरित्र और उसकी योग्यता पर ध्यान रखते थे। किन्तु, इस अवधि के उपरान्त वे उन्हें पढ़ाने के लिये बाध्य होते थे। ऐसा न करने पर अध्यापक पाप का भागी समझा जाता था।

52. स्मृतिकौस्तुभ में एक कथा मिलती है कि एक वैदिक अध्यापक ने अपना ज्ञान अपने तक ही सीमित रखा, जिसके लिये उसे अगले जनम में आम का पेड़ होने पर स्राप दिया गया।

"सचूत वृक्षो विप्रोअभूद्विद्वान्वै वेदपारगः।

"विद्या न दत्ता विप्रे भ्यस्तेनैव तरूतां गतः।" इस कथा में उध्यापक का बड़ा ही शिष्ट उपहास किया गया है।

53. मिलिन्दपन्ह, 1 पृ0 142.

54. आ0ध0सू0, 11.8–28, आचार्योअप्यनाचार्यो भवति श्रुतात्परिहरभाजः।

55. फर्दर डाइलॉग्स, ऑफ दि बुद्ध अरियपरिवेसन सुत्त, पृ0 116

प्रश्नों 6.1 नाहमिदं वेदः। यद्यवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति।

समूलो वैष परिशुष्यति योअनृतमभिभवति।।

ऋषि भारद्वाज ने अनुभव किया कि उसके शिष्य राजकुमार को शंका हो गयी है कि मै उससे कुछ छिपा रहा हूँ। राजकुमार के प्रति भारद्वाज के वचनों की तुलना अलार कलाम के वचनों से की जा सकती है।

56. बृ. उप., 9.2.4.

छां. उप., 5.11.5.

57. क. उप., 1.19

58. मु. उप., 2.1.1, तथा क्षराय विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते।

59. बृ. उप., 3.7.1............ तमपृच्छाम कोअसीति सोअब्रवीत् कबन्ध आथर्वन इति सोअब्रवीत् पतंजलकत्य याज्ञिकां...........।

60. छां. उप., 6.12

61. महावग्ग, 1.32.1

62. आ.ध. सू., 1.2.8

63. कृत्यकल्पतरू, ब्रह्मचारी कांड, पृ. 240.242

64. कादम्बरी, पृ. 77

65. रामायण, सर्ग 93

66. महा., आदि पर्व, 130–40–42

67. वैखानस धर्म–प्रश्न, 35.13.2.62

68. छां., उप., 5.11.7, 8.7.2, ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्लादमुपसन्नाः। प्रश्नो., 1.1 द्रष्टव्यः स्वामी विवेकानन्द : शिक्षा, नागपुर, पृ0 32, इनका विचार है कि शिष्य गुरू के पास समित्यानि होकर (हाथ में समिधा लेकर) जाता था।

69. छां. उप., 4.2.1, जानश्रुति पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्टकमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमके तंहाभ्युवाद।

70. वही, 4.2.3, शा.भा. तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्वाति..।

71. वृह. उप., 4.1.6.......... याज्ञवलक्यः पिता मेन्मन्यत नाननु शिष्यहरेतेति।

72. विष्णु पुराण, 1.17.48–54

73. अथर्व., 11.3.15

74. जातक, 1, पृ. 272.285; 4 पृ0 50, 224

75. रघुवंश, 3.31

76. विष्णु पु., 3.10.13, गृहीतविद्यो गुरवे दत्वा च गुरूदक्षिणाम्।

77. वही, 5.21.4, उचुर्व्रियतां या ते दातव्या गुरुदक्षिणा।

78. वही, 6.6.39, 38.45–47, खाण्क्यिाय न दत्तेति मया वै गुरुदक्षिणा।

79. मनु, क्षेत्रं हिरण्यं गामशवं छत्रोपान हमासनम्।

धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रतिमावहेत्।।

80. मत्स्य पु., 69.25–47, पूज्येदंगुलीभिश्च कटकै र्हेमसूत्रकैः वसोभिः......... उपाध्यायस्य च द्विगुणम्।

81. महाभारत, आदिवपर्व, 133.2–3

82. छां. उप, 3.11.6, नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येत देव ततो भूय इति।

83. अपरार्क, पृ. 76.

84. मनु., 3.156, शंख, 3.2, वि.धू.सू. 29.9.

85. गौ.ध.सू., 10.9–12, वि.ध.सू., 3.79–80.

86. बृह. उप., 4.1.6 छां. उप., 4.2.1.

87. मिलिन्द पण्हो, 1, पृ0 134–35.

88. जातक, 5, पृ. 263, 3 पृ0 238, 5 पृ. 247.127

89. माल वि., पृ. 17, वेतन दानेन.

90. वही, 1.17, यस्यागमः वेतन जीविकार्य तं ज्ञानपण्यं वणिजं ददन्ति।

91. वसुकृत इंडियन टीचर्स इन बुद्धिस्ट युनिवर्सिटीज पृ0 35.

92. जातक, 1–6

93. राजतरंगिणी, 8.2395–99

94. इपि. इं., 2, पृ. 227

95. मानसोल्लास, 84, पृ. 12.

96. विष्णु पु., 1.6.33, वर्णानामाश्रमाणं च धर्मन्धर्मभृतांवर।
लोकांश्च सर्ववर्णानां सम्यगधर्मानुपालिनाम्।।

97. ऋग्वेद, 10.109.5, ब्रह्मचारी चरति वे विषद् विषः सः देवानः भवत्येकमंगम् वही, 2.1.2......... ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे।
वही, 8.39, येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविच।

98. ऐ.ब्रा., 35.2, तै. सं., 6.2.75, श0 ब्रा.

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्।

गृही भूत्वा वनी भवेत् वनीभूत्वा प्रव्रजेत।।

99. बृह. उप., 4.5.2, मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन् वा अरेअ हमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेअनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति।

100. जा0 उप., 4.

101. महा. शांति पर्व, 191.8, ब्रह्मा पु. 2.7.169, वायु पु. 8.168–69, ततः स्थितेषु वर्णेषु स्थापयामास चाश्रमान्।

गृहस्थो ब्रह्मचारित्वं वानप्रस्थं सभिक्षुकम्।।

102. ब्रह्मांड पु., 2.7.170–71, वायु पु. 8.170–71.

कृतः कर्माक्षिति प्राहुराश्रमस्थानवासिनः।

ब्रह्मा तान् स्थापयामास आश्रमान्नामनामतः।।

103. छा. उप., 2.23.1

104. आ.ध.सू., 2.1.21.1, ब.ध.सू., 7.1.2, गो.ध.सू., 1.3.2, ब्रह्मचारी गृहस्थोभिक्षुर्वेरवानसः।

105. व.ध.सू., 7.1.2, बौ. ध.सू., 2.11.14 ब्रह्मचारी गृहस्थी वानप्रस्थः परिव्राजक इति।

106. महाभाष्य, 5.1.124

107. मनु, 6.87, ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।

एते गृहस्थ प्रभवाश्चत्वार पृथगाश्रमा।।

108. याज्ञ., 1.10–14.

109. स्वामी विवेकानन्द, 'शिक्षा', नागपुर पृ., 15

110. श्री अरविन्द, शिक्षा के आयाम, पृ0 47.

111. महा. शान्ति पर्व, 191.8.

112. संस्कार प्रकाश, पृ. 334.

113. बौ.गृ.सू. 2.8.1.12.

114. ब.ध. सू. 2.6, न ह्यस्मिन्विद्यते कर्म किंचिदामौजिबन्धनात्। वृतया शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायत्।।

115. आ.ध.सू. 4.10.4, बसन्तो ग्रीष्मश्शरदित्यृतवो वर्णाननुपूर्व्येण।।

116. बौ.ध.सू. 1.2.12 गायत्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते।।

117. वही, 2.8.11.2.

118. वि.पु., 3.9.1, बाल कृतोपनयनो वेदाहरणतत्परः।
गुरूगृहे बसेद्भूप ब्रह्मचारी समाहितः।।

119. आ.गृ.सू., 3.8.11.

120. गो.गृ.सू., 2.1.19

121. बौ.गृ.सू., 25.7.8 यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं।

122. गौ.गृ.सू., 1.15, आश्व. गृ.सू., 1.19.11, बौ.गृ.सू., 25.13, आ.,गृ,सू., 1.33–36
मौंजी मेखला त्रिवृद् ब्रह्मणस्य शक्तिविषये दक्षिणावृत्तानाम्।
ज्या राजन्यस्य। मौंजी वास्योमिश्रा। अन्वीसूत्रं वैश्यस्य।

123. आश्व. गृ.सूं. 1.19.8, बौ. गृ.सू., 2.5.16, ब.ध.,सू. 11.61–63, आ. ध.सू., 1.2. 39–41.

124. बौ.गृ.सू., 1.2.42, वि.पु., 3.9 बालः कृतोपनयनो वेदाहरणतत्परः। गुरूगृहे वसेदभूय ब्रह्मचारी समाहितः।।

125. महा. शांतिपर्व, 214.10, सम्यगवृत्ति र्ब्रह्मलोकं प्राप्नुयान्मध्यमः सुरान्। द्विजाग्रयो जायते विद्वान् कन्यसीं वृत्तिमास्थितः।।

126. याज्ञ., 49.51, गुरवे तु वरं दत्वा स्नायाद्व तदनुयज्ञया।
वेदं ब्रतानि वा परं नीत्वा हयुभयमेव वा।।

127. मनु, 2.245, न पूर्व गुरवे किंचिदुप कुर्वीत धर्मवित्।
स्नास्यंस्तु गुरूणाअज्ञप्तः शक्त्या गुर्वथंमाहरते्।।

128. मनु, 2.243–44 यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत् गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविभोक्षणात् 11 आ समाप्ते शरीरस्य यस्तु शूश्रूषते गुरुम् ।। स गच्छत्यंजसा विप्रोः ब्राह्मणः सद्म शाश्वतम्।।

129. याज्ञ., 49.50, नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसंनिधौ। अनेन विधया देहं सादयन्विजितेन्द्रियः। ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहाजायते पुनः।।

130. हारीत स्मृ., 3.13–14 न विवाहो न सन्यासो नैष्ठिकस्य विधीयते। इमं योविधिमास्थाय त्यजेद्देहमतनिद्रतः। नेहभूयोअपिजायेत ब्रह्मचारी दृढव्रतः।

131. पाणिनि, 4.3.130, दण्डमाणवान्तेवासिषु।

132. बृह. उप., 47.7. तै. उप., 1.11.1, छां. उप., 2.23.2, आचार्याकुलवासिन्, अन्तेवासिन्। आ.धू.सू., 11.33, नाम्ना तदन्तेवासिनं गुरुमप्यात्मन इत्येके।

133. बील, पृ. 105–6

134. महाभाष्य, 5.1.94

135. हरित स्मृति, 3.15 ये ब्रह्मचारी विधिना हितश्चरेत् पृथिव्यां गुरुसेवने रतः। सं प्राप्य विद्यामति दुर्लभां शिवां फलच्च्व तस्याः सुलभं तु बिन्दति।।

136. अष्टाध्यायी, 4.4.107, समानतीर्थेवासी।

137. निरूक्त, 2.3, नानुपसन्नाय अनिदंविदे वा। नित्यं ह्मविज्ञातुर्विज्ञानेअसूया।
उपसन्नाय तु विर्ब्रूयात्। यो बालं विज्ञातुं स्यात् मेधाविने तपस्विने वा।

138. मनु, आचार्य पुत्रः शुश्रूषुज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोअर्थदः साधुः स्वोअध्याप्या दर्शधर्मतः।

139. मालविका, पृ0 19.

140. क.उप., 1.1.20–29, तिस्त्रो एत्रीर्यदवात्सीगृहे ये अनश्नन्ब्रहान्नति थिर्नमस्यः।

नमस्तेअस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेअस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृवीष्व।।

141. मत्स्य पु., 35.19, शीलदाक्षिण्यमाधुर्येराचारेण दमेन च।

142. विष्णु पु. 5.21.23, विचिन्त्य तौ तदा मेने प्राप्तौ चन्द्रदिवाकरौ। सांगांश्च चतुरौ वेदान्सर्व शास्त्राणि चैव हि।।

143. मनु. 2.112, धर्मार्यो यत्र न स्यातांशुश्रूषा वाअपि तद्विधा।

तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे।।

144. महाभाष्य, 1.1.56, गुरुववदस्मिन् गुरूपुत्रेअपि वतितव्यमन्य त्रोच्छिष्टमोजनात् पादोपसंग्रहणाच्छ। यदि च गुरूपुत्रो अपि गुरूर्भवति तदपि कर्तव्यं भवति।

145. ब्रह्माण्ड पु., 4.43.68, मनु., 2.175, सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्। सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध यर्थमात्मनः।

146. छां., उप., 4.10.14, बृ, उप., 6.3.12, एतमुहैव सत्यकामाजाबालो अन्तेवासिभ्यः उक्त्वोवाचापि ....।

147. छां. उप., 4.4.2, सा हैनमुवाच नाहमनेतद् वेद तात्।

यद्गोत्रस्त्वमसि। ब्रहव्ह चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्नवेद यद्गोत्रस्वमसि। जबाला तु नामाहमस्मि। सत्यकामो नाम त्वमसि। स सत्यकाम एवं जाबालो ब्रवीथा इति।

छां. उप., तं हेवाच।, नैतदब्राह्मणोविवस्तुमर्हति। समिधं साम्याहरोप त्वानेष्ये। न सत्यादगा इति।

148. छां. उप., 5.11, तान्होवाचाश्वपतिर्वे भगवन्तोअय कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तं हन्ताभ्यागच्छापेति त हाभ्याजग्मुः।

149. बृह. उप., 6.2.4.

150. वही, 2.1 स होवाच गार्ग्यः – उप त्वायानीति।

स होवाचाजात शत्रुः– प्रतिलोमं चैतद् यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद ब्रह्म मे

वक्ष्यतीति। व्येवत्वा क्षपयिष्यामीति।

कौ. उप., 4.1

151. कौ.ब्रा., छो. उप. 4.1–3, मै., उप.

152. आ.गृ.सू., 3.8, अनुलेपनेन प्राणी प्रलिप्य मुखमग्रे ब्रह्मणोअनुलिम्पेत, बाहूराजन्यः, उदरं वैश्यः उरू सरणजीविनः

153. सुत्तनिपात

154. उत्तराध्ययन, 12.1

155. अष्टाध्यायी, 5.2.134

156. मनु. 2.175..... याज्ञ 1.28... गौ.ध.सू., 1.22....... द्रा. गृ.सू. 2.5 आदि।

157. जुन्ह जातक की कथा है कि काशी के राजकुमार से एक ब्राह्मण का भिक्षापात्र टूट गया। उसने प्रतिज्ञा की कि मैं बदले में इसे दूसरा भिक्षा पात्र दे दूंगा, पर यह तभी संभव है जब मैं अपने देश लौट जाऊं। इससे सिद्ध होता है कि उन्हें जेब खर्च नहीं मिलता था। जातक भाग 5 पृ0 456

158. न ग्रामो पान्हौ–द्रा. गृ.सू. 5.1

159. तिलमुट्ठि जातक सं. 152 में काशी से तक्षशिला जाने वाले ब्रह्मचारियों को जूता और छाता ले जाते हुये दिखलाया गया है।

160. 11वीं शती के तिरुभुखुइल के विद्यार्थियों को यह सुविधा दी जाती थी। ए.ई. जिल्द 21, पृ0 223

161. तैत्तिरीय संहिता, 6.4.3 ऐतरेय ब्रा., 2.15.

162. जातक, सं0 150.

163. मनुः 2.200, चरक संहिता विमानस्थान, 8.4, तमग्निवच्च देववच्च राजवच्च पितृवच्च मातृवचचाप्रभतः परिचरेत्।

164. महावग्ग, 1.25, 11.21

165. आ.ध.सू. 1.2.6.13, प्रमादानाचार्यस्य बुद्धिपूर्वक विनित्यांतिक्रमं रहसि बोधयेत्।

166. गौ.ध.सू. 3.1.15, आचार्याधीनो भवति अन्यत्राधर्माचरणात्। गुरोरपयवलिप्तस्य

कार्याकार्यमजानतः।।

म.भा, 1.140.54, उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्।।

167. अथर्व., 11.3.15, शिष्यपापं गुरोरपि।

168. वही, 11.5.84, ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजर विभर्ति।

तस्मिन् देवा अधि विश्वे निदेषुः।

169. वही, 115.17, म.पु. 25–23, ब्रह्मचर्य चरिष्यामि त्वय्यहं परमं गुरो।

170. तै. उप., 2.1 ब्रह्मविद्याप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म। यो वेद मिहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोअश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेपि। तस्माद्वा एत स्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्य पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। औषधीभ्योअन्नम्। अन्नापुरुषः। स वा एष पुरुषोअन्नरसमयः।

171. छां. उप., 4.3.5, 4.10.2, 4.4.5

श.ब्रा., 3.6.2.15

172. श.ब्रा., 11.5.4.5

173. मनु., 2.97, वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसिच।

न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छति कहिंचित।

174. वही, 2.99, इंद्रियौणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।

तेनाष्य क्षरति प्रज्ञा हतेः पादादिवोदकम्।

175. महाभारत, आदिपर्व, 3.21–30, 3.79, 3.34–37.51 अश्वेयधिज पर्व, 55.15–16

176. अथर्व., 6.108.2, 133.3, आचार्य तपसा पिपर्ति मनु., 2.192–201 द्रष्टव्यः लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, पृ. 27.2 इनका विचार है कि जो ब्रह्मचारी समावर्तन तक अग्नि की सेवा, भिक्षाचरण, पृथ्वी पर शयन, गुरू की सेवा और उनका हित करता था, वहीं श्रेष्ठ ब्रह्मचारी माना जाता था।

177. जातक, सं0 252

178. रघुवंश, 3.31, 1.95, 3.31

179. शब्दानुशासन, 21.31, वयं विनीतास्तन्नो गुरवो मानयन्ति युवां शीलवन्तो तद्वां गुरवो मान्यन्ति, आवां शीलवन्तौ तन्नौ गुरवो मानयन्ति।

 2.1.33 एते मेधाविनो विनीता अथो ऐते शास्त्रस्य पात्रम्, एतस्मै सूत्रं देहि एतस्मै अनुयोगमति देहि।

180. विक्रमोर्वशीः 5

181. म.पु., 211–21, आचार्यो ब्राह्मणो मूर्तिः।

182. महावग्ग, 1.25.11–12

183. महाभारत, 5.36.52, गुरु शुश्रूषया ज्ञानं शांति योगेन विदन्ति।

184. मनु., 2.191, चोरितो गुरुणानित्यम प्रचोदित एवं वा।

 कुर्यादध्ययनं यत्नमाचार्यस्य हितेषु च।।

185. ग्यारहवीं शती का भारत, पृ. 168.

186. मनु., 2.218, यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।

 तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति।।

187. हर्षचरित, पृ. 45, वन्दित चरणै रम्यनुज्ञातो गुरुभिः।

188. जातक, 5.456.

189. पुत्रवद्दासवदर्थिवच्चानुचरता त्वया...........।

190. म.ब्र., 1.25, 11–12.

191. वही, 1.25, 2 गुणग जातक सं. 157.

192. गो.ब्रा. 1.2.1–8.

193. महा. 5.36.52 गुरु शुश्रूषया ज्ञानं शांति योगेन विन्दति।

194. तिलभुद्दिजातक, सं0 252 धम्मं तेवासिका आचारियस्स कम्भं कत्वारत्तिं

सिप्पयुग्गणहन्ति आचारियभागदायका गेहे जेट्ठपुत्ता विय हत्वा सिप्पमेव उग्गणहन्ति। हिन्दू धर्मशास्त्रों में ऐसा भेद नहीं किया गया है।

195. तत्मिंकुसु—इसग, पृ. 106

196. आ.ध.सू., 1.4.13.17, न समावृझे समादेशोविद्येते। ब्रह्मणि मिथो विनिर्योगे न गतिर्विद्यते। ब्रह्म वर्धत इत्युपदिशन्ति।

197. अथर्व., 11, 5—9, गो.गृ.सू., 2—10, द्रा. गृ. सू., 2.5—16, मनु., 1.65

198. अथर्व., 10.5.9, श.ब्रा., 11.3.3.5, ब्रह्मचारी अहरीर्भूत्वा मिक्षते।

गो.गृ.सू. 2.10, जै.गृ.सू., 1.18, आ.ध.सू.0, 1.1—3.24—5

199. मनु., 2.184

200. वही, 2.183—185, सर्व वाअपि चरेद् ग्राम पूर्वोक्तनाम संभवे।

नियक्य प्रयतो वाचमभिशस्वांस्तु वर्जयेत्।।

201 स्मृति चंद्रिका, पृ0 111, शाकभक्षाः पयोपक्षाः ये चान्ये यावभक्षिणः। सर्वे ते भैक्षभिक्षस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।।

202. विष्णु पुः 3—11:80

203. वायु पुः, 8.174, गुरु शुश्रूषणं भैक्षं ब्रह्मचारिणः।

204. गो.ध.सू., 5.16, विष्णु पु. 3.95, भिक्षान्नमश्नीयात्।

205. विष्णु स्मृति, 59.27, ब्रह्मचारी यतिर्भिक्षु र्जीवन्त्येत्रे गृहाश्रमात्।

तस्मादभ्यागतानेतान्गृहस्थो नावमान्येत्।।

206. आ.ध.सू., 1.1.26, 1.2.24—25, स्त्रीणां प्रत्याचक्षाणानां समाहितौ ब्रह्मचारिष्टं। दतं हुतं प्रजां पशून ब्रह्मवर्चसमन्नद्यावृंके। तस्मादु हवै ब्रह्मचर्य रिसघं चरन्तं न प्रत्याच क्षीतापि हैत्वेवषिध एवव्रतः स्यादिति हि ब्राह्मणम्।।

207. वी.मि.सं. में मनु का वचन, आहारदधिकं वर्णो न क्वाचिद्भैक्षमाचरेत।

युज्यते स्तेयदोषेण कामतोअधिक माहरन्।

208. आ.ध.सू. 1.3.3, यदन्यानि द्रव्याणि यथालाभमुपहरति दक्षिणा एवं ताः।

209. बौ.ध.सू., 2.1.53, शं. ब्रा., 11.3.3.7, समावृतस्य भिक्षाअशुचिकरा।

210. आ.ध.सू., 2.7.15 समावृत्तो मात्रे दयात्। माता पितरम्। भर्त्ता गुरुम्। धर्मकृत्ये वा विनियोज्यते्। रघुवंश में कौत्स की एक प्रसिद्ध कथा है। गुरू दक्षिणा के निमित्त एक स्नातक महाराज रघु के पास गया। उन्होंने उसे जो धन दिया, वह गुरु दक्षिणा से अधिक था। वस्तुतः स्नातक अधिक धन लेने के लिये तैयार नहीं हुआ।

211. बौ.ध.सू., 1.2.82

212. बौ.ध.सू., 1.2.52, न चैनं सप्तम्यभिक्षिता यायात्।

213. स्मृतियों में इस बात के संकेत मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सभी छात्र भिक्षा नहीं मांगते थे।

वी.मि.सं., पृ. 486, सुमन्तु का कथन है कि 12 वर्ष से कम आयु के शिक्षार्थियों को प्रातः ही खाना खा लेना चाहिए। इससे बड़े आयु के छात्रों को ही अन्न की भिक्षा मांगना चाहिए।

अश्नीयादष्टवर्षस्तु ब्रह्मचारी प्रगे सदा।
तदूर्ध्वमाद्वादशाब्दा दशनीयात्संगवे सदा।।
तदूर्ध्व गृहिवादि्भां भोजनं च समाचरेत।।
कृष्णार्जिन भी इसी मत के समर्थक थे।

214. मा.गृ.सू., 1.1.3, भैक्षाचार्यवृत्तिः स्यात्।
मनु 2.142

215. लोसक जातक सं0, 41 (500 ई0पू0) तथा बर्नियर पृ. 142 (17 वीं शती) दोनों धनी नागरिकों द्वारा निर्धन छात्रों को खिचड़ी बाटने का वर्णन करते हैं।

216. बील–जीवनी, पृ0 1131

* * * * *

चतुर्थ अध्याय

प्राचीन भारत की शैक्षिक संरचना

प्राचीन भारत की शैक्षिक संरचना

शिक्षा और संस्कार

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति आदर्शवाद पर आधारित थी, जो किसी सिद्धांत विशेष के अनुसार ही शिक्षा देना पर्याप्त नहीं समझती थी, अपितु विभिन्न संस्कारों के माध्यम से आदर्श जीवन गठन की व्यवस्था करती थी। इस प्रकार संस्कार शिक्षा का मूलाधार था, जिसके द्वारा शिक्षार्थी का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता था।

संस्कार का सामान्य अर्थ है कि किसी वस्तु को ऐसा रूप देना जिसके द्वारा वह अधिक उपयोगी बन जाय।[1] शबर के मतानुसार संस्कार के माध्यम से व्यक्ति किसी कर्म के योग्य हो जाता है।[2] ''संस्कार प्रकाश'' में ''संस्कार'' को शरीर एवं आत्मा का उच्च गुण बताया गया है।[3] तंत्रवार्तिक में योग्यता को धारण करने वाली क्रिया ही संस्कार कही गयी है।[4] संस्कारों के माध्यम से मनुष्य जीवन की सभी भावी क्रियाओं को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने में अभ्यस्त होता है।[5] संस्कार प्रकाश में कहा गया है कि जिस प्रकार चित्र कर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए विविध रंग जरूरी है। उसी प्रकार शुद्धता या चरित्र निर्माण भी विभिन्न संस्कारों द्वारा होता है।[6] कुल्लूक के अनुसार संस्कार एक ओर परलोक में यज्ञ आदि के फलस्वरूप शुद्धता और दूसरी ओर इहलोक में वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान करता हैं।[7] सामान्यतया यह समझा जाता था कि संस्कारों के अनुष्ठान से व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।[8]

आलोच्यकाल में प्रचलित ब्राह्मण शिक्षा पद्धति एवं बौद्ध शिक्षा पद्धति के अंतर्गत निम्नलिखित संस्कारों का विधान था, जिसका छात्र जीवन से गहरा सम्बन्ध था।

ब्राह्मण शैक्षिक संस्कार – विद्यारम्भ, उपनयन, श्रावणी, उत्सर्जन, समावर्तन और यज्ञोपवीत आदि।

बौद्ध शैक्षिक संस्कार – प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षा।

विद्यारम्भ संस्कार

'विद्यारम्भ'[9] संस्कार को कुछ विद्वानों ने 'अक्षरस्वीकरण' भी कहा है, जो शिक्षा प्रारम्भ होने से पूर्व सम्पन्न होता था। अपरार्क और चन्द्रिका ने मार्कण्डेय पुराण को उद्धृत करते हुए विद्यारम्भ की अवस्था पांच वर्ष निर्देशित की है।[10] संस्कार प्रकाश और संस्कार रत्नमाला में भी 5 वर्ष की अवस्था को उत्तम माना गया है।[11] उपनयन से पूर्व इसे अवश्य ही सम्पन्न किया जाता था।[12] तदुपरान्त उसे गुरू को सौंप दिया जाता था। गुरू सोने या चाँदी के कलम से, जो इसी अनुष्ठान के लिए बनवाया जाता था, चावल के दानों पर वर्णमाला के सभी अक्षरों को उससे लिखवाता था। गुरू एवं आंमत्रित अन्य विद्वानों को यथोचित उपहार वितरित करने के उपरान्त यह संस्कार सम्पन्न माना जाता था।

श्रुति भाष्य और व्याकरण शास्त्र जैसे पाठ्यक्रमों का विकास होने पर लेखन कला का जन्म हुआ और शिक्षा का आरम्भ 'अक्षरस्वीकरण' नामक संस्कार से होने लगा। बहुत समय तक यह संस्कार 'चौलकर्म' के साथ ही सम्बद्ध रहा। इसकी पुष्टि कौटिल्य के लेख से होती है, जिसके अनुसार चौलकर्म के साथ लिपि का ज्ञान कराया जाता था।[13] कालिदास ने भी चौल कर्म के साथ लिपि ज्ञान का उल्लेख किया है।[14] लव और कुश को भी चौल कर्म के साथ लिपि का ज्ञान कराया गया था।[15] स्पष्ट है कि अक्षरस्वीकरण का उल्लेख जिन ग्रन्थों में मिलता है वे बहुत बाद के हैं। चौल कर्म संस्कार जन्म के 7वें वर्ष में सम्पन्न होता था। इसके अंतर्गत रखी जाने वाली शिखा उसकी संख्या और उसके स्वरूप का वैदिक ऋषियों से घनिष्ठ सम्बन्ध था।[16] अतः यह

सम्भावना बनती है कि आरम्भ में चौलकर्म और विद्यारम्भ संस्कार का आयोजन एक ही साथ होता रहा हो।

उपनयन संस्कार

शैक्षिक संस्कारों के अंतर्गत उपनयन को विशेष महत्व प्राप्त था। सुव्यवस्थित और सुनियोजित शिक्षा का आरम्भ 'उपनयन संस्कार' से माना जाता था।[17] इसके अंतर्गत आचार्य ब्रह्मचारी को एक नये जीवन के लिए उत्प्रेरित कर स्वीकार करता था। तदुपरान्त उसे 'द्विज' कहा जाता था। उपनयन शब्द 'उप' (समीप) और 'नयन' (ले जाना) से बना है, जिसका अर्थ है–समीप ले जाना अर्थात वह संस्कार जिसके द्वारा ब्रह्मचारी गुरू के समीप जाता था।[18] इस संस्कार के उपरान्त ही शिक्षार्थी का ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था।[19] और उसे 'ब्रह्मचारी' की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था। उपनयन से रहित व्यक्ति न तो द्विज की श्रेणी में आता था और न उस वर्ण या जाति का सदस्य ही माना जाता था, जिसमें वह जन्म लेता था। उसे समस्त धार्मिक कार्यो से वंचित कर दिया जाता था।[20] इस प्रकार तीनों उच्च वर्ण के लिए यह एक अनिवार्य संस्कार था, जो पूर्णरूपेण शिक्षा से सम्बद्ध था और इसके उपरान्त ही गुरू के सान्निध्य में शिक्षा प्रारम्भ होती थी। पुराण साहित्य से भी विदित होता है कि शिक्षा का प्रारम्भ उपनयनोपरान्त ही संभव था। राजा सगर को आचार्य और्व ने उपनयन के उपरान्त ही वेदाध्ययन कराया था।[21] जड़ भरत को उपनयनोपरान्त ही शिक्षा के लिए निर्देशित किया गया था।[22] कृष्ण और बलराम भी सान्दीपति ऋषि के उपनयनोपरान्त ही शिक्षा प्राप्त करने गये थे।[23] शिवदत्त ने अपने पुत्रों को उपवीत के उपरान्त ही सांगोपांग वेदाध्ययन प्रारम्भ कराया था।[24] चरित्रहीन और अयोग्य शिक्षार्थियों को उपनयन से वंचित रखने का उल्लेख मिलता है।[25] अध्यापक बदलने या छात्र जीवन में ही विवाह संस्कार सम्पन्न कर अध्ययन जारी रखने की स्थिति में पुनः उपनयन सम्पादित करने का विधान मिलता है।[26] इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए

उपनयन संस्कार अनिवार्य था, जिनसे ब्रह्मचारी को विद्यामय शरीर और ज्ञानयुक्त मस्तिष्क प्राप्त होता था।

उत्तर काल में वैदिक साहित्य में पर्याप्त बृद्धि होने के कारण उसके संरक्षण एवं संवर्द्धन हेतु उपनयन और वैदिक साहित्य का अध्ययन प्रत्येक आर्य के लिए अनिवार्य कर दिया गया तथा यह निर्देशित किया गया कि जो आर्य उचित समय पर उपनयन से संस्कारित नहीं होगा, उसे न केवल वैवाहिक सुख से वंचित कर दिया जायेगा, बल्कि उसे अपने वर्ण एवं जाति से भी अलग कर दिया जायेगा। निःसंदेह, इस प्रकार के प्रतिबन्धों से वैदिक शिक्षा के प्रचार–प्रसार में पर्याप्त सहायता मिली।

राजबली पाण्डेय का मत है कि प्रारम्भ में उपनयन ऐसे व्यक्तियों के लिये निषिद्ध था जो शिक्षा प्राप्त करने में जन्मजात विकारों के कारण अक्षम था।[27] लक्ष्मीधर के अनुसार पागल और गूंगे व्यक्ति का उपनयन संस्कार नहीं करना चाहिए।[28] आपस्तम्ब के अनुसार जो शूद्र न हो, बुरे कार्य और मदिरापान नहीं करता हों उनका ही उपनयन संस्कार करना चाहिए।[29] निर्णयसिंधु में पद्म पुराण के इस कथन को उद्धृत किया गया है कि शिक्षा और यज्ञोपवीत को शूद्र न धारण करे।[30] लेकिन मध्यकाल आते–आते नपुंसक, बधिर, पंगु, जड़, तोतले, विकलांग, उन्मत्त आदि के लिए उपनयन संस्कार के विधान का उल्लेख है।[31]

जहां तक उपनयन की प्राचीनता का प्रश्न है, प्रारम्भ में जिज्ञासु शिक्षार्थी अपने गुरू के पास ही रहते थे, अतः उस समय तक इस संस्कार की आवश्यकता नहीं थी। स्मृति साहित्य से विदित होता है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक कई ऐसे परिवार थे, जहां एक दो पीढ़ी तक यह संस्कार नहीं होता था।[32] दीर्घकाल तक पिता ही शिक्षक की भूमिका का निर्वहन करते थे।[33] प्रारम्भ में यह संस्कार अत्यंत ही साधारण था। आचार्य की मौखिक स्वीकृति ही पर्याप्त मानी जाती थी।[34] ऋग्वेद[35] और अथर्ववेद में उपनयन का उल्लेख मिलना यह प्रमाणित करता है कि उस समय इसका आयोजन

होता था। जबकि, ब्राह्मण साहित्य में इसका विस्तृत उल्लेख मिलना इसके प्रसार को रेखांकित करता है।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र में ब्राह्मण को बसंत ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य को शरद ऋतु में उपनयन से संस्कारित करने का विधान मिलता है।[36] ब्राह्मण के लिये गायत्री मंत्र, क्षत्रिय के लिए त्रिष्टुभ मंत्र और वैश्य के लिए जगती मंत्र को आधार माना गया था।[37] इस प्रकार द्विज वर्ण के सभी शिक्षार्थी उपनयन के अधिकारी थे।[38] और उपनयन के उपरान्त उनका ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था।[39]

जहां तक स्त्रियों का प्रश्न है, प्रारम्भ में उनका भी उपनयन एवं समावर्तन संस्कार होता था।[40] तथा वे भी ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थीं। यह स्थिति सूत्रकाल तक बनी रही। विवाह के समय यज्ञोपवीत धारण करने का निर्देश दिया जाना[41] भी उनके उपनयन संस्कार को प्रमाणित करता है। लेकिन उत्तरकाल में यह संस्कार प्रतीकात्मक मात्र रह गया और विवाह संस्कार को ही उनका उपनयन स्वीकार कर लिया गया। चूंकि द्विजों के लिए विवाह के पूर्व उपनयन संस्कार का होना अनिवार्य माना गया था। अतः विवाह होने का तात्पर्य था, उपनयन का सम्पादित होना।

तीनों वर्ण के शिक्षार्थियों के लिए भिन्न–भिन्न उपनयन का विधान मिलता है। सूत्र साहित्य के अनुसार क्रमशः 8,11 और 12 वर्ष की नियोजना थी।[42] मनु के अनुसार, ब्राह्मण–पुत्र का 8वें वर्ष में, क्षत्रिय पुत्र का 11वें वर्ष में, एवं वैश्य पुत्र का 12वें वर्ष में उपनयन संस्कार होना चाहिए।[43] ब्राह्मण बालक श्वेतकेतु का इसी अवस्था में उपनयन संस्कार हुआ था।[44] शिक्षित ब्राह्मण परिवार में 7 वर्ष की अवस्था में ही नैतिक शिक्षा प्रदत्त करने का उल्लेख[45] एवं उपनयन संस्कार का विधान मिलता है।[46] यद्यपि, बौधायन जैसे कतिपय स्मृतिकार 8 से 16 वर्ष के मध्य किसी भी समय को उपनयन हेतु उचित मानते थे।[47] ब्राह्मणों का उपनयन अपेक्षाकृत कम आयु में होने का प्रधान

कारण यह था कि बहुधा उनका परिवार शिक्षित होता था और उनके पिता ही प्रायः आचार्य की भूमिका का निर्वहन करते थे। जबकि, क्षत्रिय एवं वैश्य परिवार के बच्चे शिक्षा के लिए अपने कुटुम्ब को छोड़कर ब्राह्मण आचार्यों के पास जाते थे। अतः ग्यारह और बारह वर्ष की अवस्था को गृह त्याग हेतु उपयुक्त समय माना जाता था।, क्योंकि इस अवस्था तक वे अपने परिवार से अलग रहकर स्वयं अपनी देखभाल करने योग्य हो जाते थे। कालान्तर में पाठ्यक्रमों का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण ब्राह्मण शिक्षार्थी विशेषाध्ययन के निमित्त दक्ष आचार्यों के पास जाने लगे। प्रारम्भ में जब वैदिक मंत्रों को लिपिबद्ध करना हेय समझा जाता था तथा व्याकरणशास्त्र का विकास नहीं हुआ था, अल्पायु (5–6 वर्ष की अवस्था) में ही शिक्षा प्रारम्भ कर दी जाती थी। चूंकि, अल्पायु में उपवीत छात्र सावित्री मंत्रों का सही उच्चारण नहीं कर सकता था, अतः यह व्यवस्था दी गयी थी कि उन्हें सावित्री मंत्र की शिक्षा एकाध वर्ष बाद दी जाये।[48]

यद्यपि समय–समय पर उपनयन संस्कार की आयु सीमा को लेकर विवाद होता रहा, किन्तु अधिकांश शिक्षाविद् इस मत के थे कि उपनयन संस्कार अल्पायु में ही सम्पन्न होना चाहिए, क्योंकि उन्हें भय था कि अधिक उम्र में शिक्षा प्रारम्भ करने पर शिक्षार्थियों का मस्तिष्क इंद्रियों के राग–द्वेष में फंसने लगेगा और वे अपने को एकाग्रचित नहीं कर पायेंगे। चूंकि, प्रारम्भ में वैदिक शिक्षा मौखिक दी जाती थी, जिसके लिए मस्तिष्क का एकाग्र होना आवश्यक था। अतः इस दृष्टि से उनका चिंतन वैज्ञानिक था।

गृह्यसूत्रों और स्मृतियों में उपनयन संस्कार के बारे में विवरण मिलता है कि इस समय बालक एक मेखला धारण करता था जो तीनों वर्णों के लिए अलग–अलग निर्धारित की गई थी। ब्राह्मण बालक मूंज की, क्षत्रिय धनुष की डोरी की, और वैश्य ऊन के धागे की कोंधनी धारण करता था।[49] उनके डण्डे भी अलग–अलग लकड़ियों के होते थे। ब्राह्मण ढाक या बेल का, क्षत्रिय बरगद का, वैश्य गूलर का डण्डा धारण

करता था।[50] वह यज्ञोपवीत भी धारण करता था।[51] आचार्य इसके बाद बालक से पूछता था कि क्या वह वास्तव में अध्ययन करने का इच्छुक है और ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा करता है।[52] बालक के इन दोनों बातों का पूर्व आश्वासन देने पर ही आचार्य उसे अपना शिष्य बनाता था और कहता था कि तू आज से मेरे कहने के ही अनुसार कार्य करेगा।[53] इसके बाद आचार्य गायत्री मंत्र का अर्थ शिष्य को समझाता था।

कालान्तर में जब यह विचार दृढ़ होता गया कि कलियुग में ब्राह्मण एवं शूद्र केवल दो वर्ण ही होंगे।[54] तब क्षत्रिय एवं वैश्य क्रमशः शूद्र करार दिये जाने लगे। अतः उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होना स्वाभाविक था। इसके मूल में बौद्ध एवं जैन धर्म का उद्‌भव तथा क्षत्रिय एवं वैश्यों का उनसे जुड़ाव रहा। उन्होंने संस्कृत को उपेक्षित लोक भाषा, स्वीकार किया तथा प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा के अन्तर्गत विभिन्न धर्मेत्तर विषय को भी शिक्षा में सम्मान जनक स्थान प्रदान कर उन्हें प्रोत्साहित किया।इस प्रकार क्षत्रिय एवं वैश्य समुदाय के लोग बौद्ध शिक्षा से जुड़ते चले गये, और अपने व्यवसाय में अत्यंत दत्तचित्त होने के कारण वैदिक शिक्षा से क्रमशः विमुख होते गये। स्त्रियां भी बौद्ध शिक्षा की ओर उन्मुख होने के कारण वैदिक शिक्षा से वंचित होती गयीं और सूत्रकाल के उपरान्त उन्हें शूद्र के रूप में स्वीकार कर लिया गया। विवाह संस्कार को ही उनका उपनयन स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा के प्रचार–प्रसार के कारण ब्राह्मणों द्वारा स्थापित सामाजिक मान्यतायें ध्वस्त होने लगीं। परिणामतः स्त्रियों के साथ–साथ क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के शिक्षार्थियों को भी उपनयन से वंचित कर उन्हें शूद्र घोषित कर दिया गया।

हिन्दू शिष्टाचार में धार्मिक कृत्यों के समय शरीर के ऊपरी भाग को वस्त्र से ढ़के रखने का विधान मिलता है।[55] प्रारम्भ मे जब कातने–बुनने की कला अज्ञात थी, तब मृग चर्म का इस्तेमाल होता था। किन्तु कातने–बुनने की कला का ज्ञान होते ही

मृग चर्म का स्थान वस्त्रों ने ले लिया। जिसका निर्माण परिवार के सदस्यों द्वारा किया जाता था।[56] उत्तरीय ब्रह्मचर्य का प्रतीक एवं यज्ञोपवीत का पूर्वज माना जाता था।

उत्तरीय संस्कार के उपरान्त शिक्षार्थी को अग्नि के समक्ष लाया जाता था, जहां उसे समिधा देना पड़ता था तथा उच्चारित मंत्रों द्वारा बुद्धि, मेधा और बल में वृद्धि की प्रार्थना की जाती थी।[57] पवित्र भावना को बनाए रखने हेतु भग, यम, आर्यमा और सविता जैसे वैदिक देवी–देवताओं की प्रार्थना उससे करायी जाती थी। सविता, जो अधिष्ठाता देव के रूप में स्वीकृत थे, रोग, चोट, मृत्यु, इत्यादि से उसकी रक्षा करते थे।[58] इस आराधना के द्वारा यह विश्वास पैदा किया जाता था कि मुसीबत में देव उसकी रक्षा करेंगे।[59]

अगली क्रिया में उसे एक प्रस्तर पर खड़ा कर उपदेश दिया जाता था कि वह अध्ययन में उस पत्थर की भांति अटल रहेगा।[60] शिक्षाविदों की ऐसी मान्यता था कि किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए मजबूत इच्छाशक्ति उद्देश्य के प्रति निष्ठा और कार्य के प्रति एकाग्रता का होना आवश्यक होता है।

अश्मारोहण संस्कार के उपरान्त आचार्य के सम्मुख उसे उपस्थित किया जाता था, जहां आचार्य उससे पूछता था कि तुम किसके ब्रह्मचारी हो।[61] छात्र का उत्तर होता था कि मैं आपका ब्रह्मचारी हूँ। आचार्य संशोधन करते हुए कहता था कि नहीं तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो और पहले अग्नि तुम्हारा आचार्य है फिर मैं ! और उसका दायां हाथ पकड़ते हुए कहता था कि मैं सविता की आज्ञा से तुम्हें शिष्य रूप में स्वीकार कर रहा हूँ।[62] तदुपरान्त उसके हृदय पर हाथ रखकर कामना करता था कि तुम्हारे और मेरे बीच प्रेम और विश्वास सर्वदा बना रहे।[63] इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षक और शिक्षार्थी का सम्बन्ध अत्यन्त पुनीत होता था और पूर्ण सद्भावना, सहानुभूति तथा हार्दिक विश्वास और प्रेम से ही शिक्षा की प्रगति सम्भव थी। इस प्रकार गायत्री मंत्र के उच्चारण के साथ वेदों की शिक्षा प्रारम्भ होती थी। प्रत्येक ब्रह्मचारी

प्रातः और सांध्य बेला में उल्लिखित सावित्री मंत्र का पाठ करते थे–"ओम् भूर्भूव स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्"।[64] शिक्षाविदों का ऐसा विश्वास था कि छात्रों का सर्वांगीण विकास, स्वस्थ शरीर और अच्छी स्मरण शक्ति के साथ–साथ स्फूर्ति एवं तीक्ष्ण बुद्धि से ही संभव है और मनुष्य इसी के बल पर प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है।[65] अतः प्रत्येक ब्रह्मचारी में मजबूत शरीर, तीक्ष्ण बुद्धि और प्रखर स्मरण शक्ति की कामना स्वाभाविक थी।

गायत्री मंत्र को आत्मसात् कर लेने के उपरान्त प्रत्येक ब्रह्मचारी को एक डण्डा दिया जाता था, जो यात्रा का प्रतीक होता था। डण्डा धारण करते समय ब्रह्मचारी यह प्रार्थना करता था कि इस दुर्गम मार्ग पर मेरी यात्रा मंगलमय हो।[66] डण्डा उसे सतर्क प्रहरी बनने के लिए उद्बोधित करता था।[67] वनों सें समिधा लाने के लिए जाते समय, अंधकार में चलते समय, किसी अज्ञात नदी या सरोवर में घुसते समय वह उनमें आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना भरने में सहायक होता था।[68] आवश्यकता पड़ने पर वे उसका उपयोग आचार्य के पशुओं को एकत्र करने के लिए भी करते थे।

प्रत्येक ब्रह्मचारी से यह आशा की जाती थी कि वह अपना भरण–पोषण भिक्षाटन के द्वारा कर लेगा और यह कार्य उपनयन के दिन से ही प्रारम्भ हो जाता था। किन्तु प्रथम दिवस इसका स्वरूप प्रतीकात्मक ही होता था। क्योंकि, उस दिन वह उन्हीं से भिक्षा मांगता था, जो उसकी मांग को ठुकराते नहीं थे। सर्वप्रथम वह अपनी माता, बहन एवं अन्य संबंधियों के पास जाता था। इस प्रकार भिक्षाटन की अनिवार्यता उसके अन्दर विद्यमान अहंकारों का दमन कर सामाजिक व मानवीय दायित्वों का बोध कराने में एक मनोवैज्ञानिक की भूमिका का निर्वहन करता था।

ऐसी अवधारणा थी कि उपनयन के पश्चात् तीन दिन तक आचार्य उसे अपने गर्भ में धारण करता है और चौथे दिन उसका आध्यात्मिक जन्म होता है। इसके कारण छात्र मनोवैज्ञानिक दबाव महसूस करते थे। धारणा शक्ति और बुद्धि को प्रखर बनाने

हेतु मेधाजनन संस्कार भी होता था। इस अवसर पर यह प्रार्थना की जाती थी कि उसकी मेधा गाय की भांति आकर्षक, सांड (वृषभ) की भांति शक्तिशाली और सूर्य की रोशनी की भांति प्रखर हो तथा वह सभी क्षेत्रों में प्रभावकारी हो।[69] यह संस्कार उपनयन की समाप्ति का सूचक माना जाता था।

इस प्रकार उपनयन संस्कार ब्रह्मचर्य की मर्यादा, शिष्टता और आत्मसंयम को अपने अंदर समेटे हुए था। ब्रह्मचारी को यह बोध कराया जाता था कि ज्ञान की यात्रा लम्बी और कष्टकारी होती है। अतः उसमें लक्ष्य के प्रति एकाग्रता, अध्ययन के प्रति निष्ठा तथा आचार्य और उसके मध्य सद्भावना होने पर ही, उसकी सफलता का मार्ग प्रशस्त होगा। ईश्वर की सहायता और आशीर्वाद के बिना न तो वह सभी बाधाओं को पार कर पायेगा और न ही अपने उद्देश्य में सफल हो पायेगा।[70] निष्ठा, लगन, विश्वास और दृढ़ निश्चय के साथ चलने पर वह अवश्य अपने उद्देश्यों में सफल होगा तथा उसका व्यक्तित्व इन्द्र की भांति विकसित होगा और मेद्या अग्नि शिखा की भांति चमकेगी।

श्रावणी

श्रावणी पूर्णिमा से जब खेतों में बीज उगने लगते थे, तब शिक्षण–सत्र प्रारम्भ होता था।[71] अतः इन छन्द सामुपाकर्म (वैदिक ज्ञान का उपार्जन) को 'श्रावणी' [72] संस्कार कहा जाता था। आरम्भ में शैक्षिक पाठ्यक्रम सीमित होने के कारण 5–6 माह का समय वैदिक ज्ञान के लिए पर्याप्त होता था। अतः छन्दसामुत्सर्जन संस्कार (वार्षिक अध्ययन की समाप्ति) पौष या माद्यी पूर्णिमा तक सम्पन्न हो जाने का उल्लेख मिलता है। कालांतर में जब शैक्षिक पाठ्यक्रमों का क्षेत्र व्यापक हो गया तो वेदों के साथ–साथ वेदांग, ब्राह्मण साहित्य, न्याय, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण आदि की भी शिक्षा दी जाने लगी। परिणामतः शिक्षण–सत्र पूरे वर्ष भर चलने लगा और 'उत्सर्जन संस्कार' फरवरी–मार्च में होने लगा।

स्मृति साहित्य के अनुसार शिक्षा के निमित्त जब ब्रह्मचारी एकत्र होते थे, तब आचार्य इस संस्कार को सम्पादित करता था।[73] ऐसी मान्यता थी कि मुख्य आचार्य जितने तिलों का नैवेद्य चढ़ायेगा उसे उतने ही शिष्य प्राप्त होंगे,[74] जो आचार्य अधिकाधिक शिष्यों की कामना करते थे उनके लिए पूजाअर्चना का विशेष विधान मिलता है।[75] इस दिन कई आचार्यों द्वारा अपने शिक्षार्थियों को भोजन पर आमंत्रित करने का भी उल्लेख मिलता है।[76] इस प्रकार यह संस्कार शिक्षक और शिक्षार्थियों के मध्य पारिवारिक प्रेम और सौहार्द की भावना पैदा करता था तथा इन दिनों से वार्षिक सत्र का प्रारम्भ माना जाता था।

शिक्षाविदों ने यह अनुभव किया था कि गृहस्थों के लिए भी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे वह वर्ष में कम से कम एक बार अपने पूर्व ज्ञान की आवृत्ति कर सकें। श्वेत केतु ने यह व्यवस्था दी थी कि गृहस्थों को भी न्यूनतम दो माह अपनी पूर्व पाठशाला में व्यतीत करना चाहिए।[77] यद्यपि, अधिकांश विद्वानों की राय थी कि किसी भी गृहस्थ के लिए अपना व्यवसाय छोड़कर दो माह व्यतीत करना अव्यवहारिक होगा। अतः पूर्व ज्ञान की आवृत्ति के लिए उन्होंने वर्षाकाल का समय निर्धारित किया तथा यह व्यवस्था दी की 'श्रावणी संस्कार' में प्रत्येक गृहस्थ भी सम्मिलित हो और पूर्व में पढ़े हुए पाठ की आवृत्ति के लिये वे प्रतिज्ञा करें। इस प्रकार इस संस्कार में सम्मिलित होने वाले प्रत्येक गृहस्थ अपने घर पर ही यथासम्भव ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए पूर्व ज्ञान की आवृत्ति करते थे।[78] स्पष्ट है कि 'श्रावणी संस्कार' का विधान न केवल सत्र आरम्भ के लिए था, बल्कि गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले पुराने शिष्यों के पूर्व ज्ञान की आवृत्ति के लिए भी था।

यद्यपि, विभिन्न वैदिक सम्प्रदाओं में श्रावणी का स्वरूप पृथक–पृथक था, लेकिन सभी में एक ही भावना विद्यमान थी। सत्र के आरम्भ में वैदिक एवं यज्ञीय देवताओं को अर्ध्य प्रदान करना, ज्ञान, धारणा और कल्पना के देवताओं की आराधना के साथ अपने

प्राचीन ऋषियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना, उनका उद्देश्य था।[79] इससे नवागंतुक छात्र न केवल पूर्वजों के ऋण को समझते थे, बल्कि उनके आदर्शों पर चलने के लिए उत्प्रेरित भी होते थे। गृहस्थ भी अपने पूर्व ज्ञान को आधुनिक प्रगति से जोड़कर उसे और समर्थ बनाते थे।

प्रत्येक ब्रह्मचारी श्रावणी संस्कार का एक साधारण अंग था। इस संस्कार के समय वह अपने पुराने यज्ञोपवीत, डण्डा, मेखला आदि का परित्याग कर नये यज्ञोपवीत, डण्डा, मेखला आदि धारण करता था।[80] आज भी सत्र–आरम्भ के दिन प्रायः सभी विद्यार्थी नये वस्त्र धारण करते हैं।

समावर्तन

शिक्षा की समाप्ति पर वर्तमान दीक्षान्त समारोह की भांति, इस संस्कार का आयोजन होता था, और इसे 'समावर्तन' या 'स्नान संस्कार' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। समावर्तन का शाब्दिक अर्थ है, 'लौटना', जिसे शिक्षा समाप्ति के उपरान्त घर लौटने के अर्थ में लिया जाता था। पाणिनि ने अध्ययन की समाप्ति को 'समापन' कहा है[81] और ब्रह्मचारी को 'स्रग्वी'। इस अवसर पर ब्रह्मचारी को स्नान कराये जाने के कारण इसे स्नान संस्कार के नाम से अभिहीत किया गया[82] तथा ब्रह्मचारी को स्नातक की संज्ञा से सम्बोधित किया गया। कतिपय स्मृतिकारों का मत है कि, उन शिक्षार्थियों का समावर्तन नहीं होना चाहिए, जो वेदपाठी तो होते थे, लेकिन उनका अर्थ वे नहीं जानते थे।[83] प्रारम्भ में शिक्षा समाप्ति के उपरान्त यह संस्कार सम्पन्न होता था और शिक्षार्थी गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते थे।किन्तु, उत्तरकाल में इसका मूल स्वरूप विस्मृत हो गया और उपनयन तथा समावर्तन जैसे महत्वपूर्ण शैक्षिक संस्कारों का विधान सबके लिए अनिवार्य कर दिया गया। परम्परा को बनाये रखने के उद्देश्य से विवाह संस्कार से पूर्व इसे आयोजित करने की प्रथा चल पड़ी।[84] इस प्रकार यह संस्कार अपने मूल स्वरूप को खोकर प्रतीकात्मक बनता गया।

किसी शुभ दिन को प्रातः काल से ही ब्रह्मचारी को कमरे के अंदर रखा जाता था। ऐसा संभवतः सूर्य को उस अपमान से बचाने के लिये किया जाता था, जो उसे अपने से भी अधिक दीप्यमान के दर्शन से सहना पड़ता था। लोक मान्यता थी कि स्नातक के तेज से ही सूर्य चमकता है।[85] निश्चित रूप से यह विश्वास प्राचीन शिक्षा के महत्व को दर्शाता है।

मध्यान्ह में कमरे से बाहर निकलकर हाथ मुंह धोने के बाद उसका मुण्डन संस्कार होता था। तदुपरान्त वह मेखला, डण्डा, अजिन इत्यादि का परित्याग करता था, जो उसके ब्रह्मचर्य जीवन के प्रतीक थे। आचार्य स्वयं उसे सुगंधित जल से स्नान करवाकर उन सभी वस्तुओं को उसे प्रदान करता था, जो ब्रह्मचर्य काल में उसके लिए वर्जित था। जैसे– नये वस्त्र, सुगंधित द्रव्य, आभूषण, माला, अंजन, उष्णीय छत्र और पद्–त्राण आदि। प्रत्येक अभिभावक से यह आशा की जाती थी कि उक्त सभी वस्तुएं अपने साथ दो–दो की संख्या में लायेंगे। एक आचार्य के लिए, दूसरा स्नातक के लिए।

इस समय सम्पन्न होने वाले ओम अनुष्ठान के साथ यह कामना की जाती थी कि उसे अधिकाधिक संख्या में शिष्य प्राप्त हों।[86] इसी समय आचार्य उसे मधुपर्क (मधु और घी मिश्रित पदार्थ) का सेवन कराता था,[87] तथा उसे स्नेहपूर्वक गृहस्थ जीवन में पदार्पण करने के लिए आह्वाहित करता था।[88] तदुपरान्त वह रथ या हाथी पर आरूढ़ होकर विद्वत् सभा में उपस्थित होता था जहां आचार्य उसका परिचय एक विद्वान के रूप में कराता था तथा समावर्तन उपदेश देने के पश्चात यथोचित्त गुरूदक्षिणा प्राप्त कर उसे घर के लिए विदा करता था।

समावर्तन उपदेश के अंतर्गत आचार्य उसे शिक्षा देता था कि वह सदा सत्य बोले। अपने कर्तव्यों का पालन करे। स्वाध्याय में प्रमाद न करे। आचार्य के लिए धन लाए तथा अपनी वंश–परम्परा को प्रतिष्ठित रखे, सत्य एवं धर्म से न हटे। महान बनने के अवसर से न चूके। देवता और पितृरों के कार्य में प्रमाद न करें। माता–पिता,

आचार्य और अतिथि की सेवा देवता के रूप में करे। जो कार्य दोष रहित हो उसे छोड़ दें। गुरू द्वारा प्रदत्त अच्छे कार्यों का ही अनुसरण करें। प्रत्येक विद्वान का आदर करें। जो भी दान दें श्रद्धा से दें। धर्म या शिष्टाचार सम्बन्धी शंका उत्पन्न होने पर विद्वान ब्राह्मणों से परामर्श लें। प्राणी मात्र के प्रति दया, ममता, करुणा और सदाचार का व्यवहार करें। सदैव प्रसन्न रहें। भय एवं शंका से अपने को दूर रखें। यही हमारा उपदेश है।[89] इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज में स्नातकों को विशेष श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता था तथा उन्हें गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था।[90]

यज्ञोपवीत

व्याकरणिक दृष्टि से यज्ञोपवीत एक विशेषण है और इसका संबन्ध यज्ञ के समय धारण करने वाले वस्त्रो से था—यज्ञायउपवीतं यज्ञोपवीतम्। शिष्टाचार के अनुसार यज्ञ, दान, स्वाध्याय और पवित्र कार्य को करते समय शरीर के ऊपरी भाग को ढंके रहने का विधान मिलता है।[91] इस प्रकार यज्ञोपवीत का तात्पर्य उस उत्तरवास से था, जो विभिन्न अनुष्ठानों के समय उत्तरीय रूप से धारण किया जाता था। तैत्तिरीय संहितानुसार, किसी वस्त्र का विशेष विन्यास ही यज्ञोपवीत था। ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार, जिस वस्त्र को वायें कन्धे के ऊपर और दांये कन्धे के नीचे पहना जाता था। उसे यज्ञोपवीत कहते थे।[92] लेकिन, वही वस्त्र विपरीत क्रम में पहनने पर उसे 'विनीत' कहा जाता था।

उत्तर वास प्रायः कपड़े का होता था। किन्तु, प्रारम्भ में जब कातने—बुनने की कला का ज्ञान नहीं था, तब वह अजिन का होता था। तैत्तिरीय आरण्यक् के अनुसार यज्ञोपवीत कपड़े का नहीं बल्कि अजिन का होना चाहिए।[93] ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में जब कातने—बुनने की जानकारी प्राप्त हुई और कपड़े का प्रचलन बढ़ा तब अजिन के स्थान पर कपड़े का प्रयोग होने लगा। किन्तु, पूर्व परम्परा को बनाए रखने के उद्देश्य से प्रतीकात्मक रूप में अजिन के टुकड़े का प्रयोग होता रहा और

उत्तरकाल में जब कपड़े का स्थान कच्चे सूत ने ले लिया तब अजिन खण्ड को उससे बांधकर प्रयोग किया जाना लगा। आज भी विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों में प्राचीन परम्पराओं का प्रतीक देखने को मिल जायेगा।

आपस्तम्ब जैसे स्मृतिकारों का मत है कि यज्ञोपवीत साधारणतया उत्तरवास का ही होना चाहिए और इसके अभाव में ही सूत का उपयोग होना चाहिए।[94] स्मृति चंद्रिका के अनुसार उत्तरीय के अभाव में ही सूत का प्रयोग होता था।[95] ऋष्यश्रृंग का भी यही मत है।[96] उपनयन, यज्ञ या पूजा अर्चना के समय पर ही यज्ञोपवीत धारण करने का विधान था। किन्तु, उत्तरकाल में जब सभी कार्य ब्रह्म को अर्पित करने जैसी भावना का विकास हुआ तब सम्पूर्ण जीवन ही एक यज्ञ समझा जाने लगा। परिणामतः प्रत्येक क्षण यज्ञोपवीत धारण करने का विधान बना और उसे ऐसा बनाया गया कि उसे हर समय पहना जा सके।

इस प्रकार धागे के रूप में यज्ञोपवीत का प्रचलन बढ़ा और लोग इसके मूल अभिप्राय को विस्मृत करते गये। उत्तरकाल में इसके मूल विचार को विस्मृत कर दिया गया तथा उसमें अनेक रहस्यात्मक गुणों का समावेश होता गया। इस प्रकार वह विशुद्ध कर्मकाण्ड का विषय बनकर रह गया। जिसका आधार कोरा अंधविश्वास था। ब्रह्मचारी एक सूत का, स्नातक दो सूत का (एक उत्तरवास के लिए और दूसरा अंर्तवास के लिए) और गृहस्थ तीन सूत का यज्ञोपवीत धारण करता था। प्रारम्भ में सूत उत्तरीय वस्त्र के अभाव में ही धारण किया जाता था।[97]

आदित्य पुराण का कथन है कि यज्ञोपवीत में दैत्यों का नाश करने की शक्ति है। जब समाज में इस प्रकार की मान्यता स्थापित होने लगी तब यह विचार भी जोर पकड़ने लगा कि यज्ञोपवीत में जितने अधिक सूत होंगे, उतना ही अधिक शारीरिक और आध्यात्मिक कल्याण होगा। कश्यप, गृहस्थों के लिए दो, तीन, पांच या दस सूत्रीय यज्ञोपवीत का विधान करते हैं।[98] जब सूत का स्थायी प्रयोग होने लगा तब, नौ सूत्रीय

यज्ञोपवीत का प्रचलन बढ़ा और प्रत्येक सूत, ओंकार, अग्नि, भग, सोम, पितर, प्रजापति, वशु, धर्म और सर्वदेवो आदि का प्रतिनिधित्व करने लगा। जहां तक इसे शरीर से पृथक करने का प्रश्न है, तैत्तिरीय कठ, कण्व और वाजसनेय सम्प्रदाय के विद्वान स्नान के समय इसे शरीर से पृथक करने की स्वीकृति देते हैं।[99] किन्तु, ऋग्वेदिन और सामवेदिन सम्प्रदाय के विद्वान इसे कभी भी शरीर से पृथक करने के पक्ष में नहीं थे।

बौद्ध शैक्षिक संस्कार

बौद्ध शिक्षा पद्धति के अंतर्गत दीक्षा संस्कार का उल्लेख मिलता है। बुद्ध का स्पष्ट आदेश था कि प्रत्येक उपासक को धर्म और विनय की सम्यक् शिक्षा प्रदत्त की जानी चाहिए। इस कार्य में बौद्ध आचार्य पर्याप्त सफल रहे। बौद्ध संघ में सम्मिलित होने हेतु दो प्रकार के संस्कारों का उल्लेख मिलता है, 'प्रव्रज्या' एवं 'उपसम्पदा'। प्रव्रज्या की दीक्षा से बौद्ध शिक्षार्थियो का उपासकत्व प्रारम्भ होता था।[100] 8 वर्ष से अधिक उम्र के किसी भी व्यक्ति को प्रव्रज्या दीक्षा दी जा सकती थी। इसके लिए उसके सरंक्षक की अनुमति आवश्यक थी।[101] 'उपसम्पदा' की दीक्षा से बौद्ध शिक्षा का समापन माना जाता था।[102] यह साधारणतया 30 वर्ष की अवस्था में सम्पन्न किया जाता था। प्रारम्भ में बुद्ध स्वयं अपने भिक्षुओं को 'प्रव्रज्या' की दीक्षा देते थे। महावग्ग साहित्य से ज्ञात होता है कि सारनाथ में तथागत पंचवर्षीय भिक्षुओं को धर्म–चक्षु प्रदान कर प्रव्रज्या की उपदेशना दी थी। तदुपरान्त भिक्षु संघ की स्थापना हुई थी। पंच भिक्षुओं में कौडिन्य, वप्र, भद्रिक, महानाम और अश्वचित थे। संघ का सदस्य बनने के लिए सुधी, चरित्रवान और प्रज्ञावान होना आवश्यक था। किसी भी जाति, वर्ण, वर्ग, क्षेत्र एवं धर्म के व्यक्ति को, जो बुद्ध, धम्म एवं संघ के प्रति आस्था रखता था।[103] उसे प्रव्रज्या की दीक्षा दी जाती थी। यद्यपि 15 वर्ष से कम आयु के शिक्षार्थी को, अभिभावक की अनुमति न मिलने वाले शिक्षार्थी को, अस्वस्थ, कुष्ठ, गण्ड, क्षय, चर्म, एवं मिर्गी रोग से पीड़ित व्यक्ति को, विक्षिप्त, अपंग, राजनैतिक, राजसेवक, चोर, डाकू, दंडित, ऋणि, दास तथा

असामाजिक कार्य करने वाले व्यक्ति को 'प्रव्रज्या' की दीक्षा नहीं दी जाती थी। लेकिन आवश्यक होने पर संघ की स्वीकृति से उन्हें दीक्षित किया जाता था।

अंगुलिमाल दस्यु को बुद्ध ने विशेष परिस्थिति में दीक्षा देकर संघ का सदस्य बनाया था। बौद्धेत्तर परिव्राजक को भी 'प्रव्रज्या' दीक्षा दी जाती थी, लेकिन इसके लिए उसे चार माह तक संघ के नियमानुसार जीवन–यापन करना पड़ता था। चरित्र, आचरण एवं कार्य–व्यवहार को परखने के उपरान्त उसे संघ का स्थायी सदस्य बनाया जाता था। बुद्ध एवं संघ में विश्वास प्रकट करते हुए, उसे किसी भिक्षु को आचार्य रूप में स्वीकार करना पड़ता था। अक्षम्य अपराध करने या संघ के नियम तोड़ने पर, उसकी सदस्यता समाप्त कर उसे संघ से निष्कासित किया जा सकता था। उत्तरकाल में प्रवेशार्थियों की संख्या बढ़ने पर ज्येष्ठ भिक्षु भी 'उपदेशना' एवं 'प्रव्रज्या' की दीक्षा देने लगे।

'प्रव्रज्या' प्राप्त करने वाला शिक्षार्थी 'श्रामणेर' कहा जाता था। उसे किसी उपाध्याय या आचार्य के निर्देशन में रहना पड़ता था। 'उपसम्पदा' का अधिकारी वह भिक्षु होता था, जिसकी अवस्था न्यूनतम 30 वर्ष होती थी और जो उच्च आध्यात्मिक ज्ञान रखता था। इस प्रकार 15 वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या की दीक्षा से भिक्षु जीवन प्रारम्भ होता था और 30 वर्ष की अवस्था में 'उपसम्पदा' की दीक्षा से समाप्त होता था। वह संघ के सम्मुख उपस्थित होकर श्रद्धापूर्वक दोनों हाथ जोड़कर ऊपर उठाते हुए 'उपसम्पदा' के लिए तीन बार याचना करता था और संघ के सदस्य उसे मौन स्वीकृति प्रदान कर देते थे। यह व्यवस्था साधारण शिक्षार्थियों के लिए थी।, लेकिन जो शिक्षार्थी आजीवन भिक्षु धर्म का पालन करना चाहते थे, उनके लिए न्यूनतम अधिकतम आयु सीमा का कोई प्रावधान नहीं था। उनके मध्य भिक्षाटन की परम्परा विद्यमान थी जो उनकी जीविका का आधार होता था। छठी शताब्दी के उपरान्त ब्राह्मण शिक्षार्थी और बौद्ध शिक्षार्थी के जीवन शैली में कोई अन्तर नहीं रहा।

शैक्षणिक पद्धति

प्राचीन भारतीय शैक्षणिक पद्धति का मूल उद्देश्य व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना था। अतः तत्कालीन शिक्षाविदों ने ऐसी व्यवस्था स्थापित कर रखी थी, जिससे शिक्षार्थियों का न केवल सर्वांगीण विकास हो, बल्कि वह आत्मसात् ज्ञान को जीवनोपयोगी एवं समाजोपयोगी बना सके। शिक्षा के सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों पक्ष में बेहतर समन्वय का प्रमाण मिलता है। सैद्धान्तिक ज्ञान उसके व्यवहार में सदैव परिलक्षित होता रहता था, जिसका अभाव वर्तमान शिक्षार्थियों में दिखलायी पड़ता है।

प्राचीन भारतीय शैक्षणिक–पद्धति के अंतर्गत शिक्षण–सत्र, प्रवेश, शिक्षण–विधियां, गुरूशिष्य सम्बन्ध, अनुशासन, परीक्षा उपाधि आदि उल्लेखनीय है।

शिक्षण - सत्र

आरम्भ में वैदिक मंत्र ही शिक्षा का प्रधान विषय होता था, तब शिक्षण–सत्र 6 माह का होता था। (अगस्त से प्रारम्भ होकर फरवरी माह तक)[104] लेकिन विकास के क्रम में पाठ्यक्रमों का विस्तार होने से शिक्षण–सत्र, एक वर्ष तक चलने लगा। इस अवधि में वेदों के अतिरिक्त वेदांगों, ब्राह्मण साहित्य, महाकाव्य, स्मृति साहित्य, पुराण, इतिहास एवं विभिन्न शिल्पों एवं ललित कलाओं की शिक्षा दी जाने लगी।

'उत्सर्जन संस्कार' फरवरी माह में सम्पन्न होता था, जिसका उद्देश्य शिक्षा का अगले सत्र तक के लिए स्थगन था। कालान्तर में पाठ्यक्रमों का विस्तार होने पर शिक्षण–सत्र पूरे वर्ष भर चलने लगा। मनु के अनुसार, उत्सर्जन संस्कार के उपरान्त भी वेद–वेदांगों की शिक्षा चलती रहनी चाहिए।[105] राजगृह और काशी जैसे स्थानों के वे शिक्षार्थी, जो तक्षशिला जैसे दूरस्थ शिक्षा केन्द्रों पर शिक्षा प्राप्ति के निमित्त जाते थे, संभवतः यातायात की कठिनाईयों के कारण अपना अध्ययनकार्य पूर्ण करने के उपरान्त ही वापस लौटते थे।[106] किन्तु जिन शिक्षार्थियों को घर वापस जाना जरूरी होता था, आचार्य की अनुमति से जा सकते थे। वे शिक्षार्थी जिनका घर शिक्षण–संस्थाओं के

समीप होता था, वे भी साधारण अवकाश के समय आचार्य से अनुमति लेकर जा सकते थे। लेकिन, शिक्षार्थियों के आवागमन से शिक्षण कार्य बाधित न हो इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था, और इस प्रकार शिक्षण–कार्य पूरे वर्ष भर चलता था।[107]

जहां तक शिक्षावधि का प्रश्न है, प्राचीन शिक्षाविदों की यह मान्यता थी कि ज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होने के कारण उसे न तो किसी समय सीमा में और न ही किसी अवधि में बांधा जा सकता है।[108] बल्कि, यह शिक्षार्थी की योग्यता और उसकी अभिलाषा पर निर्भर करता है। हालांकि, जो शिक्षार्थी अपने विषय में पूर्ण पारंगत होना चाहते थे, उन्हें साधारणतया 25–30 वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य धर्म के अनन्तर शिक्षा प्राप्त करना पड़ता था। तदुपरान्त उनसे गृहस्थ बनने की कामना की जाती थी।लेकिन, साधारण ज्ञान प्राप्त कर घर लौटने हेतु, उत्कंठित शिक्षार्थी उसे 3 से 6 वर्ष में ही अपना अध्ययन कार्य समाप्त कर वापस लौट जाते थे।

उपनयन संस्कार के उपरान्त साधारणतया 12 से 15 वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने का उल्लेख प्राप्त होता है। 12 वर्ष तक गुरूकुल वास का उल्लेख मिलता है।[109] सत्यकाम जाबाल के आश्रम में उपकोशल कामलायन ने शिक्षा प्राप्त करते हुए 12 वर्ष व्यतीत किया था।[110] शिक्षार्थी श्वेतकेतु ने 12 वर्ष तक अपने आचार्य के सान्निध्य में रहकर शिक्षा प्राप्त की थी।[111] स्पष्ट है कि वेदों के सांगोंपांग अध्ययन के लिए इतने वर्ष आवश्यक थे। उन्हें वेदों के अतिरिक्त न्याय, छन्द, धर्म, दर्शन और व्याकरण शास्त्र का भी अध्ययन कराया जाता था। कालान्तर में व्याकरण शास्त्र की प्रौढ़ता के कारण इसमें पारंगत होने के लिए 10 वर्ष का समय आवश्यक माना गया। किन्तु साहित्य, महाकाव्य और धर्मशास्त्र के शिक्षार्थी 5 या 6 वर्ष में ही व्याकरण शास्त्र का अध्ययन समाप्त कर शेष 10 वर्ष अपने मूल विषय के अध्ययन में लगाते थे। स्पष्ट है कि सुशिक्षित और विद्वान बनने के लिए साधारणतया 12 से 15 वर्ष तक ब्रह्मचर्य धर्म के अनन्तर शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक था।

यद्यपि, वे शिक्षार्थी जो किसी खास विषय में दक्ष होना चाहते थे और सभी वेद एवं वेदांगों में पांरगत होना चाहते थे, उन्हें विशेषाध्ययन के निमित्त अधिक समय तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करना पड़ता था।[112] संभवतः उनका अध्ययन क्रम 35 से 40 वर्ष की अवस्था तक चलता था। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार, ब्रह्मचर्य की अवधि 48 वर्ष थी। प्रत्येक वेद के लिए 12 वर्ष का समय निर्धारित था। मनु ने तीन वेदों के अध्ययन के लिए 36 वर्ष का समय माना है। विदित है कि इन्द्र ने प्रजापति के निर्देशन में 32 वर्ष तक अध्ययन कार्य किया था। भारद्वाज ने सभी वेदों में पारंगत होने के लिए 75 वर्ष का समय व्यतीत कर जीवन के अन्तिम भाग में ब्रह्मचर्य धर्म के परिपालन हेतु अनुष्ठान सम्पन्न किया था।[113] मेगस्थनीज[114] और कार्ले ब्रुक[115] ने भी 37 वर्ष की अवस्था तक अध्ययन करने वाले शिक्षार्थियों का उल्लेख किया है। इसी परिप्रेक्ष्य में एक स्मृतिकार का कथन है कि लम्बी अवधि तक अध्ययन करने वाले शिक्षार्थियों को यौवनावस्था में ही विवाह कर लेना चाहिए, क्योंकि 35–40 वर्ष की अवस्था के उपरान्त विवाह करना मूर्खता है।[116] इसके कारण न केवल प्राकृतिक व्यवस्था, बल्कि सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत गृहस्थ जीवन भी प्रभावित होने का भय बना रहता है। यद्यपि कुछ शिक्षार्थी आध्यात्मिक ज्ञान के निमित्त सम्पूर्ण जीवन शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में ही लगा देते थे।[117] इन्हें 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' कहा जाता था। नैष्ठिक का अर्थ है ''जीवन भर ब्रह्मज्ञान के निमित्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाला'' इन्हें, वृहद्व्रतधारी भी कहा जाता था। ब्रह्म विद्या के अनन्तर मोक्ष प्राप्त करना इनका परम उद्देश्य होता था। ह्वेनसांग लिखता है कि सारे कष्टों को भूलकर ये आध्यात्मविद्या के अतिरिक्त विज्ञान और साहित्य साधना में लगे रहते थे। दो सौ मील की यात्रा इन्हें अल्प प्रतीत होती थी। धनाड्य कुल में जन्म लेकर भी ये परिव्राजक का जीवन व्यतीत करते थे। और भिक्षा मांगकर अपनी जीविका चलाने में गर्व का अनुभव करते थे।[118] महर्षि कण्व और दिवाकर सेन ऐसे ही नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे।[119] हारीत के अनुसार नैष्ठिक ब्रह्मचारी न

कभी विवाह करता था, और न सन्यास ग्रहण करता था। वह अतीन्द्रिय होकर शरीर त्याग करता था और इस लोक में पुनः जन्म नहीं लेता था। शिक्षण अवधि के अनुसार छात्रों का नाम भी उसी पर पड़ जाता था।[120] जैसे सावंत्सरिक ब्रह्मचारी, जो वर्ष भर गुरूकुल आश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। मासिक ब्रह्मचारी जो केवल एक माह के लिए ब्रह्मचारी बनते थे और अर्द्धमासिक जो ब्रह्मचारी केवल 15 दिन के लिए ब्रह्मचारी बनते थे।[121] स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शिक्षा प्राप्त करने की अवधि साधारणतया 10 से 15 वर्ष तक होती थी और शिक्षण सत्र वर्ष भर चलता था। लेकिन समय–समय पर विशेष परिस्थितियों में कुछ परिवर्तन भी होते रहे।

जहां तक अवकाश का प्रश्न है, साक्ष्यों से विदित होता है कि शिक्षण काल के दौरान विभिन्न अवसरों पर अवकाश की व्यवस्था थी। सर्वप्रथम इसकी सूची उत्तरवैदिक कालीन साहित्य में मिलती है। प्रत्येक माह में चार दिन अवकाश होता था। प्रतिपदा, पूर्णिमा, अष्टमी एवं अमावस्या को शिक्षण कार्य नहीं होता था। बस्ती पर वाह्य आक्रमण, डाकुओं के उत्पात, राजा या विद्वानों के आकस्मिक निधन पर सहानुभूति प्रकट करने जाने के कारण, गुरूकुलों में संभ्रांत व्यक्तियों के आगमन पर ध्यान बंटने के कारण, असमय बादल, झंझावात, मूसलाधार वर्षा, कुहरा, आंधी इत्यादि परिस्थितियों में भी अध्ययन कार्य प्रतिबंधित होता था। बौधायन और गौतम जैसे शिक्षाविदों ने शिक्षण के दौरान अवकाश का निर्देश दिया है।[122] मनु के अनुसार, अस्थिर मौसम, आकस्मिक प्रकृति–प्रकोप तथा अन्य अनुपयुक्त समय में अध्ययन कार्य रोक देना चाहिए।[123] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में जब शिक्षक और शिक्षार्थी पर्णकुटियों में रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे, उस समय वर्णित काल में अध्ययन कार्य प्रतिबंधित करना आवश्यक था। चूंकि, श्रृंगाल, गन्दर्भ, श्वान और बिल्ली जैसे जानवरों का बोलना अपशगुन माना जाता था। अतः इन परिस्थितियों में भी शिक्षण कार्य स्थगित कर देने का उल्लेख मिलता है। प्रारम्भ में वेदों की शिक्षा प्राप्त करना पवित्र कार्य माना जाता

था। अतः शिक्षाविदों की ऐसी मान्यता थी कि अपशगुन परिस्थितियों में शिक्षण कार्य करने से वेदों की पवित्रता नष्ट हो जायेगी और देवता रुष्ट हो जायेंगे।[124]

उत्तरकाल में शिक्षा संबंधी पाठ्यक्रमों का स्वरूप विस्तृत होने एवं उसका क्षेत्र व्यापक होने के कारण कतिपय विद्वानों का पूर्व परम्पराओं से मोह भंग होने लगा। परिणामतः प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अध्ययन करने का उन्होंने समर्थन किया।[125] लेकिन मेघगर्जन, ग्रहण, विभिन्न त्योहारों इत्यादि के समय शिक्षण कार्य प्रतिबंधित करने के पक्षधर भी थे।[126] याज्ञवल्क्य ने मेघ–गर्जन अमावस्या और पूर्णिमा के दिन शिक्षण कार्य न करने की सलाह दी है।[127] मनु ने शिक्षा आदि वेदांगों में, नित्य सम्पन्न होने वाले ब्रह्म यज्ञ, स्वाध्याय और हवन कर्म के समय को अनध्यायन नहीं माना है।[128] कतिपय अन्य विद्वानों का मत था कि स्वीकृत अवकाश के समय में भी वेदेत्तर साहित्य का अध्ययन हो सकता है।[129] ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर काल में अनध्यायन का निर्णय शिक्षण संस्थाओं के प्रधान करते थे। व्यस्क शिक्षार्थियों की अपेक्षा अल्पव्यस्क शिक्षार्थियों को अधिक अवकाश मिलता था।[130] लेकिन गंभीर शिक्षार्थी चार साप्ताहिक छुट्टियों के अतिरिक्त अन्य अवकाश तभी लेते थे, जब वे स्वयं अपवित्र हों या वह स्थान अपवित्र हो, जहां शिक्षण–कार्य होता था।[131]

प्रवेश

विवेच्यकाल में वर्तमान की भांति प्रवेश परीक्षा, अंक–पत्र, उपाधि–पत्र, चरित्र प्रमाण–पत्र या स्थानांतरण –पत्र जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी, बल्कि किसी भी शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के लिए छात्र को चरित्रवान, संस्कारवान, आदर्शवान, बुद्धिमान, निष्ठावान, धैर्यवान, विनयशील, प्रतिभासम्पन्न, जिज्ञासु, अभिलाषी एवं आज्ञाकारी होना आवश्यक था और यही प्रवेश का मापदण्ड होता था। जिन छात्रों में इन गुणों का अभाव दिखता था उन्हें विद्या प्राप्त करने के अयोग्य समझा जाता था। ब्राह्मण शिक्षा पद्धति के अंतर्गत शिक्षा पाने वाले शिक्षार्थियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे इन

गुणों को आत्मसात करें। दरअसल, ब्राह्मण शिक्षा पद्धति का मूल उद्देश व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना था और इसी उद्देश्य के अंतर्गत ब्राह्मण शिक्षाविदों ने मानव जीवन को चार वर्गों एवं चार आश्रमों में विभक्त कर एक आदर्श व्यवस्था कायम की थी। जिससे मानव जीवन का कोई भी पक्ष अछूता न रह जाये और मनुष्य अपना बौद्धिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान सम्यक् तरीके से करता रहे और जीवन का अंतिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सके। शिक्षार्थियों के आंतरिक शुचिता एवं विकास पर विशेष बल दिया जाता था और इसके लिए उन्हें अनुशासित जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया जाता था। शिक्षाविदों की ऐसी मान्यता था कि प्रत्येक व्यक्ति के अंदर कुछ जन्मजात मानवीय दुर्गुण विद्यमान होते हैं जिसको नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा के द्वारा दूर किया जा सकता है, और इसीलिए उन्होंने प्रत्येक शिक्षार्थियों से कठोर एवं अनुशासित जीवन की अपेक्षा की थी। यह शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रवेश संबंधी अनिवार्य योग्यता के रूप में भी स्वीकार्य था।

जहां तक बौद्ध शिक्षा–पद्धति का प्रश्न है, प्रारम्भ में बौद्ध शिक्षा का मूल उद्देश्य बुद्ध के सिद्धान्तों का प्रचार–प्रसार करना था और इसके लिए उन्हें चरित्रवान, धैर्यवान, बुद्धिमान एवं अनुशासित भिक्षुओं की आवश्यकता थी। अतः ब्राह्मण शिक्षाविदों की भांति बौद्धों ने भी जिज्ञासु प्रवेशार्थियों की योग्यता का सम्यक् परीक्षण कर अपने संघ का सदस्य बनाया। ब्राह्मण शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के लिए 'द्विजवर्ण' का होना आवश्यक था, लेकिन बौद्ध संघ का सदस्य बनने के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं थी। सुधी, चरित्रवान, प्रज्ञावान व्यक्ति चाहें वह किसी भी जाति, धर्म, वर्ग, वर्ण या देश का हो, बौद्ध धर्म में प्रवर्जित होकर अपेक्षित शिक्षा प्राप्त कर सकता था। इसी क्रम में यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि क्या प्रत्येक व्यक्ति को प्रव्रज्या की दीक्षा दी जाती थी? इस संदर्भ में वर्णित है कि 15 वर्ष से कम आयु वाले व्यक्ति को, बिना माता–पिता की अनुमति के पुत्र को, अस्वस्थ, कुष्ठ, गण्ड, क्षय, चर्म, मिर्गी रोग से पीड़ित व्यक्ति को,

अपंग को, राजसैनिक, राजा, चोर, डाकू, दंडित व्यक्ति को, ऋणी, दास, और समाज विरोधी कार्य करने वाले व्यक्तियों को संघ का सदस्य नहीं बनाया जाता था। यद्यपि कुछ उदाहरण अपवाद स्वरूप भी हैं। उत्तर काल में जब बौद्ध शिक्षा का प्रसार हुआ, शिक्षार्थियों की संख्या बढ़ी, पाठ्यक्रमों का विस्तार हुआ, तब शासक एवं कुलीन वर्गों का यथोचित्त सहयोग इन्हें प्राप्त होने लगा। परिणामतः वे बौद्ध शिक्षार्थी जो प्रारम्भ में अरण्य, वृक्ष मूल, पर्वत, कन्दरा, शमशान भूमि, पुआल के ढेर आदि पर निवास करते थे, नदी तट या जंगल में कुटिया बनाकर रहने लगे, इसके बाद उनके लिए संघाराम और विहारों का निर्माण होने लगा जो आगे चलकर नालंदा, बलभी एवं विक्रमशिला जैसे बड़े शिक्षण संस्थाओं के रूप में स्थापित हुआ। इन शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के लिए प्रवेशार्थी की योग्यता की जांच कड़ी परीक्षा द्वारा ली जाती थी। चरित्रहीन एवं बुद्धिहीन प्रवेशार्थियों का प्रवेश पूर्णतया वर्जित था।[132] प्रवेश से पूर्व सर्वप्रथम उन्हें द्वार पण्डितों से वाद–विवाद करना पड़ता था और उनकी शंकाओं का समाधान करना आवश्यक था। ऐसा उल्लेख मिलता है कि प्रवेश के प्रथम दिन ही ज्यादातर प्रवेशार्थी असफल हो जाते थे और दस की संख्या में से औसतन एक–दो ही सफल हो पाते थे।[133] उनकी योग्यता, दक्षता, चरित्र एवं धारणा की जांच के लिए दक्ष आचार्यों की नियुक्ति की जाती थी।[134] निजी पाठशाला चलाने वाले उपाध्याय अपने प्रवेशार्थियों की योग्यता की जांच स्वयं करते थे।

स्मृति साहित्य में अधिकाधिक शिष्य प्राप्ति की कामना हेतु एक विशिष्ट संस्कार का विधान मिलता है तथापि उपलब्ध साक्ष्यों से विदित होता है कि एक शिक्षक के अंतर्गत औसतन दस या पन्द्रह शिक्षार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। उत्तरकालीन गुरूकुलों में जब जिज्ञासु छात्रों की संख्या बढ़ने लगी तब शिक्षण कार्य हेतु ज्येष्ठ शिष्यों की मदद ली जाने लगी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि नालंदा में शिक्षार्थियों की संख्या लगभग 10 हजार के आसपास थी, जिसके लिए एक हजार भिक्षु नियुक्त थे।[135] जो

अत्यंत तन्मयता से शिक्षण कार्य करते थे। ग्यारहवीं शताब्दी में एन्नारियम के प्रत्येक विद्यापीठ में एक अध्यापक औसतन बीस छात्रों को शिक्षा प्रदान करते थे।[136] 17वीं शताब्दी में काशी में यह संख्या 12 से 15 के बीच थी।[137] स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में एक अध्यापक औसतन 10 से 15 छात्रों को शिक्षा प्रदान करते थे। कभी–कभी यह संख्या 20 के आस–पास पहुंच जाती थी।

शिक्षण विधि

शिक्षा, शिक्षण का ही परिणाम है। शिक्षण वह क्रिया है जिसके द्वारा बालक को विद्योपार्जन के साथ–साथ, आदर्श जीवन के लिए व्यवहारिक प्रशिक्षण दिया जा सके। विवेच्ययुग में शिक्षण का माध्यम मौखिक एवं लिखित दोनों ही रूप में प्रचलित था।

मौखिक शिक्षण विधि भारतीय शिक्षा जगत की जननी है। आचार्यों के मुख से जो ज्ञानपूर्ण बाते निकलती थीं उसे विद्यार्थी एकाग्र मन से सुनता और मनन करता था। मौखिक शिक्षा विधि में विद्यार्थी के अंदर धारण शक्ति का होना जरूरी थी। इत्सिंग लिखता है कि प्रतिदिन प्रातः विद्यार्थी दैनिक क्रिया सम्पन्न करने के बाद आचार्य के समक्ष अपने अध्ययन किये हुए विषय को सुनाता और कुछ नया ज्ञान प्राप्त करता।

प्रायः शिक्षण कार्य मौखिक होता था। कभी–कभी छात्रों की स्मरण शक्ति कमजोर होने पर पाठ को दोहराया जाता था।[138] वेदों का ज्ञान स्मरणशक्ति पर ही आधारित था। इसकी शिक्षा मौखिक ही दी जाती थी।[139] इसलिए वेदों के मौखिक ज्ञान का प्रचलन बहुत बाद लगभग 12वीं सदी तक बना रहा।[140] अलबरूनी लिखता है कि लेखन कला के आविष्कार के बाद भी वेदों की मौखिक शिक्षा को ही प्रधानता दी गयी थी।[141]

वेदाध्ययन के लिए[142] मनु, शबर, याज्ञवल्क्य, अपरार्क, आदि ने पांच बातें बतायी हैं। इन पांच बातों में शिक्षण की अनेक विधियों का समावेश हो जाता है, यह है 1. वेद को कंठस्थ करना। 2. उसके अर्थ पर विचार करना। 3. बार–बार दोहराकर सदा नवीन

बनाये रखना। 4. जप करना अथवा मन ही मन प्रार्थना के रूप में दोहराना। 5. दूसरे को पढ़ाना। इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र[143] ने शिक्षा प्रदान करने की 6 सीढ़िया बतायी हैं। 1. शब्द 2. श्रवण 3. अध्ययन 4. ऊहा 5. सुश्रुषा 6. धारण। तत्कालीन समाज में ऐसी धारणा थी कि कुछ समय तक आचार्य के चरणों में बैठकर विधिवत अध्ययन करने से ही बुद्धि परिपक्व हो सकती हैं।[144] परम ज्ञान के लिए ब्रह्ममुहूर्त में स्वाध्याय सबसे श्रेष्ठ विधि माना जाता था।[145] लेकिन वैदिक मंत्रों को मात्र रट लेना अच्छा नहीं माना जाता था। अतः स्पष्ट है कि समकालीन समाज विद्यार्थी से सारगर्भित ज्ञान की आशा रखता था।

आचार्य कठिन अंशों की व्याख्या प्रस्तुत करते तथा किसी विद्यार्थी के किसी तथ्य के कंठस्थ न कर पाने पर पाठ्य सामग्री को बार–बार दोहराते थे। ह्वेनसांग लिखता है कि आचार्य अपने शिष्य को अर्थ सहित अनुवाद बताते थे। सूक्ष्म अंशों को विस्तारपूर्वक समझाते थे, शिष्यों को क्रियाशील बनाने की प्रेरणा देते थे और कुशलता पूर्वक उनका विकास करते थे, कुशाग्र बुद्धि वाले शिक्षार्थियों को उपदेश देते और मंद बुद्धि वाले विद्यार्थियों को कुशाग्र बनाते थे।[146] बौद्ध शिक्षा के अंतर्गत तर्क की अधिक प्रधानता थी, इससे बौद्धिक विकास में सहायता मिली।[147] ज्ञान की खोज में विद्यार्थी कठिन परिश्रम करते थे। तद्युगीन शिक्षा विधि में विद्यार्थी को केवल सिद्धान्त का ही नहीं व्यवहार का भी ज्ञान हो जाता था।[148] शिष्य के व्यवहार पर गुरू ध्यान रखता था। भारतीय शिक्षा जगत में इस बात पर बल दिया गया था कि मात्र अध्ययन कर लेना ही पर्याप्त नहीं, अपितु उसे व्यवहार में भी लाया जाये।[149]

फाह्यान के विवरण के आधार पर मुखर्जी ने[150] ने लिखा है कि – विद्यार्थियों को आचार्य के शब्द सुनने–समझने और सोचने पड़ते थे। यह पद्धति उपनिषदों में वर्णित श्रवण, मनन, निदिध्यासन के अनुरूप थी। ह्वेनसांग के कथानुसार[151] जब प्रतिभाशाली विद्यार्थी पढ़ने में उद्यत नहीं होते थे, तो उन्हें आचार्य तब–तक पढ़ाते थे,

जब तक अध्ययन पूर्ण नहीं हो जाता था। अलबरुनी के अनुसार[152] जिस खण्ड को विद्यार्थी समझने में असमर्थ रहता था, उस खण्ड को आचार्य सरलतम ढ़ग से विद्यार्थी के समक्ष कई बार प्रस्तुत करता था, गूढ़तम् अंशों को विस्तार पूर्वक समझाता था, प्रत्येक विधि में गुरु, शिष्य की ग्रहण शक्ति और योग्यता का ध्यान रखता था। उच्चारण में अशुद्धि होने पर उसी समय गुरु शुद्ध कर देता था। स्पष्ट हैं कि तद्‌युगीन शिक्षण विधि में आचार्य शिष्य में वैचारिक सद्‌मार्ग का ज्ञान देना अपना नैतिक कर्तव्य समझता था।

विवच्य युग में वाद–विवाद, तर्क–वितर्क की विधि प्रचलित थी।[153] योग्य छात्रों के चुनाव के लिये बौद्धिक वाद–विवाद प्रतियोगितायें भी होती थी तथा नवागन्तुक छात्रों को अपनी योग्यता का परिचय कठिन शास्त्रार्थ के द्वारा देना होता था।[154] परीक्षा के पश्चात् प्रतिभा सम्पन्न छात्रों को पुरस्कार दिये जाने का उल्लेख भी मिलता है।[155] इससे विद्यार्थियों में वक्तृत्व–शक्ति का विकास तथा बुद्धि में प्रकाश आता था[156] उक्ति–व्यक्ति प्रकरण[157] से ज्ञात होता है कि काशी में पुनरावृत्ति की पद्धति से ही शिक्षा दी जाती थी। कथा विधि द्वारा भी शिक्षण कार्य निष्पादित होता था। यह विधि विशेषकर राजकुमारों को शिक्षित करने के लिये अपनायी जाती थी। इसका समर्थन हितोपदेश और पंचतन्त्र से भी होता है।

इत्सिंग ने राज दरबारों में विद्वत गोष्ठियों द्वारा विद्वता तथा बुद्धि परीक्षा का उल्लेख किया है।[158] जिसमें विजेताओं को पुरस्कार भी दिये जाते थे।[159] इत्सिंग के विवरण में नालन्दा और बलभी में होने वाले विद्वत सम्मेलनों का उल्लेख है जिनमें सम्भव और असम्भव के सिद्धान्त पर शास्त्रार्थ होते थे।[160]। हर्ष चरित में अनेक विद्वत गोष्ठियों का उल्लेख है जिनमें विभिन्न विषयों पर वाद–विवाद होता था।[161] ऐसी ज्ञान चर्चाओं की गोष्ठियों को बाण ने विद्या गोष्ठी कहा है।[162] वीर गोष्ठी में वीरता और शौर्य से सम्बन्धित रचनायें एवं चर्चायें हुआ करती थी।[163] प्रमाण गोष्ठी में सभी विषयों

की प्रमाणिकता पर विचार किया जाता था।[164] अलबरूनी ने भी विभिन्न विद्वत गोष्ठियों का उल्लेख किया है। इन विद्वत गोष्ठियों में अनेक बुद्धिमान और गुणी लोग सम्मिलित होते थे।[165] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ये विद्वत गोष्ठियां तद्‌युगीन समाज में ज्ञान प्रसार का प्रमुख माध्यम रही होगी।

7वीं शताब्दी में लिखित शिक्षण विधि अपनी उन्नत अवस्था में आयी। बौद्ध ग्रन्थ ललित विस्तर से ज्ञात होता है कि आचार्य कक्षा में बड़े पट्‌ट पर कोई अक्षर लिखता, बालक उस अक्षर का नाम पुकारते और अपने पट्‌ट पर या भूमि पर वैसी हीं आकृति बनाते थे।[166] पेशावर के संग्रहालय में बुद्ध की एक मूर्ति है जिसमे बुद्ध को लिखते हुये दिखाया गया है।[167] दशरथ शर्मा का मत है कि 7वीं शताब्दी में खड़िया से रचना को तख्ती पर लिखने और फिर उसे पढ़कर सुनाने की प्रथा थी।[168] अलबरूनी लिखता है कि बच्चों के लिये विद्यालय में काली तख्ती होती थी और उस पर वे लम्बाई की ओर से, न कि चौड़ाई की ओर से बाएं से दायं सफेद वस्तु[169] से लिखते थे। मजूमदार के अनुसार जन साधारण वर्ग के बालक जमीन पर उगंलियो से ही लिखने का अभ्यास करते थे।[170] बंगाल में भी बालक भूमि पर ही बालू बिछा कर उंगली से या किसी पतली लकड़ी से लिखने का अभ्यास करते थे।[171] अक्षरों को भूमि पर लिखने की प्रथा कालिदास के समय से ही जनप्रिय हो चुकी थी।[172] पृथ्वीराज रासों में धनी वर्ग के बालकों का पट्‌टी पर सुन्दर लिपि लिखने का उल्लेख है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि, कुलीन वर्ग के बालक लेखन कार्य की प्रारम्भिक अवस्था में तख्ती का और सामान्य वर्ग के बालक जमीन का प्रयोग करते थे। वर्णमाला के अक्षरों को लिखने के लिए खड़िया और मिट्‌टी का प्रयोग पद्‌मपुराण में बताया गया है। भूमि पर खडिया से लिखने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[173]

संगठित शिक्षण संस्थानों का जन्म होने के पश्चात् उच्च शिक्षा के लिये मठों या विहारों में प्रवेश के समय बालक को लेखन या गणना का ज्ञान रहता था। अक्षर ज्ञान

के स्थान को लिपिशाला और अक्षर सिखाने वाले गुरु को "द्वारकाचार्य" कहते थे।[174] दिव्यावदान में 'लेखनशाला' और लिखने के लिये तुला, पेंसिल आदि का वर्णन है[175] स्पष्ट है कि उत्तरकालीन समाज में लिखित शिक्षण विधि का महत्व बढ़ गया था।

अक्षर ज्ञान के पश्चात् बालक बांस की कलम से या पक्षी के परों से भोजपत्र पर लिखने का अभ्यास करते थे।[176] तत्पश्चात् ताड़ पत्रों पर लिखना सिखाया जाता था।[177] मुस्लिमों के आगमन के पश्चात् भी बालक वर्णमाला के अक्षरों का उच्चारण और उसका ज्ञान प्राप्त करने के बाद, तख्ती पर छोटे–छोटे वाक्य लिखते थे।[178] कालान्तर में खाका, चित्र, चार्ट द्वारा शिक्षा देने का प्रमाण भी मिलता है, यद्यपि इन प्रमाणों की संख्या अल्प है। परमारों के शासन काल में धारा नगरी के एक शिक्षा केन्द्र की दीवारों पर दो खाका चित्र उत्कीर्ण है, जिनमें व्याकरण के साधारण नियमों का उल्लेख है, जिससे हमारे अध्ययन काल में चित्र की भी सहायता से अध्ययन–अध्यापन का आभास होता है। इसी प्रकार का एक और खाका चित्र उज्जैन के महाकाल मंदिर में भी उत्कीर्ण है।[179] सम्भवतः ये दोनो चित्र विद्यार्थियों के निर्देशन के लिये प्रयुक्त किये जाते थे।[180] इससे यह भी ज्ञात होता है कि तद्‌युगीन समाज में शिक्षण कार्य के लिये मंदिरों का भी प्रयोग होता था।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि तद्‌युगीन शिक्षण विधि में विद्यार्थी को सहज ज्ञान प्रदान करने के लिये प्रत्येक विद्या को अपनाया जाता था, जिससे विद्यार्थी को सीखने एवं समझने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। इन विधियों की निरन्तरता वर्तमान समय में भी मामूली परिवर्तनों के साथ प्रवाहमान है।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध

किसी काल की शिक्षा प्रणाली के परि ज्ञान के लिये गुरु–शिष्य के आदर्श तथा इनके परस्पर सम्बन्धों का ज्ञान महत्वपूर्ण है। अर्थववेद में गुरु–शिष्य सम्बन्ध को प्रकाशित करने वाला उद्धरण उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार आचार्य उपनयन करते

हुये ब्रह्मचारी को गर्भ में धारण करता है।[181] गुरु, शिष्य के लिये सर्वस्व थे – पिता, माता, भ्राता, सखा, धन तथा सुख। अतः विद्यार्थी गुरु को अपना सब कुछ अर्पण कर देते है।[182]

विवेच्ययुग में गुरु–शिष्य का सम्बन्ध मधुर एवं घनिष्ठ था। गुरु का आदर करना शिष्य का परम कर्तव्य था, क्योंकि बिना गुरु के ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती थी।[183] गुरु का भी कर्तव्य था कि वह अपने शिष्य को अन्धकार से प्रकाश की ओर लायें।[184] "ज्ञान रूपी दीपक" एक प्रकार के आवरण से ढका रहता हैं। गुरु उस आवरण को हटा देता हैं तब ज्ञान की किरणें फूट निकलती है।[185] दशकुमार चरित् में गुरु की प्रशंसा की गयी है तथा शिष्य को उसका अनुवर्ती होने का संकेत किया गया है। चन्द्रापीड़ ऐसा ही कर्तव्यनिष्ठ शिष्य था।[186] शिष्य को भी उसके कर्तव्यों का बोध कराया जाता था कि वह गुरु के समक्ष मनमाने ढ़ंग से न बैठे, अभिवादन किये बिना गुरु से विद्या ग्रहण न करे तथा अध्ययन के समय विरोधी विचार, चंचलता न दिखाये।[187] अपनी बुद्धि गुरु से श्रेष्ठ होने पर भी शिष्य को गुरु का अनादर नहीं करना चाहिये और बिना गुरु की आज्ञा लिये शिष्य को कहीं भी नही जाना चाहिये। विवेच्ययुग में पिता के सामान्य ही गुरु की सेवा के निर्देश दिये गये है।[188] शिष्य गुरु की सेवा करता हुआ अध्ययन करता था।[189] गुरु के प्रति उसकी अटूट आस्था थी। लक्ष्मीघर के अनुसार गुरु को शिष्यों की समस्त आवश्यकताओं के प्रति सतर्क रहना चाहिये।[190]

नीतिवाक्यामृतम् में उद्धृत है कि गुरु जब कुपित हो तब उत्तर न देना और सेवा करना ही उस क्रोध की शान्ति के लिये औषधि है।[191] शारीरिक दण्ड का भी विधान था परन्तु किंचित ही उसे अभ्यास में लाया जाता था[192]। अल्तेकर के अनुसार गुरु, शिष्यों को दण्ड भी देते थे।[193] इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि विद्यार्थी के कल्याण के लिये ही गुरु दण्ड देता था।

शंखस्मृति के अनुसार गुरु का अभिवादन कर गुरू आज्ञा से ही अध्ययन शुरु करना चाहिये।[194] सूर्योदय के समय आचार्य के समीप जाकर दाहिने हाथ से दाहिना तथा बायें हाथ से बांया पैर दबाते हुये अभिवादन करना चाहिये।[195] अभिवादन का उत्तर न देने वाले गुरु को उसी प्रकार प्रणाम नहीं करना चाहिये जैसे शूद्र को।[196] विष्णु पुराण के अनुसार दोनों संध्याओं के समय गुरु के समीप जाकर उनका अभिवादन करना चाहिये।[197] ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में शिष्यों को अनुशासित करने के नियमों के साथ–साथ गुरु की योग्यता को भी उतना ही महत्व दिया जाता था। योग्य गुरु ही सम्मान का पात्र था और विद्यार्थी उनके प्रति सादर अभिवादन करने के लिये नैतिक रूप से बाध्य था।

इत्सिंग लिखता है कि शिष्य गुरु के पास रात्रि के प्रथम और अन्तिम पहर में जाता है, उसके शरीर की मालिश करता है, वस्त्र आदि सम्भाल कर रखता है, गुरु के आवास में झाड़ू लगाता है, फिर जल छानकर पीने के लिये देता है, और वैसा ही आचरण अपने बड़ों के सामने भी प्रदर्शित करता है।[198] गुरु भी शिष्य के रोग ग्रस्त हो जाने पर सेवा करता है, उसे औषधि देता है, और उसके साथ पिता जैसा व्यवहार करता है।[199] लक्ष्मीधर के अनुसार शिष्य को यह अधिकार था कि यदि वह गुरु में कोई त्रुटि देखे तो एकान्त में उसे सतर्क कर दें।[200] किसी भी गुरु के लिये यह उचित नहीं था कि वह किसी विद्यार्थी को अपेक्षित ज्ञान से वंचित रखता बल्कि वह शिष्य को अनेकानेक ज्ञान–विज्ञान की शिक्षा देता था।[201]

बौद्ध विहारों और ब्राह्मण गुरुकुलों के छात्रों को अपने आचार्य की सेवा करना उनका कर्तव्य माना गया था।[202] मुखर्जी के अनुसार बौद्ध शिक्षा प्रणाली में भी गुरु–शिष्य के मध्य सम्बन्धों का वही स्वरूप देखने को मिलता है जो गुरुकुलों में था। बौद्ध शिक्षा प्राचीन हिन्दू या ब्राह्मणीय शिक्षा प्रणाली का ही रूप प्रतीत होती है।[203] जैन प्रमाणों के अनुसार भी शिष्य अपने गुरु का सम्मान करता था। शिष्य आचार्य के निकट,

आसन ग्रहण नहीं कर सकता था। आसन पर बैठकर वह आचार्य से प्रश्न नहीं पूँछ सकता था। गुरु के सामने वह हाथ जोड़कर प्रश्न पूँछता था।[204]

इस प्रकार सम्बद्ध स्रोतों से यह प्रतीत होता है कि गुरु और शिष्य के बीच उसी प्रकार आत्मीय सम्बंध होते थे, जैसे पिता और पुत्र के बीच। गुरु और शिष्य परस्पर एक दूसरे के प्रति अपने दायित्वों से जुड़े होते थे। यद्यपि शिष्य के लिये अनेक अनुशासन और नैतिक कर्तव्य निर्धारित किये गये थे, तो दूसरी ओर गुरु के लिये भी अनेक आदर्शों को प्रतिष्ठित किया गया था।

अनुशासन

अनुशासन शिक्षा प्रणाली का प्रमुख अंग होता है। शिक्षा प्रक्रिया को सुचारू रूप से चलाने के लिये आवश्यक था कि विद्यार्थियों को अनुशासित रखा जाये। परसीनन के[205] अनुसार, अनुशासन आचरण के आन्तरिक स्रोतों को स्पर्श करता है। प्राचीन भारत में विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर मनसा, वाचा, कर्मणा, पूर्ण श्रद्धा रखते हुये शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी।[206] विद्यार्थी जीवन के लिये अनेक नियम निर्धारित किये गये थे, जिससे शरीर और आचरण की शुद्धता होती थी।

प्राचीन काल में अनुशासन के सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख प्राप्त होताहै, ब्रह्मचारी के लिए कृत्य कल्पतरू में एक विस्तृत अनुशासन संहिता का, ''इन्द्रिनिग्रह'' नामक अध्याय में वर्णन है।[207] लक्ष्मीधर [208] ने विस्तार से मनु को उद्वत करते हुए ब्रह्मचारी के लिए तपोबुद्धि, संयम, नियम, नित्यशीतल जल स्नान तर्पण, हवन, आदि कर्तव्य बताये गये। मधु, मांस, सुगन्धित द्रव्य, फूलों की माला, रस, स्त्री, उबटन, अंजन, जूता, छाता, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत, वाद्य, द्यूत निरर्थक वार्ता, निन्दा, असत्य, स्त्रीदर्शन, दूसरों की हानि आदि निषेधात्मक कर्तव्य बताये गये। अपरार्क ने हारीत को उद्धृत कर समिधा संग्रह, वेदि का मार्जन, लीपना, पंच भू– सत्कार, हवन, स्तुति पाठ, गुरू सेवा करना और बासी भोजन न करना हर जगह न थूकना और अग्न्योल्लंघन न करना ब्रह्मचारी

का कर्तव्य बताया है।[209] निंद्रा पर नियन्त्रण और निरालस्यता भी ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक थी।[210] बशिष्ठ ने खाट पर शयन, अंजन, छाता, रात्रि में अन्यत्र निवास आदि को वर्जनीय कहा है[211] देवल ने चिकित्सा, ज्योतिष, लाक्षणिक विद्या, शिल्पकला, बढ़ई का काम, द्रव्य, घर, खेत, धन–संग्रह आदि कर्मो को ब्रह्मचारी के लिए निषेध बताया है।[212]

कुल्लूक के अनुसार उपनयन के अनन्तर गुरूकुल में ब्रह्मचारी को शारीरिक एवं आत्मिक दोनों प्रकार से संयमित जीवन व्यतीत करने का निर्देश था।[213] ब्रह्मचारी के कर्तव्यों में संध्योपासना का भी स्थान था। सन्ध्याकाल वह समय है जब न पूर्ण प्रकाश हो और न पूर्ण अन्धकार। प्रतिदिन संध्या समय की प्रार्थना संध्योपासना कहलाती है।[214] कुल्लूक के अनुसार जो विद्यार्थी प्रातः और सायंकाल संध्योपासना कर्म नही करता वह शूद्र के समान माना जाता था।[215] विवेच्ययुग में अग्नि की पूजा, अग्नि में हवन ब्रह्मचारी का एक महत्वपूर्ण कर्तव्य था।[216] लक्ष्मीधर का भी ऐसा ही विचार था।[217] कुल्लूक ने यज्ञोपवीत से समावर्तन तक प्रातः एवं सांयकाल अग्नि में हवन का उल्लेख किया है।[218]

अलबरूनी लिखता है कि विद्यार्थी का कर्तव्य ब्रह्मचर्य का पालन, भूमि को अपना बिछौना बनाना, वेद और उसके भाष्य, ब्रह्मविद्या तथा धर्मशास्त्र का अध्ययन करना है। यह सब उसे गुरू सिखाता है, जिसकी वह दिन रात सेवा करता है।[219] कुल्लूक ने ब्रह्मचारियों के लिए मधु, मांस अथवा अन्य उत्तेजनात्मक, खाद्य–पदार्थों को वर्जित बताया है।[220] विज्ञानेश्वर के अनुसार ब्रह्मचारी को आचमन दिन में तीन बार करने का विधान था।[221] लक्ष्मीधर का भी विचार है कि ब्रह्मचारी को प्रतिदिन तीन बार प्रणव या ओंकारनाद के साथ मंत्रोच्चारण करते हुए आचमन करना चाहिए।[222]

कुल्लूक[223] ने ब्रह्मचारियों के लिए एकाग्र मन एवं प्रसन्न मुख होकर मात्र दो समय भोजन करने, अधिक भोजन न करने का विधान बताया है। परन्तु कृत्य कल्पतरू में लक्ष्मीधर ने बशिष्ठ, आपस्तम्ब, हारीत, यम को उद्धृत कर उल्लेख किया है कि

ब्रह्मचारी के लिए भोजन की मात्रा पर प्रतिबन्ध नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि विद्यार्थी के शिक्षा एवं स्वास्थ्य के लिए संतुलित भोजन पर ध्यान दिया जाता था।

इत्सिंग के विवरण के अनुसार[224] भिक्षुओं के भोजन में सादगी थी, संतुलित भोजन में दूध, मक्खन, फल, चावल, विशेष महत्वपूर्ण थे। भिक्षुओं की एक निश्चित दिनचर्या होती थी। भिक्षुओं को समय सूचक यन्त्र अपने पास रखना पड़ता था। भिक्षु शालाओं में भिक्षुओं को वस्त्र एवं भोजन दिये जाते थे, जिसका कारण यह था कि वे जीवन की इन सामान्य आवश्यकताओं के उपकरणों के संचय की चिंता में न पड़े और अपने समय का पूर्ण सदुपयोग करे।

जैन और बौद्ध साहित्य के अवलोकन के ज्ञात होता है कि शिष्य की उदण्डता के लिए आचार्य द्वारा शारीरिक दण्ड दिया जाता था। अनुशासन हीनता दर्शाने पर विद्यार्थियों को उनके आचार्य थप्पड़, छड़ी एवं अपशब्दों द्वारा दण्डित करते थे।[225] ऐसे भी उदाहरण मिलते है कि आचार्य शिष्य के अनुशासनहीन होने पर दण्ड देने के स्थान पर दुःखी होकर वन को चले जाते थे।[226] स्पष्ट है कि शिष्य पर इस विधि द्वारा अधिक अनुकूल मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता रहा होगा। इत्सिंग ने तद्युगीन शिक्षालयों में प्राप्त अनुशासन के स्वरूप का विस्तृत उल्लेख किया है, उसके अनुसार[227] अध्ययन और अनुशासन आचार्यों के नियन्त्रण में चलता था। किसी भिक्षु के त्रुटिपूर्ण कार्य करने पर एक समिति दण्ड पर भी विचार करती थी तथा दण्ड के विषय में तर्क विर्तक कर निर्णित दण्ड भिक्षुओं को दिया जाता था।

इत्सिंग के अनुसार भिक्षुओं को नियमित रूप से धार्मिक क्रिया कलापों में रूची लेनी पड़ती थी। उनके दैनिक कार्य शारीरिक श्रम पर आधारित थे। वेश–भूषा साधारण थी। शारीरिक कार्यों के अन्तर्गत शुद्ध वायु की प्राप्ति के लिए प्रातः काल टहलना पड़ता था।[228] छात्रों को प्रातः उठते ही अपने आचार्य के लिए आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था करनी पड़ती थी। आचार्य की सेवा करते हुए, वरिष्ठ भिक्षुओं के प्रति विनम्र

रहते हुए नियमित रूप से अध्ययन एवं वाद–विवादों में तत्पर रहते हुए अधिकतम ज्ञान को अर्जित करना एक अनुशासन पूर्ण जीवन के ही परिणाम थे। सहज जीवन में किसी भी रूप में, जाने अनजाने होने वाली त्रुटियों के लिए भिक्षुओं को या तो पश्चाताप करना पड़ता था या आचार्य द्वारा उनकी तीव्र भर्त्सना होती थी।[229] जिससे विद्यार्थी त्रृटि के निदानार्थ प्रयत्न करें।

अनुशासन स्थापित करने के संदर्भ में नारद का कथन है कि पीठ पर ही मारा जा सकता है, सिर या छाती पर कभी नहीं।[230] नियम विरूद्ध जाने पर शिक्षक को वहीं दण्ड मिलना चाहिए जो चोर को मिलता है।[231] इन सबसे स्पष्ट होता है कि गुरू और शिष्य के तद्युगीन समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अपने – अपने आदर्श थे, जिसके पालन के लिए कठोर नियम बनाये गये थे।

उपरोक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि हमारे अध्ययन काल में गुरू का जीवन विद्यार्थी के लिए आदर्श का प्रतीक था। गुरू, शिष्य को सभ्य नागरिक बनाने के लिए अनुशासन पर विशेष ध्यान देता था।

परीक्षा एवं उपाधि

वर्तमान परीक्षा प्रणाली की भांति, जिसे हम वार्षिक या अर्धवार्षिक कहते हैं, प्राचीन शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी, बल्कि आचार्य की संतुष्टि ही शिक्षा की पूर्णतया मानी जाती थी। आचार्य अपने छात्रों को अगला पाठ तभी पढ़ाते थे, जब वे इस बात से पूर्णतया संतुष्ट हो जाते थे कि वह छात्र पिछला पाठ कंठस्थ कर लिया है। अतः शिक्षा की समाप्ति किसी विस्तृत परीक्षा प्रणाली से न होकर अंतिम पाठ की आवृत्ति और व्याख्या से होती थी।[232] जिन छात्रों से आचार्य संतुष्ट नहीं होते थे, उन्हें पुनः उसी कक्षा में रखा जाता था तथा उनसे दुबारा पिछले पाठ की आवृत्ति के लिये कहा जाता था। अध्ययन की पूर्णता के उपरान्त जब वे उनकी उपलब्धि से संतुष्ट हो जाते थे, तब उन्हें पंडितों की सभा में उपस्थित किया जाता था, जहां उनसे

कुछ प्रश्न पूछे जाते थे।[233] संतोषजनक उत्तर मिलने के उपरान्त उन्हें गृहस्थ जीवन में प्रवेश की अनुमति दे दी जाती थी। समावर्तन संस्कार के समय प्रत्येक ब्रह्मचारी पंडितों की सभा में उपस्थित होता था।[234] लेकिन इसका अधिकारी वही ब्रह्मचारी होता था, जिसे पंडित सभा स्वीकृति प्रदान करती थी। इस प्रकार पंडित सभा की स्वीकृति से ही किसी ब्रह्मचारी, को स्नातक उपाधि प्राप्त होती थी।

बौद्ध शिक्षा की पूर्णता उपसम्पदा संस्कार के उपरान्त मानी जाती थी। इसका अधिकारी वही भिक्षु होता था, जिसकी अवस्था न्यूनतम 20 वर्ष होती थी और जो आध्यात्मिक अनुभव रखता था। 15 वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या की दीक्षा दी जाती थी। इस प्रकार भिक्षु जीवन का प्रारम्भ प्रव्रज्या की दीक्षा से और उसका समापन उपसम्पदा की दीक्षा से होता था। वह संघ के सम्मुख खड़ा होकर श्रद्धापूर्वक अपने दोनों हाथ को जोड़कर ऊपर उठाते हुए उपसम्पदा समाप्त करने की तीन बार याचना करता था और संघ उसे मौन रूप में स्वीकार कर लेता था।

चरक ने पंडितों की सभा में वैद्यों की योग्यता सम्बन्धी परीक्षा का उल्लेख किया है।[235] राजशेखर ने भी राजसभा में आयोजित होने वाली परीक्षाओं का उल्लेख किया है।[236] किन्तु ये परीक्षाएं वर्तमान उपाधि परीक्षाओं से सर्वथा भिन्न थी, क्योंकि उस समय समावर्तन संस्कार के समय शास्त्रार्थों के माध्यम से छात्रों की उच्चतम योग्यता का आंकलन किया जाता था। राजसभा या पंडितों की सभा में सम्पन्न होने वाले विद्वत शास्त्रार्थों का उद्देश्य अपने को एक कवि, साहित्यकार, शिल्पकार या वैद्य के रूप में स्थापित करना था इससे नयी–नयी प्रतिभाएं उभरती थीं। चूंकि, प्राचीन शिक्षा का मूल उद्देश्य व्यक्ति को चरित्रवान एवं ज्ञानवान बनाकर उनका सर्वांगीण विकास करना था, अतः सैद्धान्तिक शिक्षा की अपेक्षा व्यवहारिक शिक्षा पर विशेष बल दिया जाता था। पांचवी शताब्दी तक किसी भी शिक्षार्थी को प्रमाण–पत्र या उपाधि पत्र वितरित किये जाने का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु, समकालीन विद्वानों के मध्य प्रायः शास्त्रार्थ एवं

विद्वत गोष्ठियां आयोजित होने का प्रमाण मिलता है जो प्राचीन शिक्षा पद्धति की एक स्वाभाविक विशेषता थी। इसका उद्देश्य प्रतिभाशाली विद्वानों को प्रकाश में लाने,[237] उन्हें प्रोत्साहित करने एवं उनकी योग्यता को महत्व देने से था। याज्ञवल्क्य का शाक्ल्य से शास्त्रार्थ इसी प्रकार का था।[238] जनक की राजसभा में आयोजित शास्त्रार्थ का नेतृत्व याज्ञवल्क्य ने किया था। इस शास्त्रार्थ में जितने भी प्रश्न पूछे गए, उन सभी प्रश्नों का समाधान उन्होंने किया था। उद्दालक आरूणि, अश्वल, आर्तभाग, भुज्जु, उशस्त, कहोड़, शाक्ल्य और गार्गी जैसी विभूतियां उस विद्वत सभा में सम्मिलित थी। गार्गी के अनेक गूढ़ प्रश्नों से याज्ञवल्क्य स्तब्ध थे। किन्तु, याज्ञवल्क्य को ही शास्त्रार्थ का विजेता घोषित किया गया था और उन्हें एक हजार गायें, जिनकी सीगों में पांच–पांच स्वर्ण पाद बंधे हुए थे, भेंट की गयी थी।[239] शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उद्दालक आरूणि और सौचेय में ब्रह्म विषयक शास्त्रार्थ हुआ था।[240] उद्दालक आरूणि ने उदीयमान विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये आवाहित कर शौनक ऋषि से परास्त हुआ था और उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था।[241] पाचांल परिषद् का संरक्षक प्रवाहण जैबलि था, जिसके निर्देशन में बारम्बार ज्ञान चर्चाएं होती रहती थी। प्रारम्भिक विद्वत् गोष्ठियों में स्त्रियां भी ऋक् गान किया करती थीं।[242] इन विद्वत् गोष्ठियों का विषय साधारणतया ब्रह्म विषयक होता था। किन्तु, उत्तर कालीन गोष्ठियों में विभिन्न विषयों पर ज्ञान चर्चाएं होने लगी। वात्स्यायन ने ऐसी विद्वत् गोष्ठियों का उल्लेख किया है, जहाँ लोगों को मधुर वार्ता का अवकाश मिलता था, एकत्रीकरण से सामाजिकता को बल मिलता था, साहित्यिक एवं धार्मिक परिचर्चाएं होती थी तथा अनेक प्रतिभाशाली विद्वान प्रकाश में आते थे।[243] हर्षचरित से भी विदित होता है कि उन दिनों ऐसी विद्वत् गोष्ठियां आयोजित होती थी, जहां विभिन्न विषयों पर परिचर्चाएं चलती थीं।[244] महाकवि बाण ने ऐसी गोष्ठियों को ''विद्या गोष्ठी'' कहा है।[245] स्पष्ट है कि विवेच्यकाल में विभिन्न विषयों के लिये अलग–अलग विद्वत् गोष्ठियों का आयोजन होने लगा था। 'काब्य–गोष्ठी' में

'प्रबन्ध–शास्त्र' के विषय और रचना पर विचार किया जाता था।[246] 'प्रमाण–गोष्ठी' में विषयों की प्रमाणिकता पर विचार किया जाता था।[247] 'वीर गोष्ठी' में वीरता और शौर्य से संबन्धित परिचर्चाएं होती थी।[248] काशी में आयोजित विद्वत् गोष्ठी जगत प्रसिद्ध थी, जहां शंकर और मंडन मिश्र के मध्य शास्त्रार्थ हुआ था। स्पष्ट है कि शैक्षिक पाठ्यक्रमों का क्षेत्र विस्तृत होने से विद्वत् गोष्ठियों की विषय वस्तु भी परिवर्तित हुई। लेकिन, ये गोष्ठियां परीक्षा या उपाधि वितरण से संबन्धित न होकर ज्ञान चर्चा तक ही सीमित रही। निःसंदेह इन गोष्ठियों के माध्यम से विषय की गंभीरता, उपयोगिता एवं प्रमाणिकता सिद्ध कर विभिन्न शंकाओं का समाधान किया जाता था। यह वर्तमान राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय सेमिनारों, गोष्ठियों की भांति था, जहां विद्वत् जन एक दूसरे के ज्ञान एवं अनुसंधान से लाभान्वित होते थे।

विवेच्यकाल में बौद्ध शिक्षा केन्द्रों पर प्रमाण–पत्र वितरण का भी उल्लेख मिलता है। तिब्बती विद्वान तारानाथ के एक लेख से ज्ञात होता है कि – उत्तरकालीन बौद्ध शिक्षा केन्द्रों पर उपाधि–पत्र वितरित किया जाने लगा था। पाल शासक धर्मपाल, जो विक्रमशिला विश्वविद्यालय के संस्थापक एवं संरक्षक थे, वहाँ के स्नातकों को अध्ययन की समाप्ति के उपरान्त उपाधि और प्रमाण पत्र वितरित करते थे।[249] लेकिन, इसके लिए वर्तमान लिखित परीक्षा की भांति किसी परीक्षा का दृष्टान्त नहीं मिलता। बंगाल की पंडित सभाओं द्वारा गंगाधर और जगदीश जैसे प्रकांड् विद्वानों को 'तर्क चक्रवर्ती' और 'तर्कालंकार' जैसी उपाधियां दी गई थी। यह व्यवस्था संभवतः इसलिए बनायी गयी थी, जिससे संबंन्धित संस्था के स्नातकों की पहचान बनी रहे। इस बात की पुष्टि ह्वेनसांग के विवरण से भी होती है, जिसके अनुसार 7वीं शताब्दी के कुछ धूर्त पंडित यश प्राप्ति हेतु नालन्दा का नाम चुराते थे।[250] यह उत्तरकालीन शैक्षिक ह्रास एवं स्नातकों में हो रहे नैतिक पतन को रेखांकित करता है।

इस प्रकार प्राचीन स्नातकों का ज्ञान उनके व्यक्तित्व में परिलक्षित होता था। अपनी विद्वता के कारण ही वे तत्कालीन समाज में पूज्य थे। एक सामान्य शिष्टाचार था कि यदि राजा और ब्रह्मचारी दोनों आमने–सामने चले आ रहे हो, तो राजा हटकर उन्हें मार्ग देता था। यह उनके महत्व को रेखांकित करता है।

सन्दर्भ -

1. जैमिनी सूत्र, 3.1.3 पर शबर की टीका, वेदान्त सूत्र पर शंकर भाष्य 1.1.4, काणेः धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. 176
2. पी.वी. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृष्ट 176
3. कृत्य. ब्रा., भूमिका, पृ. 50 पर उद्धृत संस्कार प्रकाश, पृ. 132
4. तंत्रवार्तिक पृ. 1078
5. ''चत्वारिंशत्संस्कारै : संस्कृतः'' पर हरदत्त, 1.1.1.8
6. वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग 1 पृ. 189 चित्र कमय थाने कै रंगो कन्मील्यते शब्दै : ब्राह्ममण्य मपितद्वत् स्यात् संस्कारै विधिपूर्वकम्।
7. कुल्लूक, 2.27, मेधातिथि 2.26–26
8. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग 1, पृष्ट 132
9. वीर मित्रोदय, संस्कार प्रकाश, पृ. 321, याज्ञवल्क्य स्मृति पर अपरार्क की टीका, 1–13, स्मृति चन्द्रिका, संस्कार काण्ड पृ0 67
10. अपरार्क, पृ. 30–31, स्मृति चन्द्रिका, 1, पृ0 26
11. संस्कार प्रकाश पृ. 221–25, संस्कार रत्नमाला, पृ. 904–7
12. वीरमि, संस्कार प्रकाश, द्वितीय जन्मनः पूर्वमार भेताक्षरासुंधी :।
13. अर्थशास्त्र, 1.2 वृत्तचौलकर्मा लिपि संख्यानं चोपयुजीत्।
14. रघुवंश, 3.7

15. उत्तर राम, अंक, 2, लवकुशयोर्निवृत्त चौलकर्मणोश्च।.......

16. आश्वलायन गृह सूत्र, 16.6 यथर्षि शिखां विदधाति। वराह गृह सूत्र, खण्ड–4

17. राजबलि पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ. 99–110

18. संस्कार प्रकाश, पृ. 334

19. बौ.गृ.सू. 2.8.1.12 (बौधायन गृहाशेष सूत्र)

20. बौधायन धर्म सूत्र, 2.6, न ह्यस्मिन्विद्यते कर्म किंचिदामौजिबन्धनात्।

21. विष्णु पुराण, 4.3.37, कृतोपनयनं चैनमौर्वो वेद शास्त्राणि अध्यापयामास

22. वही, 3.13.39

23. वही 5.21.19

24. ब्रह्माण्ड पुराण, 3.35.31.14

25. आपस्तम्ब गृह सूत्र 1.15, अशूद्राणाम दृष्ट कर्मणा मुपायनम्। निरूक्त, 2.4.1

26. छादोग्य उपनिषद 5–2,

27. राजबली पाण्डेय : हिन्दू संस्काराज, पृ. 123

28. कृत्य. ब्रह्म. काण्ड पृ. 105

29. आपस्तम्ब गृह सूत्र

30. निर्णय सिन्धु, पृ. 528–529

31. वही पृ. 550–551, बी.मि.सं. भाग – 1

32. आ.ध.सू. 1.1.32 येथा पिता पितामह इति अनुपते तौ स्याम् तेषाभिच्छतां प्रायश्चितम्।

33. वृह. उप., 5.2.1., 6.2.9

34. वही, 6.2.7, वाचा ह स्मैव पूर्वभुषयति

35. ऋग्वेद, मंडल 10,109, 3.8, 4.5

36. आ.ध.सू. 4.10.4, बसन्तो ग्रीष्मश्शरदित्यृतवो वर्णाननुपूर्व्येण।

37. बौ.ध.सू. 1.2.12, गायत्रया ब्राह्मण सृजत त्रिष्टुभा.............

38. वही 2.8.11.2 तै. सं., 6.3.10, 5, शत ब्रा. 11.5.4 में उपनयन का वर्णन है।

39. विष्णु पुराण 3.9.1, गौ. ब्रा., 1.2.1.8.

40. आ.गृ.सू., 3.8.11

41. गो.गृ.सू. 2.1.19

42. पा.गृ.सू. 2.2, आश्व.गृ.सू. 1.19.1.6, बौ.गृ.सू. 2.5, आ0गृ0सू0 11

43. मनु, 2.36, याज्ञ., 1.11, गो. ध. सू. 1.6.12.

44. छां. उप. 6.2.1, 6.12

45. जै.गृ.सू. 1.12, गौ.ध.सू. 1.1.7, मा.गृ.सू. 1.22.1, वा. गृ. सू., 6.

46. जै.गृ.सू. 1.12,

47. बौ.गृ.सू. 2.55,

48. शत.ब्रा. 11, तां. ह स्मैतां पुरा सवत्सरे अन्वाह : संवत्ससमिता वै गर्भा :

49. आपस्तबं गृ.सू. 1,1,2,34–37 आश्वलायन गृ.सू. 1,19 11–13, शांखायन गृ.सू. 2,1,

50. शांखायन गृ.सू. 2,1,18–30, आश्वलायन गृ.सू. 1,19,13 पारस्कर गृ.सू. 2,5, 25–27, आपस्तंव गृ.सू. 5,2,16

51. शाखायन गृ.सू. 2,2,3

52. वही 2,2,4 आदि पारस्कर गृ.सू. 2,2,17 आदि

53. शाखायन गृ.सू. 2,4,1 आवश्लायन गृ.सू. 1,21,7

54. भासं (तीसरी शती) और दण्डिन (7वी शती) के अनुसार यज्ञोपवीत का ब्रह्मणत्व प्रतीक का मानते थे। रघुवंश, 11–64

55. स्मृ. चं. में याज्ञवल्क्य का वचन पृ. 299.

56. गो.ब्रा., 1.2, 1.3

57. भाग गृ.सू., 1.5 अयं म इहम आत्मा जातवेद :

58. आश्व.गृ.सू. 1.20.6, देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी स भा मृत।

59. शत.ब्र. 11.5.4.3

60. मा.गृ.सू., 1.22.12, प्रस्तर बल का भी प्रतीक है। मा. गृ. सू. 1–8, बालक को अभेद्य करने से है।

61. पा.गृ.सू., 2–3, कस्य त्वं ब्रह्मचर्यासि।

62. अश्व.गृ.सू., 1.20, 4

63. हिर.गृ.सू. 1.5.11

64. पाराशर गृ.सू., मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका, 2.38, शा.गृ.सू. पर नारायण की टीका, आश्व.गृ.सू. 3–7 तथा वा.गृ.सू. 6, मनु पर नारायण की टीका, 2–38.

65. वृहत्पराशर के अनुसार, अग्नि पुराण के अध्याय 216 में गायत्री मंत्र की गुरूता बतायी गयी है।

66. मा.गृ.सू., 1.22.11

67. वात्स्या, गृ.सू., 6

68. अपरार्क, 1–29

69. अ.के. 6–108, 1.3

70. श. ब्रा., 11.2.6, बौ. ध. सू., 1.3

71. बौ.गृ.सू., 3, 1:2:3, खा गृ.सू. 3:2:14 हिर. गृ.सू. 2:18.1 गो.गृ. सू. 2.7.2 में यहां तक कहा गया है कि दक्षिणायन में किसी भी समय उपाकर्म किया जा सकता है।

72. छंद सामुपाकर्म को ही श्रावणी कहा जाने लगा।

73. आश्व गृ.सू. 3.4.10, बौ.गृ.सू. 3.1.3

74. प.गृ.सू. 2–10,

75. वा.गृ.सू., 7

76. जै.गृ.सू. 1–14

77. आ.ध.सू., 1.1.2.12,

78. जै.गृ.सू., उपाकर्म खण्ड,

79. बौ.गृ.सू., 3.1

80. व.ध.सू., 20–21

81. पाणिनि, 5.10.112 समापनात्सपूर्वपदात्

82. आश्व. गृ.सू. 3.9.4

83. मा. गृ.सू. 1.2.3

84. वीर, मित्रो, 575

85. भ.गृ.सू. 11.1.8

86. बौ.गृ.सू., 2.6

87. आ.गृ.सू. 1.11.5

88. गौ.ध.सू. 2.54.55

89. तै.उप. 1–11

90. महद्वै एतद् भूतं या स्नातकः।

91. स्मृ.च.पृ. 299 पर बौधायन का वचन।

92. वासोविन्यासविशेषों यथोपवीतम्। दक्षिणं बाहुयुद्धरतेत्रवधत्ते सत्यमिति येज्ञापवीत मिति ब्राह्मणम्।

93. अजिनं वासो दक्षिणत उपवीय

94. 2–2,4, 21'22, नित्यमुत्तर वासः कार्यम्। अपि य सूत्रमेवोयवीतार्थे।

95. स्मृ.च.पृ. 84

96. वही, पृष्ट 84

97. वशिष्ठ, वीर मि.पृ. 21

98. वीरमि. 421

99. वीरमि 427 में भृगु का वचन

100. मज्झिनिकाय, 2, पृ. 103, अरियाम जाति तोजातः थेरीगाथ सं. 17

101. महावाग्ग, 1.50

102. मिलिन्दपन्हो, 1.28

103. जातक, 1 पृष्ट 106

104. यह संस्कार फरवरी/मार्च माह में सम्पन्न होता था। इस अवसर पर एक बार पुनः वैदिक देवों, देवियों एवं भूतकालीन विद्वत्जनों का गुणवान किया जाता था।

105. मनु, 4.98

106. अर्थशास्त्र 2.4 के अनुसार, अध्ययन के उद्देश्य से बाहर गये ब्रह्मचारी की पत्नियों को पुनर्विवाह एवं नियोग के लिये 10–12 साल तक प्रतीक्षा करनी चाहिए।

107. जातक, 252

108. तै. ब्रा., 3.10.11, भरद्वाजों हवै त्रिभिरायु भिर्ब्रह्मचर्य मुवास। तहं इन्द्र.....

109. आ.गृ.सू. 2.6

110. छां. उप. 8.7.4., 4.10–15

111. वही, 6.1.1

112. एजूकेशन कमीशन रिपोर्ट मद्रास प्रान्त कमेटी, 1882, पृ. 6

113 तै. ब्रा., 3.10.11

114. उद्धरण (फ्रेगमेन्ट) सं. 41

115. नदिया गजेटियर पृ. 182

116. बौ.ध.सू. 1.2.31, पूर्व मीमांास की टीका, 1.3

117. अपरार्क, पृ. 72, मदन पृ. 111, माधव, पृ. 111

118. ह्वेनसांग, 1.160.1

119. हर्ष चरित्र में वर्णित

120. हारीत स्मृति, 3.13—14

121. पाणिनी, 5.1.94

122. बौ.ध.सू. 1.11, मौ.ध.सू. 2.7, मनु स्मृति 4.100

123. मनु. 2.102—117

124. याज्ञ. की टीका में अपरार्क का उद्धरण, 1.142.151

125. बौ.ध.सू. 1.11.40, मनसा चानध्याये, अ.ध.सू. 1.3.11.24

126. विष्णु पु., 3.12.36 अकाल गर्जितादौ च पर्वस्वाशौ चकादिषु

127. याज्ञ. स्नातधर्म प्रकरण, 45—46

128. मनु, 2.105, वेदोपकरमे चैव स्वाध्याये चैक नैत्यके। नानुरोधेडस्त्यन ध्याये होम मन्त्रे षुचैवहि।।

129. कूर्म पुराण, नानाध्यायोअस्मि चांगेषु नेतिहास पुराण थौः। न धर्म शास्त्रे व्यन्येषु पर्वण्येयानि वर्जयेत्।।

130. वी.मि.सं.,पृ. 536

131. तै.आ., 2.15, मनु. 4.127

132. जातक निकाय, 2.4

133. वैटर्स, जिल्द – 2, पृ. 165, बील, पृ. 170—171

134. बसु कृत इंडियन टीचर्स ऑफ बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज, पृ. 47.60 'द्वारपाल' पंडितों की उपाधि थी।

135. जीवनी, पृ. 112

136. सा.इ.ए.रि., 1918, पृ. 145

137. बर्नियर, पृ. 145

138. ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा : पूर्वोक्त पृ. 47, पर उद्धृत वृहत्कथा कीष। हरिसेन कृत 76,61

139. जयशंकर मिश्र : ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. 70 पर उद्धृत दक्ष 2.34 मिताक्षरा ,द्वारा उद्धृत याज्ञ 3.110 और अपरार्क पृ. 126

140. कृत्य, दान कांड, पृ. 207–213

141. सचाऊ, अलबेरूनी इण्डिया, भाग –1, पृ. 125

142. मनु 12/102, शबर, पृ. 6, याज्ञवल्क्य स्मृति 1/51 अपरार्क पृ. 74 मनु. 319

143. नीतिसार, पृ. 234

144. शुभासिता वली पृ. 16

145. मनुस्मृति पृ. 134

146. वाटर्स, ह्वेनसांग, भाग–1, पृ. 160

147. आर.के. मुकर्जी : पूर्वोक्त पृ. 452

148. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग – 1 पृ. 160

149. पंचतंत्र : पृ. 166–67

150. प्राचीन भारत, पृ. 114

151. वाटर्स : ह्वेनसांग, भाग – 1, पृ. 160

152. सचाऊ : अलबेरूनी इण्डिया, भाग – 1, पृ. 160

153. साउथ इण्डिया एनुअल रिर्पोट, 1918, पृ. 160–62

154. ह्वेनसांग की भारत यात्रा, ठाकुर प्रसाद शर्मा, पृ. 319

155. वाटर्स, ह्वेनसांग पृ. 162

156. वाटर्स : पृ. 162

157. उक्ति – व्यक्ति प्रकरण, पृ. 77

158. इत्सिंगः पृ. 177

159. वही पृ. 178

160. वही, पृ. 177

161. हर्षचरित, सर्ग–1 समान विद्या विनयशील बुद्धि

162. हर्षचरित, सर्ग–1

163. वही, सर्ग – 1

164. वही, सर्ग – 3

165. हर्षचरित, सर्ग–1 महाहीलापगम्भीर गुण बद्धगोष्ठी श्रोपतिष्ठ मानः।

166. ललित विस्तर, अध्याय – 10

167. आर्किलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एनुअल रिर्पोट, 1903, पृ. 247–7

168. दशरथ शर्मा : चौहान सम्राट पृथ्वी राज तृतीय और उनका युग, पृ. 70

169. अलबरूनीज इण्डिया, भाग – 1 पृ. 132

170. मजूमदार, दि वाकाटक गुप्ता एज, पृ. 369

171. टी.सी. दास गुप्ता : सम ऐसपेक्ट्स ऑफ बंगाली सोसाइटी, पृ. 168

172. अभिज्ञान शाकुन्तलम् 10,46

173. प्रबन्धकोष पृ. 8, 3.5

174. ललित विस्तर, अध्याय 10

175. दिव्यावदान, का उवेल द्वारा सम्पादित, पृ. 532

176. टी.सी. दास गुप्ता : पूर्वोक्त पृ. 168

177. स्टार्क : वर्नाकुलर एजूकेशन पृ. 28–48

178. जपर : एजूकेशन इन मुस्लिम इण्डिया, पृ. 20

179. डॉ. गीता देवी : पूर्वोक्त, पृ. 52–53

180. वहीं,

181. अर्थववेद 1/1/5

182. शिवपराुण 5, शिव दीक्षा विधान एवं गुरूमहात्म्य

183. प्रबन्धकोष पृ. 91

184. ब्र.पु. 4,43

185. याज्ञवल्क्य, 1, 212 की टीका में अपरार्क द्वारा उद्धत

186. दश कुमार चरितम् पृ. 21–22

187. नीतिवाक्यामृतम् पृ. 65

188. वही, पृ. 66

189. वाचस्पत्ति द्विवेदी : कथासरित्सागर एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 177

190. कृत्य. ब्रम्ह. पृ. 240, आपस्तम्ब, 18,24,28 को उद्धृत

191. नीतिवाक्यामृतम्, पृ. 64–65

192. ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा : सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दन इण्डिया, पृ. 47

193. अल्तेकर : पूवैक्ति, पृ. 46–47

194. शंख स्मृति, पृ. 375, 3.4

195. कृत्य. ब्रह्म. पृ. 188, 189

196. वही, पृ. 186

197. वही, पृ. 185

198. वृत्तान्त पृ. 117–20

199. वृत्तान्त, पृ. 105–106, हर्ष चरित, सर्ग–2

200. लक्ष्मीधर : कृत्य. ब्रह्म., प्रस्तावना, पृ. 75

201. कृत्य. ब्रह्म., 199–201, 210–221, 240–243

202. अल्तेकर : पूवैक्ति, पृ. 45

203. आर.के. मुखर्जी : पूवैक्ति पृ. 374

204. उत्तराध्ययन, 1.13, 12.41, 18,22

205. शिक्षा समस्या विशेषांक, साहित्य परिचय। तृतीयांका 1968 पृ. 223

206. आर.के. मुखर्जी : पूर्वोक्त, पृ. 38

207. 'इन्द्रिय निग्रह' एवं ब्रह्मचारी नियमा। नामक अध्याय 14,15

208. वही, पृ. 221–229

209. अपरार्क, 1.50, पृ. 71 पर उद्धृत हारीत .

210. कृत्य. ब्रह्म. पृ. 230, वशिष्ठ स्मृति, पृ. 538.1.28

211. वशिष्ठ स्मृति, 7.11, पृ. 200, खटवशन दन्त प्रसलांजना भ्यं जनोंपाच्छ

212. अपरार्क, पृ. 72 पर उद्धत देवल

213. मनुस्मृति पर कुल्लूक की टीका 2, 174–75

214. कृत्य. ब्रह्म. पृ. 64, भूमिका

215. मनु पर कुल्लूक, 2.103

216. स्मृति चंद्रिका, आ.का. पृ. 55

217. कृत्यं. ब्रह्म. पृ. 183 पर उद्धृत आपस्तम्ब

218. मनु पर कुल्लूक, 2.108

219. अलबरूनी का भारत : 1 अनु. 1 रजनीकांत शर्मा पृ. 380

220. मनु पर कुल्लूक , 2.117

221. याज्ञवल्क्य विज्ञानेश्वर : आचाराध्याय, पृ. 9, श्लोक 20

222. कृत्य कल्पतरू, भूमिका, पृ. 62

223. मनु पर कुल्लूक 2.53, 54,56,57

224. इत्सिंग, पृ. 63,40,43,44 तथा पृ. 145, 194

225. उत्तराध्ययन, 38,3,65, जातक, 2.279

226. उत्तराध्ययन, 27,8,13,16

227. इत्सिंग, पृ. 63

228. इत्सिंग, पृ. 114

229. इत्सिंग, पृ. 63, 117, 120

230. पी.वी. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास (अनु.) पृ. 247

231. मनु. 8/300

232. मिलिन्द पन्हु, 1, पृ. 18

233. वृह. उप., 6.2.1.2

234. द्रा. गृ.सू. 3.1.26

आ.अ.सू. 1, 11.5

235. विमान स्थान, 8

236. काव्य मीमांसा, पृ. 55 श्रूयते च उज्जायिन्या .... परीक्षिता : ख्यातिमुपजम्मुः

237. कामसूत्र, सोशल लाइफ इन एंशिएन्ट इंडिया, 163–65

238. शत. ब्रा. 11.6.31

239. बृ. उप. 3.51–12

240. श.ब्रा. 11.5.3.–11

241. वही. 11.5.3

242. ऋग्वेद 10.71.11

243. क्रम सं. 187

244. हर्षचरित सर्ग 1 समाज विद्या विलशील.... गोष्ठी।

245. वही, हर्षचरित सर्ग–1

246. कादम्बरी, पृ. 4

247. हर्षचरित, सर्ग 3

248. हर्ष चरित, सर्ग, 1, वीर गोष्ठीय।

249. वसुकृत बौद्ध विद्यालयों के भारतीय आचार्य

250. वैटर्स, 2, पृ. 165

* * * * *

पंचम अध्याय

प्राचीन भारत के प्रमुख शिक्षण केन्द्र

प्राचीन भारत के प्रमुख शिक्षण केन्द्र

'शिक्षा' व्यक्ति को प्रकृति से संस्कृति की ओर ले जाने वाली प्रक्रिया है। आरम्भिक शिक्षा औपचारिक न होकर संस्कृति की एक अंतर्निहित अंग थी। तब शिक्षा आदिम जनों के बीच लोगों के समूह में रहने, बसने और जीवन जीने की पारस्परिक पद्धति एवं उससे उपलब्ध अनुभवों का सांस्कृतिक नाम था। जैसे–जैसे सभ्यता का विकास होता गया, जीवन जटिल से जटिलतर होता गया और जीवन तथा जगत से सम्बन्धित ज्ञान की आवश्यकता और विविधता भी बढ़ती गयी। परिणामतः शिक्षा के अन्तर्गत शिक्षक – शिक्षार्थी, पाठ्यक्रम – प्रविधि, संस्था आदि का सन्निवेश हुआ। डा० अल्तेकर के अनुसार, शिक्षा की औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रविधि प्रचलित थी। औपचारिक शिक्षा के अन्तर्गत मन्दिरों, आश्रमों एवं गुरुकुलों में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी, जबकि पिता, पुरोहित, कथावाचक, सन्यासियों के प्रवास, तीर्थयात्रायें, पर्व, त्योहार, मेला आदि अनौपचारिक शिक्षा के सशक्त माध्यम थे।[1]

आरम्भ में पिता ही शिक्षक की भूमिका का निर्वहन करते थे और परिवार पाठशाला होती थी। अनेक भाष्यकारों ने पिता को शिक्षक के रूप में स्वीकार किया है।[2] धर्मसूत्रों में माता को श्रेष्ठ गुरु कहा गया है।[3] किन्तु विकास के क्रम में शिक्षा का स्वरूप एवं क्षेत्र विस्तृत होता गया। सामान्य अध्ययन की जगह विशेषाध्ययन की प्रवृत्ति विकसित हुई। विषय विशेषज्ञ अवतरित हुए तथा सम्बन्धित ज्ञान को वितरित करने के उद्देश्य से निजी पाठशालाएं स्थापित होने लगी। कालान्तर में ऐसी ही पाठशालायें गुरुकुलों के रूप में अपनी पहचान बनाई। कतिपय शिक्षणशालायें बड़े शिक्षण संस्थान के रूप में स्थापित एवं विकसित हुए। तक्षशिला और काशी जैसी संस्थायें इसी प्रकार की थी। बौद्ध धर्म के विकासोपरान्त संघाराम, मठ एवं विहार बौद्ध शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बने। कालान्तर में कई मठ एवं विहार बड़े केन्द्र के रूप में स्थापित हुए। बौद्धो से

प्रभावित होकर दक्षिण भारतीय ब्राह्मणों ने भी अपने मन्दिरों में शिक्षण कार्य प्रारम्भ किया। इस प्रकार दक्षिण भारतीय मंदिर भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बने। यद्यपि बड़े शिक्षण– संस्थान कतिपय प्रसिद्ध क्षेत्रों तक ही सीमित थे, जहां धर्म दर्शन एवं आध्यात्म के अतिरिक्त अन्य विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती थी, जबकि शेष क्षेत्रों में शिक्षा वितरित करने का कार्य वे ही शिक्षक करते रहे, जो स्वेच्छा से अध्यापन कार्य करते आ रहे थे। इस कार्य में तत्कालीन पुरोहित वर्ग भी सम्मिलित था। इस प्रकार व्यक्तिगत पाठशाला चलाकर शिक्षा को प्रोत्साहित करने वाले शिक्षक सदैव उसके प्रहरी बने रहे। ये शिक्षक प्रारम्भिक शिक्षा के साथ –साथ विभिन्न शिल्पों, ललित–कलाओं एवं अन्य उपयोगी विषयों की शिक्षा प्रदान करते थे

वेदों के अनुयायियों ने प्रारम्भ में परिषद्, शाखा और चरण जैसे कई संघ बना लिये थे, लेकिन उन्होनें कोई ऐसी संस्था नहीं स्थापित की थी जो अपनी भावी संतति को समस्त विषयों की सम्यक् शिक्षा प्रदान कर सके। चूँकि, प्राचीन शिक्षा का तात्पर्य वैदिक ज्ञान से था। अतः तत्कालीन शिक्षा वैदिक धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म पर ज्यादा केन्द्रित रही। वेदों का अध्ययन–अध्यापन, आध्यात्मिक चिंतन एवं मनन ब्राह्मणों का धर्म माना गया था। अतः प्रारम्भ में प्रत्येक ब्राह्मण स्वयं में एक संस्था था, उसका व्यक्तिगत प्रयास ही शिक्षा के उत्थान में सहायक बनता था। यद्यपि, तक्षशिला और काशी जैसे प्रमुख नगर प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित होने लगे थे, जहाँ विद्वान स्वेच्छा से शिक्षण कार्य करते थे तथा शिक्षार्थियों की संख्या अधिक होने पर वे ज्येष्ठ शिष्यों की मदद से अपने शैक्षिक दायित्वों का निर्वहन करते थे। किन्तु, वर्तमान की भाँति किसी स्वतन्त्र संस्था का उल्लेख नही मिलता। प्राचीन एथेन्स में भी शिक्षा वितरण का कार्य विद्वत जन स्वेच्छा से ही करते थे। दृष्टव्य है कि यूरोप में सार्वजनिक शिक्षण–संस्थाओं के जन्मदाता चार्लमेन था।[4]

भारत में सार्वजनिक शिक्षण–संस्थाओं को स्थापित एवं विकसित करने का श्रेय

बौद्धों को जाता है। बुद्ध ने सभी उपासकों के लिये शिक्षण को अनिवार्य बताया था। जिज्ञासु भिक्षुओं को व्यवहारिक ज्ञान के साथ–साथ आध्यात्मिक चितंन एवं मनन कराया जाता था। इस प्रकार प्रारम्भिक बौद्ध शिक्षण केन्द्र महज आध्यात्मिक चिंतन–मनन के लिये प्रसिद्ध थे। किन्तु कालान्तर में वे बड़े शिक्षण संस्थान के रूप में स्थापित हुये। प्रारम्भ में ये गुरुकुलों के प्रतीरूप थे, जहां आचार्य एक कुल की जगह पूरे विहार का प्रधान होता था। प्रारम्भिक बौद्ध मठ एवं विहार जिज्ञासु भिक्षुओं को धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म की शिक्षा वितरित करते थे, किन्तु आगे चलकर जनसाधारण वर्ग भी बौद्ध शिक्षा की ओर उन्मुख हुआ और शैक्षिण पाठ्यक्रमों का स्वरूप विस्तृत होता गया बौद्धों से प्रेरणा प्राप्त कर ब्राह्मणों ने भी देवालयीय शिक्षा की परम्परा प्रारम्भ की। इस प्रकार परिवार, गुरुकल, देवालय, संघाराम, मठ एवं विहार आदि आलोच्यकालीन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र रहे, जो विकास के क्रम में बड़े शिक्षण – संस्थाओं के रूप में स्थापित हुयें। लज्जाराम तोमर के अनुसार, देशभर में विभिन्न शिक्षण संस्थानों एवं विद्यापीठों का विकास हुआ, जो गुरुकुलीय आश्रम, ऋषिकुल, आचार्य कुल, तक्षशिला, नालन्दा, बलभी आदि रूप में वर्णित है।[4A] इन संस्थाओं को दो वर्गों में विभक्त करना समीचीन होगा – 'ब्राह्मण शिक्षण केन्द्र एवं 'संस्थायें' तथा 'बौद्ध शिक्षा केन्द्र एवं संस्थायें'।

ब्राह्मण शिक्षण केन्द्र

प्रारम्भ में प्रत्येक अध्यापक स्वयं में एक संस्था थाओर उनका व्यक्तिगत प्रयास शिक्षा के उत्थान में सहायक बनता था। अतः प्रारम्भ में किसी बड़े शिक्षण – संस्थान का उल्लेख नहीं मिलता। व्यक्तिगत प्रयास से चलने वाले विद्यालय सम्पूर्ण भारत में फैले हुये थे, जो प्रसिद्ध तीर्थ स्थल या धार्मिक केन्द्र होते थे। किन्तु, कालान्तर में शिक्षा का क्षेत्र एवं उसका फलक विस्तृत होने के कारण शासक एवं कुलीन वर्ग के सहयोग से प्रमुख नगर और कतिपय गांव शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में विकसित हुये। लक्षशिला, कन्नौज, मिथिला, धारा, काशी अनहिलपाटन, कांची मालखेड़, कल्याणी,

नासिक, तंजौर और कर्नाटक जैसे स्थल प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित हुये। कभी–कभी शासक या कुलीन वर्ग के सम्भ्रांत व्यक्ति प्रसिद्ध विद्वानों को आमंत्रित कर और उनकी जीविका का समुचित प्रबन्ध कर किसी गांव में बसा देते थे, जिनका प्रमुख कर्तव्य लोगों को शिक्षा प्रदान करना होता था। इस प्रकार के ग्राम 'अग्रहार ग्राम' कहलाये।

व्यवस्थित – शिक्षण संस्थाओं के अन्तर्गत सर्वप्रथम 'गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली' का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में आचार्य – कुल ही व्यवस्थित शिक्षा के प्रधान केन्द्र होते थे, जहां जिज्ञाषु शिक्षार्थी गुरु सेवा में दत्तचित् होकर अभीष्ट विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। महाकाव्य साहित्य से ज्ञात होता है कि जिज्ञासु शिक्षार्थी महान ऋषियें के सान्निध्य में रहकर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। उपनयन संस्कार के उपरान्त वे आचार्य कुल में निवास कर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे।[5] छान्दोग्य उपनिषद् से विदित होता है कि उद्दालक आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु ने 12 वर्ष की अवस्था में गुरुकुल में निवास कर सदाचरण और सद्वृत्ति के साथ कई अभीष्ट विषयों की शिक्षा प्राप्त की थी।[6] पारस्कर और आश्वलायन गृहसूत्र से भी आचार्य कुल में निवास कर शिक्षा प्राप्त करने की पुष्टि होती है।

उपनिषद् साहित्य में ''गुरुकुल'' के स्थान पर ''आचार्य कुल'' का प्रयोग मिलता है। ''कुल'' एक सार्थक और सारंगर्भित शब्द है, जिससे एक परम्परा का बोध होता है। कालान्तर में गुरुकुल के दो प्रकार विकसित हुए, एक गृहस्थ गुरु आश्रम एवं दूसरा वानप्रस्थ प्रव्रजित –आश्रम। 'छान्दोग्यपनिषद' में इसके लिये 'आचार्य कुलवासी'' ''अन्तेवासी'' जैसे शब्दों के साथ–साथ 'ब्रह्मचर्यवास का भी उल्लेख हुआ है।[7]

महाकाव्य साहित्य में भी गुरुकुलों का दृष्टान्त मिलता है, जो शिक्षा के विख्यात अधिष्ठान थे। कृष्ण और बलराम ने सन्दीपनि मुनि के आश्रम मे शिक्षा प्राप्त की थी।[8] कंच ने शुक्राचार्य के कुल में विद्या ग्रहण किया था।[9] भारद्वाज और बाल्मीकि के आश्रम

उच्चकोटि के गुरुकुल थे।[10] प्रयाग के संगम तट पर महर्षि भारद्वाज का आश्रम था, जहाँ छात्रों द्वारा वेदपाठ होता था। वहां अध्ययन–अध्यापन और आवास हेतु विभिन्न वर्णशालाओं को निर्माण किया गया था। वेद पाठ के साथ–साथ हवन–पूजन भी सम्पादित होता था। चित्रकूट के मंदाकिनी नदी के तट पर महर्षि बाल्मीकि का आश्रम था, जहाँ अध्ययन के लिये इच्छुक छात्र सुदूरवर्ती क्षेत्रों से आकर निवास करते थे, तथा विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। ऐसा उल्लेख मिलता है कि महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में नवागंतुक छात्रों को विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। महर्षि आगस्त्स्थ का आश्रम दण्डकारण्य में स्थित था, जहाँ उनके छात्र यज्ञीय कार्य सम्पन्न करने के साथ विभिन्न विषयों के अध्ययन में संलग्न रहते थे। महाभारत में वर्णित है कि मार्कण्डेय और कण्व ऋषि के आश्रम शिक्षा के प्रधान केन्द्र थे।[11] जहाँ विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इन आचार्यो के शिक्षा मण्डलों में बहुसंख्यक छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। महर्षि व्यास का आश्रम हिमालय पर्वत पर स्थित था, जिनके निर्देशन में सुमन्तु वैश्ययायन और जैमिनि जैसे विद्वान वैदिक साहित्य में पारंगत हुये थे। महर्षि शौनक का आश्रम नैमिषारण्य में अवस्थित था, जहां ब्रह्मचारियों का अध्ययन 12 वर्षों तक चलता था। उन्हें विभिन्न विषयों और दर्शनशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। महान विद्वान सत्यकाम जाबाल के आश्रम में उपकोसल माकलायन ने शिक्षार्थी के रूप में 12 वर्ष तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुये निरन्तर अपने आचार्य की सेवा की थी।[12] सत्यकाम जाबाल स्वयं आचार्य हरिद्रुमत गौतम के कुल में भन्तेवासी बनकर ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से गया था।[13] और विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते हुएं आचार्य की आज्ञा का नतमस्तक होकर अक्षरशः पालन किया था।[14] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में शैक्षिक दृष्टि से गुरुकुलों की महत्ता थी, जहाँ द्विज वर्ण के जिज्ञासु छात्र शिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से जाते थे। स्मृतियों में भी गुरुकुलों में निवास कर विद्या–प्राप्ति का उल्लेख मिलता है।[15] विद्यार्थी का गुरुकुलों में प्रवेश करना उसके

द्वितीय जन्म के समान था[16] जो उसके जीवन की गौरवमयी घटना माना जाता था।

चन्द्रगुप्त मौर्य ने तक्षशिला में चाणक्य के सान्निध्य में रहकर शिक्षा ग्रहण की थी। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि उस समय भी जिज्ञासु छात्र गुरुकुलों में निवास कर शिक्षा प्राप्त करते थे।[17] चम्पा निवासी दिशा प्रमुख के आश्रम में 500 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। कोशल के सुनेत्त और सेल उस समय के विख्यात आचार्य थे।[18] मिथिला का ब्रह्मायु ब्राह्मण अनेकानेक शिष्यों का आचार्य था, जिसके अन्तेवासीउच्च कोटि के विद्वान थे।[19]

गुप्तकाल में भी गुरुकुलीय शिक्षा निर्बाध रूप से चलती रही। ब्राह्मण आचार्यों के निवास विद्यार्जन के प्रधान केन्द्र थे। गुप्त अभिलेखों से विदित होता है कि आचार्यों को ग्राम दान मे दिये जाते थे। आचार्य देवशर्मा को ब्रह्मपूरक ग्राम दान में दिया गया था।[20] कालिदास के ग्रंथों में अनेक ऐसे आश्रमों का उल्लेख मिलता है, जहाँ बौद्धिक उत्कर्ष के निमित्त जिज्ञासु छात्र जाते थे और वे विभिन्न विषयों मे पारंगत होते थे। बाण ने हर्ष चरित में लिखा है कि वह विद्या प्राप्ति के लिये कई वर्षों तक गुरु के आश्रम में रहा था।

पश्चिम भारत में 945 ई. में एक गांव के मुखिया ने विद्यार्थी संघ को पुष्कल भुमि–खण्ड दान में दिया और उस पाठशाला के अध्यापक के रहने के लिये एक मकान दिया। उस गांव के ब्राह्मणों ने संस्कारों के समय उस पाठशाला के व्यय के लिये पुष्कल की धनराशि दान में देने का वचन दिया।

नवीं शताब्दी में काश्मीर के राजा अवंतिवर्मा ने उस वैष्णव मंदिर में जिसकी उसने स्थापना की थी व्याकरण की शिक्षा देने के लिये एक प्रसिद्ध विद्वान की नियुक्ति की। उसके बाद दसवीं शताब्दी में राजा यशस्कर ने आर्य देश के विद्यार्थियों के रहने के लिये एक मठ स्थापित किया।

दक्षिण भारत में पांडिचेरी के निकट बाहूर के विद्या संस्थान के लिये गंग–पल्लव

राजा विजय–नृपतृंग–वर्मा के मुख्यमंत्री ने तीन गांव दान में दिये थे। सबसे अधिक दान संबंधी अभिलेख चोल राज्य में मिले है। कांचीपुरम में सिद्धेश्वर मंदिर के पूर्व मे एक महाविद्यालय था। राजेन्द्र चोल प्रथम के एक अभिलेख में इस महाविद्यालय का स्पष्ट उल्लेख है। राजराज प्रथम के राज्य में एक व्यक्ति ने कुछ सुवर्ण मुद्राएं दान में दी। इस दान का उद्देश्य था कि इनके ब्याज से वर्ष में एक निश्चित दिन सामवेद का पाठ करने वाले ब्राह्मण को दक्षिणा दी जाये। राजेन्द्र चोल के समय में छोटी कक्षाओं के ऐसे 270 विद्यार्थियों के भरण–पोषण के लिये जो चारों वेद, कल्प सूत्र और व्याकरण पढ़ते थे और बड़ी कक्षाओं के ऐसे 70 विद्यार्थियों के लिये जो व्याकरण और मीमांसा दर्शन पढ़ते थे ग्राम सभा ने धान की उपज का कुछ भाग दान मे देने का निश्चिय किया।

क्षेमेन्द्र ने काश्मीर शिक्षा प्राप्त करने वाले एक गौड़ देश के निवासी विद्यार्थी का व्यंग्यचित्र प्रस्तुत किया है। इससे ज्ञात होता है कि ये विद्यार्थी शरीर से बहुत निर्बल होते थे। किन्तु काश्मीर में यज्ञों में आमंत्रित किये जाने पर पौष्टिक भोजन खाकर वे थोड़े समय में ही हृष्ट पुष्ट हो जाते थे। उनका ज्ञान भी अधूरा होता था और पोशाक छैलो जैसी। वे जुआ खेलते, चरित्रहीन और व्यभिचारी होते, और बहुत क्रोधशील भी होते थे। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में भी कुछ विद्यार्थी विद्या प्राप्ति और चरित्र निर्माण में अपना विद्यार्थी–जीवन न लगाकर भोग – विलास का जीवन बिताते थे।

ग्यारहवीं शताब्दी का लेखक अलबरूनी ने भी गुरूकुलीय शिक्षा का उल्लेख किया है, जहां जिज्ञासु छात्र दिन रात गुरू सेवा में तल्लीन रहकर विद्या प्राप्त करते थे।[21] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में गुरूकुलीय शिक्षा की परम्परा सर्वथा बनी रही। यहाँ जिज्ञासु छात्रों को अपेक्षित विषयों की समुचित शिक्षा दी जाती थी।

विकास के क्रम में गुरूकुलों के अतिरिक्त कतिपय नगर भी प्रमुख शिक्षण केन्द्र

के रूप में विकसित होते जा रहे थे, जिनका आलोचनात्मक विवेचन आवश्यक है।.........

तक्षशिला

रावलपिंडी से पश्चिम में लगभग 20 मील की दूरी पर स्थित, गांधार प्रान्त की राजधानी तक्षशिला शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। भरत ने इसकी स्थापना की थी और उसका पुत्र तक्ष यहां का शासक था।[22] भरत वंशी तक्ष के नामपर ही इसका नाम तक्षशिला पड़ा था। महाभारत से विदित होता है कि जनमेजय ने अपना नागयज्ञ यही सम्पन्न किया था।[23] ईसा पूर्व 7 वीं शताब्दी तक यह नगर शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था। सिकन्दर के समय में यह अपने दार्शनिक विद्वानों के लिये विख्यात था। काशी, कोशल, मिथिला, राजगृह, पाटलिपुत्र, वाराणसी और उज्जयिनी जैसे सुदूरवर्ती क्षेत्रों के ब्रह्मचारी यहां की शैक्षिक महत्ता से आकर्षित होकर विद्या ग्रहण करने के उद्‌देश्य से आते थे।[24] जातक साहित्य विदित होता है कि देश के विभिन्न क्षेत्रों से ज्ञानांभिलाषी छात्र यहां आकर आचार्यों के सान्निध्य में रहकर विभिन्न वेद, वेदांग, दर्शन एवं 18 शिल्पों की शिक्षा प्राप्त करते थे।[25] पाटलिपुत्र निवासी 'जीवक' जो तक्षशिला का शिक्षार्थी था, कालान्तर में आयुर्वेद का एक महान विद्वान बना था। वह बुद्ध का समकालीन था। कोशल नरेश प्रंसेनजित, मौर्य नरेश चन्द्रगुप्त, महान अर्थशास्त्री कौटिल्य, वैयाकरणाचार्य पाणिनि और पतंजलि जैसे विद्वान यहां से शिक्षा प्राप्त कर अपने क्षेत्र में ख्यातिलब्ध हुए थे। महाभारत से विदित होता है कि उपमन्यु, आरूणि और वेद व्यास ने भी यहीं से ही शिक्षा प्राप्त की थी। कोशल से बहुतेरे शिक्षार्थी यहां आकर अनेकानेक विषयों में पारंगत होते थे।[26]

यद्यपि वर्तमान की भांति वहां कोई कालेज या विश्वविद्यालय नहीं था, तथापि अनेक ऐसे लब्धप्रतिष्ठित आचार्य थे, जिनके चरणों में बैठकर अध्ययन के उद्‌देश्य से देश के कोने कोने से सैंकड़ों शिक्षार्थी आते थे। आचार्य उच्च कक्षाओं के अपने विद्वान शिष्यों की सहायता से संस्था का कार्य सम्पादित करते थे। जातक काल में यहां

नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की संख्या अधिक थी, जो वेदो और शिल्पों में पारंगत होकर एकांत जीवन व्यतीत करते थे तथा उनके साथ उनके शिष्य भी निवास करते थे। जातक साहित्य से विदित होता है कि यहां एक आचार्य के निर्देशन में पांच – पांच सौ छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे।[27] लेकिन साधारणतया एक आचार्य के निर्देशन में 20 से अधिक ब्रह्मचारी नहीं होते थे। पाठ्यक्रमों का स्वरूप निर्धारित था। छात्र अपनी इच्छानुसार विषयों का चयन कर सकते थे। आचार्य अपनी सुविधानुसार शिष्यों की संख्या स्वीकार करता था तथा उन्हीं विषयों का वह अध्यापन करता था, जिनकी कामना शिष्य करते थे। शिक्षा की प्राप्ति स्वान्तः सुखाय के लिए कि जाती थी जिसका प्रधान उद्‌देश्य ज्ञान की प्राप्ति होता था। सुत्तसोम जातक से ज्ञात होता है कि एक आचार्य से 103 ब्रह्मचारी धनुर्वेद की शिक्षा ग्रहण करते थे।[28] इससे स्पष्ट होता है कि ऐसे भी आचार्य थे, जो सैंकड़ों शिक्षार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे।

उच्च शिक्षा के उद्‌देश्य से ही सुदूरवर्ती छात्र तक्षशिला आते थे, अतः संस्थाओं में प्रविष्टि के समय प्रायः वे 16 वर्ष के होते थे। चूंकि, आलोच्य काल में गुरू के निर्देशन में ही शिक्षा प्राप्त करने की परम्परा थी। अतः वे साधारणतया आचार्य कुल में ही निवास करते थे तथा आचार्य उनके लिये भोजन और आवास की व्यवस्था सुनिश्चित करते थे।[29] साधारणतया एक अध्यापक के पास 15–20 से अधिक छात्र नहीं होते थे, अतः उनके भोजन और आवास की व्यवस्था करना आसान होता था। लेकिन, जब सार्वजनिक पाठशालाओं का जन्म हुआ, तब उन पाठशालाओं के साथ ही उनमें छात्रावास भी बनने लगे। प्रायः सम्पन्न घरों के ब्रह्मचारी अपने भोजन और आवास का व्यय चुका देते थे। जातक साहित्य से विदित होता है कि राजकुमार जुन्ह ने अपने निवास हेतु स्वतन्त्र आवास की व्यवस्था किया था।[30] निर्धन ब्रह्मचारी, जो शुल्क देने में असमर्थ होते थे, दिन में आचार्य की गृहस्थी में सहयोग प्रदान कर रात्रि में अपना अध्ययन कार्य सम्पन्न करते थे। कुलीन और निर्धन छात्र दोनों समान रूप से शिक्षा

प्राप्त करते थे।[31] तथा धनी छात्र शुल्क द्वारा, जबकि निर्धन छात्र श्रम द्वारा गुरू दक्षिणा चुकाते थे।[32] ऐसा उल्लेख मिलता है कि धनी छात्रों द्वारा एक सहस्र कर्षापण गुरू दक्षिणा में अर्पित किया जाता था।[33] द्विज वर्ण के सभी जिज्ञासु शिक्षार्थी बिना किसी भेद के समान रूप में शिक्षा प्राप्त करते थे। विषयों के चयन में वर्ण सम्बन्धी बाध्यता नहीं थी। जातक साहित्य से ज्ञात होता है कि एक ब्राह्मण राजपुरोहित ने अपने पुत्र को धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से तक्षशिला भेजा था।[34] दर्जी और मछुवारें जैसी निम्न जाति के ब्रह्मचारी भी विद्या ग्रहण करने के उद्देश्य से तक्षशिला जाते थे।[35] निश्चय ही यह तत्कालीन जाति व्यवस्था के लचीलेपन को रेखांकित करता है योग्य और मेधावी छात्रों को राजकीय सहायता पर शिक्षा के निमित्त भेजने का विधान मिलता है। वाराणसी और राजगृह के राजकुमारों और राज पुरोहित पुत्रों के साथ निर्धन, किन्तु योग्य और मेधावी छात्रों के जाने का उल्लेख मिलता है।[36]

काशी

विद्या और ज्ञान के क्षेत्र में काशी का महत्व वैदिक काल से था जो उपनिषद् काल में एक प्रतिष्ठित शिक्षण संस्था के रूप में स्थापित हुआ। काशी नरेश अजातशत्रु अपनी ज्ञान गरिमा, प्रतिभा और विद्वता के लिए देश विदेश में ख्यात था। उससे शिक्षा प्राप्त करने के लिए देश विदेश के शिक्षार्थी काशी आते थे। लेकिन सुदीर्घ काल तक तक्षशिला की ही महत्ता व प्रतिष्ठा बनी रही। स्वयं वाराणसी के शासक अपने पुत्रों को उच्च शिक्षा के लिए तक्षशिला भेजते थे। काशी के अनेक आचार्य भी तक्षशिला के ही स्नातक थे। [37] किन्तु कालान्तर में ज्ञान गरिमा की दृष्टि से काशी की भी प्रतिष्ठा स्थापित हुई और देश देशान्तर के ज्ञानाभिलाषी छात्र वहां आकर ज्ञान प्राप्त करने लगे।

23 वें जैन तीर्थकर पार्श्वनाथ, जो काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे, काशी में ही सर्वप्रथम जैन – धर्म की आचार संहिता निर्मित की थी। अतएव यह जैन शिक्षा का भी एक प्रधान केन्द्र था।

काशी की महत्ता के कारण बुद्ध ने भी अपना सर्वप्रथम उपदेश, जिसे "धर्मचक्रप्रवर्तन" के नाम से जाना जाता है, काशी में ही दिया था और यहीं से उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार प्रारम्भ किया था। ऐसा संभवतः इसलिए हुआ जिससे उनके सिद्धान्तों का प्रभाव काशी के विद्वानों पर पड़ सके। मौर्य शासक अशोक ने यहां पर अनेक बौद्ध मठों और विहारों का निर्माण करवाया था। 7वीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने यहां के विहारो, स्तूपों, चैत्यों और भवनों को देखा था। उसके अनुसार यहां अनेक बहुमंजिले इमारते थी जो अत्यन्त आकर्षक एवं हृदय को मोहित करने वाली थी।[38]

11वीं शताब्दी में पंजाब से विद्वानों के विस्थापन से काशी और कश्मीर में ही आने से विद्वानों की संख्या बढ़ गयी थी क्योंकि काशी और काश्मीर ही दो हिन्दू शिक्षा के मुख्य केन्द्र थे।[39] अलबेरूनी ने भी लिखा है कि हिन्दू विधाए हमारे विजित प्रदेशों से भागकर काश्मीर और काशी जैसे सुदूर स्थानों में चली गयी।

12वीं शताब्दी में गहड़वाल दान पत्रों के प्राप्तकर्ता अधिकांश ब्राह्मण संस्कृत की पाठशालाएं और विद्यालय उत्साह पूर्वक चलाते थे। शंकराचार्य जैसे विद्वान दार्शनिक के काशी आकर यहां के विद्वानों द्वारा अपने सिद्धान्तों को स्वीकृत करवाने का उल्लेख मिलता है काश्मीरी कवि श्री हर्ष जो गहड़वाल शासक विजय चन्द्र के सभासद थे। उन्होंने "नैषध चरित" की रचना काशी में रहकर ही की थी।

काश्मीर

यह भी प्राचीन भारत में शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था।[40] धार्मिक दृष्टि से यह शैव एवं बौद्ध मत का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। सम्राट कनिष्क ने प्रथम शताब्दी ई0 में चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन यहां करवाया था। साक्ष्यों से विदित होता है कि साहित्य, दर्शन, न्याय, ज्योतिष और इतिहास आदि के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान यहां हुए थे, जिन्होंने साहित्य और संस्कृत के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना भी की थी।

रत्नाकर रचित हरिविजय, शिव स्वामी रचित शिवांक, क्षेमेन्द्र रचित वृहत् कथामंजरी, रामायाण मंजरी, भारत मंजरी, बोधिसत्वावदान, क्षेमेन्द्र पुत्र रचित चारूचर्या, नीति कल्पतरू, मंखक रचित श्री कंठचरित, कल्हण रचित राजतरंगिणी इत्यादि उल्लेखनीय है। यह निश्चित रूप से कश्मीर के शैक्षिक महत्व को प्रमाणित करता है।

कांची

दक्षिण भारत में पल्लव शासकों के सहयोग से कांची एक महान शिक्षा केन्द्र के रूप में विकसित हुआ था। समुद्रगुप्त के शासन काल में इसकी प्रतिष्ठा थी। कालान्तर में यह दक्षिण भारत के एक शक्तिशाली नगर के रूप में स्थापित हुआ, यहां अनेक आचार्य वैदिक साहित्य का अध्यापन कार्य करते थे। विभिन्न क्षेत्रों के शिक्षार्थी, यहां शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से आते थे। दण्डिन, शूद्रक, भारवि, मयूरवर्मन, वात्स्यायन और दिंगनाथ आदि ऐसे विद्वान थे, जो यहां रहकर शिक्षा प्राप्त किये थे। इन विद्वानों को देखते हुए स्पष्ट है कि यह दक्षिण भारत का एक महत्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र था, जहां संस्कृत भाषा और वैदिक साहित्य की शिक्षा दी जाती थी।

ह्वेनसांग 640 ई0 में जब पल्लव राजा नरसिंह वर्मन प्रथम का शासन चल रहा था, कांची की यात्रा पर आया था। बन्दरगाह नगरी होने के कारण अन्य देशों से शैक्षिक और सांस्कृतिक आदान प्रदान स्वाभाविक था। भारत के दक्षिण भाग के निवासियों के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों के निवासी यहां शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा वृत्तान्त में कांची की विद्या सम्पन्नता पर अत्यधिक प्रकाश डाला है। उसने लिखा है कि कांची के नागरिक विद्यानुरागी, जनसेवक, और विश्वास पात्र थे। ह्वेनसांग ने सौ बौद्ध मठ, जिनमें दस हजार भिक्षु निवास करते थे और अस्सी मंदिर का उल्लेख किया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विवेच्ययुग में कांची एक अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा केन्द्र के रूप में पूर्णतः स्थापित हो चुका था। जहां बैदिक और बौद्ध शिक्षा का अध्ययन–अध्यापन होता था और यहां विभिन्न सम्प्रदाओं के विद्वान निवास करते थे।

शिक्षा केन्द्र के रूप में देवालय

बौद्ध विहारों की भांति मंदिरों में भी शिक्षण कार्य की जानकारी प्राप्त होती है। प्रारम्भ में शिक्षा देने का कार्य पुरोहित अपने घरों पर करते थे, किन्तु देवालयों की स्थापना के उपरान्त यह कार्य देवालयों में भी होने लगा, लेकिन साक्ष्यों के अभाव में इसकी विस्तृत जानकारी नहीं प्राप्त हो पाती।

दक्षिण भारतीय प्रालेखों से ज्ञात होता है कि वहां के देवालयों में बहुत सी पाठशालाएं चलती थीं, जिनका प्रबन्ध ग्राम सभा की देवालय उप समिति करती थी। दान की सम्पत्ति का प्रबन्ध तथा पाठशालाओं में अध्यापकों की नियुक्ति सम्बन्धी कार्य उप समिति ही करती थी। कौन सा विषय पढ़ाया जाय, किस विषय में कितने विद्यार्थी रखे जायें आदि प्रश्नों का निर्णय प्रधान आचार्य के परामर्श से उप समिति करती थी। जबकि, पाठशाला के आन्तरिक प्रबन्धन का उत्तरदायित्व प्रधान आचार्य पर होता था। छात्रावासों का निरीक्षण, उनमें शिक्षार्थियों का प्रवेश, भोजनालयों में भृत्यों की नियुक्ति तथा उनके लिये रसद आदि का प्रबन्ध आचार्य ही करता था। कतिपय पाठशालाओं में चिकित्सालय भी होते थे। अध्यापकों में पाठ्य–विषयों का विभाजन, ग्रन्थकारों का निरीक्षण, संस्था में अनुशासन आदि के लिये प्रधान आचार्य ही उत्तरदायी होते थे। मंदिरों के अर्न्तगत चलने वाले शिक्षण कार्य से संबंधित भवन उसके–आस पास ही होते थे। खुले मौसम में वृक्षों के नीचे भी अध्ययन अध्यापन चलने का उल्लेख मिलता है।

बीजापुर स्थित सालोत्गी देवालय विद्यापीठ काफी प्रसिद्ध था जिसका निर्माण राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के मंत्री नारायण ने करवाया था संस्कृत का यह विद्यापीठ शिक्षार्थियों के भोजन और आवास की निःशुल्क व्यवस्था करता था। इस कार्य के लिए 500 निवर्त्तन भूमि दान में प्राप्त थी। प्राचार्य के वेतन के लिये भी 50 निवर्तन भूमि दानस्वरूप मिली थी। इस संस्था के लाभ से प्रभावित होकर लगभग प्रत्येक ग्रामवासियों ने विवाह के अवसर पर 5 रू0, उपनयन के समय 2 रू0, एवं मुडन के समय 1 रूपया

देने का निश्चय किया था। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न समारोह पर अधिकाधिक छात्रों और अध्यापकों को भोजन कराये जाने का उल्लेख मिलता है। कुछ धनी व्यक्तियों द्वारा ऐसी विधियाँ स्थापित कर दी गई थी, जिनके व्याज से विद्यार्थियों के लिये दीप की व्यवस्था सुनिश्चित की जाती थी। इस प्रकार यह संस्था सुचारू रूप से चलती थी।

दक्षिण में अरकाट जिले में स्थित एन्नारियम् देवालय विद्यापीठ में लगभग 16 अध्यापक निर्धारित पाठ्यक्रम के अनन्तर अध्यापन कार्य करते थे। इस विद्यापीठ को सुचारू रूप से चलाने के लिए स्थानीय ग्राम सभा ने 300 एकड़ भूमि दान में दी थी। इस प्रकार यह संस्था लगभग 340 विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा, भोजन, आवास की व्यवस्था सुनिश्चित करती थी। विभिन्न विषयों के लिये शिक्षार्थियों की संख्या निर्धारित थी। ऋग्वेद और कृष्ण यजुर्वेद में प्रत्येक के 75, सामवेद के 40, शुक्ल यजुर्वेद के 20, अथर्ववेद, बौधायन धर्मसूत्र और वेदांन्त में प्रत्येक के 10, व्याकरण के 25, मीमांसा के 35 तथा रूपावतार के 40 विद्यार्थी यहां अध्ययन करते थे।

चिंगलपट जिले में स्थित तिरिमुक्कुदल देवालय विद्यापीठ[41] जिसके तत्वाधान में एक विद्यापीठ, एक शिक्षार्थी शाला और एक चिकित्सालय चलते थे। यहाँ 60 विद्यार्थियों के लिये शिक्षा, भोजन और आवास की व्यवस्था सुनिश्चित थी।

चिंगलपट जिले में ही स्थित तिरूवोर्रियूर देवालय विद्यापीठ[42] 13वीं शताब्दी में व्याकरणिक शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। जो एक स्थानीय शिवालय के बगल में स्थित विशाल भवन में चलता था। यहां अध्ययनरत् लगभग 340 शिक्षार्थियों के भोजन अच्छादन के लिये 400 एकड़ भूमिदान में प्राप्त थी, अध्यापकों की संख्या लगभग 15 से 20 से आस पास रही होगी।

इस प्रकार दक्षिण भारत में देवालय विद्यापीठ महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित थे। अन्य विद्यापीठों में धारवाड़ जिले में स्थित भुजवेश्वर मंदिर, जो एक मठ

था, जिसे दो सौ एकड़ भूमि दान में मिली थी। यहां लगभग 200 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे।[43] उन्हें शिक्षा के साथ–साथ निःशुल्क भोजन और आवास भी उपलब्ध कराया जाता था। हैदराबाद स्थित नगई नामक स्थान पर एक संस्कृत विद्यापीठ का उल्लेख मिलता है, जहाँ 550 विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे। 200 विद्यार्थियों को वैदिक साहित्य, 200 को स्मृति साहित्य, 100 को महाकाव्य एवं 50 को दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। "पुस्तकालयाध्यक्ष का उल्लेख मिलना, यहां स्थापित पुस्तकालय की विशालता एवं उसके शैक्षिक माहौल को रेखांकित करता है।"[44] बीजापुर स्थित एक देवालय को शिक्षा–दीक्षा एवं भोजन आच्छादन के प्रबन्ध हेतु 1,200 एकड़ भूमि दान में प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है।[45] इसी जिले में भनगोली नामक स्थान के एक मंदिर के पंडित द्वारा व्याकरण के अध्यापन का उल्लेख मिलता है, जिसे 20 एकड़ भूमिदान में मिली थी।[46] कर्नाटक स्थित बेलंगवे के दक्षिणेश्वर मंदिर की ओर से एक निःशुल्क विद्यालय चलाये जाने का उल्लेख मिलता है।[47] शिमोगा स्थित तालगुण्ड के पाणेश्वर देवालय की ओर से भी एक पाठशाला चलाए जाने का उल्लेख मिलता है, जहां 8 विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क भोजन और आवास का प्रबन्ध था। ये शिक्षार्थी ऋग्वेद, सामवेद, मीमांसा शास्त्र वेदान्त, भाषा शास्त्र तथा कन्नड़ साहित्य का अध्ययन करते थे। तंजौर स्थित पुन्नवयिल नामक स्थान पर भी स्थानीय देवालय से सम्बद्ध एक व्याकरण विद्यालय चलाये जाने का उल्लेख मिलता है, जिसे 400 एकड़ भूमि दान में मिली थी, जहाँ न्यूनतम 500 विद्यार्थी अध्ययन कार्य करते थे।[48] साउथ इंडियन एपिग्राफी रिपोर्ट संख्या 604, 667, 671 तथा 695 में तमिल देश के विभिन्न देवालयों में चलने वाले विद्यालयों के लिए दान का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट है कि मंदिरों में विद्यालय चलाना दक्षिण भारतीय शिक्षा पद्धति की विशेषता थी, जिसे विकसित करने में बौद्ध विहारों की भूमिका महत्वपूर्ण रही।

जहां तक देवालय शिक्षा की प्राचीनता एवं उसके क्रमिक विकास का प्रश्न है,

हिन्दू देवालय विद्यापीठ को व्यवस्थित रूप में स्थापित करने का श्रेय बौद्ध विहारों को जाता है। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि बौद्धों के पूर्व इसका अस्तित्व नहीं था। प्राचीन शिक्षा का धर्म से गहरा संबन्ध होने के कारण विद्वान ब्राह्मण धार्मिक कार्यों के साथ ही साथ शिक्षण कार्य भी करते थे और इसके लिए वे अपने आवास का उपयोग करते थे। लेकिन वे विद्वान ब्राह्मण जिनका आवास मंदिरों में होता था, वे शिक्षण कार्य के लिए मंदिर का प्रयोग करते थे और खुले मौसम में वृक्षों के नीचे अध्यापन कार्य करते थे। यह प्रथा कमोवेश हर समय स्थापित रही। लेकिन, इसे सर्वमान्य एवं व्यवस्थित रूप देने में बौद्धों की भूमिका महत्वपूर्ण रही। कालान्तर में भारत के लगभग सभी बड़े देवालय संस्कृत विद्यापीठ के रूप में स्थापित हुए।

अग्रहार गाँव

प्राचीन भारत में विभिन्न मांगलिक अवसरों पर राजा विद्वान ब्राह्मणों को अपनी सभाओं में आमंत्रित करते थे तथा उन्हें किसी गांव में बसाकर उनके जीवन निर्वाह हेतु उस गांव की सम्पूर्ण आय उन्हें दानस्वरूप दे देते थे। ऐसे गांव 'अग्रहार' कहे जाते थे। ऐसे गाँवों में विभिन्न विषयों का निःशुल्क अध्यापन कार्य होता था। 'कादियूर' और 'सर्वज्ञपुर' नामक ऐसे दो ग्रामों का उल्लेख किया जा सकता है।

राष्ट्रकूटों के शासनकाल में वेद, पुराण, न्याय, दंडनीति, निबंध तथा टीका आदि में पारंगत लगभग 200 ब्राह्मणों को धारवाड़ जिले में स्थित कादियूर नामक ग्राम, उन्हें अग्रहार में मिला था।[49] यह गांव शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था, जहाँ वेद, वेदांग काव्य, न्याय और दण्डनीति आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। इस गांव में एक अन्न सत्र भी चलता था, जहाँ निःशुल्क भोजन वितरित किया जाता था। यह संभवतः गांव में रहने वाले निर्धन शिक्षार्थियों के लिये चलाया जाता था।

मैसूर के हसन जिले में स्थित सर्वज्ञपुर नामक गांव ब्राह्मणों को दानस्वरूप मिला था, जहां वेद, वेदांग एवं षड्दर्शनों का अध्यापन कार्य होता था। प्राप्त एक लेख से

विदित होता है कि निखिल नामक ब्राह्मण अध्ययन, धर्म और नीति के वाक्यभूतों के श्रवण में तल्लीन थे।[50]

साधारणतया प्रत्येक "अग्रहार गांव" में विद्वान ब्राह्मण संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों का निःशुल्क अध्यापन कार्य करते थे[51] पांडिचेरी से 15 किलोमीटर दक्षिण स्थित 'बाहुर' भी ऐसा ही एक ग्राम था।[52] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में 'अग्रहार गांव' भी शिक्षा के प्रचार–प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते थे। दान में प्राप्त 'अग्रहार ग्राम' तत्कालीन समाज में शिक्षा के महत्व और उसके सम्मान को रेखांकित करता है।

टोल

लज्जाराम तोमर के अनुसार,– प्राचीन भारत में प्रत्येक गांव में एक शिक्षकीय विद्यालय होता था, जो उत्तर भारत में 'टोल' एवं दक्षिण भारत में 'अग्रहार ग्राम' के नाम से जाना जाता था।[53] अग्रहार ग्राम की भांति 'टोल' भी शिक्षा का महत्वपूर्ण केन्द्र होता था, जहां झोपड़ियों में अध्ययन–अध्यापन का कार्य चलता था। यद्यपि अध्यापक और छात्र के जीवन निर्वाह हेतु दान प्राप्त होता था, किन्तु जिस टोल को दान प्राप्त नहीं होता था, उसके पंडित विभिन्न त्योहार, धार्मिक कार्य (रक्षा बंधन, दशहरा, छठ इत्यादि) मांगलिक उत्सव आदि से धन इकट्ठा कर शिक्षार्थियों के भोजन आच्छादन की व्यवस्था सुनिश्चित करते थे।

प्रत्येक टोल में साधारणतया 25 शिक्षार्थी होते थे, जो निकट के ही किसी आवास में रहते थे तथा 6 से 8 वर्ष तक उनका शिक्षण कार्य चलता था। प्रवेशिका परीक्षा में सम्मिलित होने योग्य हो जाने पर उन्हें मुक्त कर दिया जाता था। ऐसे शिक्षण केन्द्रों पर संभवतः विभिन्न विषयों की प्रारंम्भिक शिक्षा ही दी जाती थी। टोलीय शिक्षा प्रणाली की यह परम्परा आज भी बिहार, बंगाल, असम एवं उत्तर प्रदेश के गांवों में देखने को मिल जायेगी। काशी, नासिक, वाई[54] और नदिया जैसे स्थानों पर संस्कृत साहित्य की शिक्षा निःशुल्क प्रदान करने की परम्परा आज भी जीवित है। छात्र द्वारा

आचार्य की सेवा एवं शारीरिक श्रम करने की तत्परता के कारण शिक्षा प्राप्ति में निर्धनता बाधक नहीं बनती थी। ब्रह्मचारी के लिये चाहे वह अमीर हो या गरीब भिक्षाटन जीविका का एक आदर्श माध्यम था।

बौद्ध शिक्षण केन्द्र

बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध का जन्म एक राजपरिवार में हुआ था। वहां की शासन व्यवस्था गणतंत्रात्मक थी, जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व में समाहित था। उनका विचार था कि जनतंत्रात्मक व्यवस्था की भांति सभी भिक्षुओं को बिना किसी भेदभाव के धर्म को स्वीकार करने एवं अपने भावनाओं को अभिव्यक्त करने का समान अवसर मिलना चाहिए। इसके लिए उन्होंने लोकतांत्रिक पद्धति पर गठित एक संगठन की आवश्यकता महसूस की, जिसका नाम उन्होंने 'संघ' रखा। अपने जीवनकाल में उन्होंने किसी को भी अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित नहीं किया तथा यह कार्य संघ के सदस्यों पर छोड़ दिया। संघ के संचालन हेतु भिक्षुओं के मध्य से ही निर्वाचन पद्धति के आधार पर उत्तराधिकारियों का चयन होता था। विभिन्न पदाधिकारियों का चयन भिक्षु संघ करता था। संघ की सभा में सदस्यों के बैठने की व्यवस्था 'आसन प्रज्ञापक' नामक अधिकारी करता था। सभा में कोई प्रस्ताव लाने से पूर्व उसकी सूचना सम्बन्धित अधिकारी को देनी पड़ती थी। संघ के सभी सदस्य जो दीक्षा प्राप्त भिक्षु होते थे, स्वतन्त्रता पूर्वक मतदान करते थे। मताधिकार का प्रयोग प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष पद्धति से होता था। किसी भी प्रस्ताव पर विवाद का निर्णय बहुमत से होता था। संघ की साधारण सभा के लिये न्यूनतम 20 सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी, अन्यथा वह सभा अनाधिकृत समझी जाती थी। इस प्रकार बुद्ध ने अपने जीवनकाल में लोकतांत्रिक संघीय व्यवस्था की नींव डाली।

संघ का सदस्य बनने के लिए प्रत्येक को प्रव्रज्या की दीक्षा लेना पड़ता था। प्रव्रज्या के समय प्रत्येक भिक्षुओं से वृक्षमूल को अपना आवास बनाने के लिये निर्देशित

किया जाता था। इससे भिक्षुगण राग–द्वेष से रहित, कठोर, सहनशील, त्यागी, अनुशासित, सच्चरित्र, अध्यवसायी, परिश्रमी और निर्मल ह्रदय के बनते थे। वे आचार विचार और नियम के पक्के होते थे तथा वर्षा–काल को छोड़कर सदैव भ्रमणशील रहते थे। पालि साहित्य से ज्ञात होता है कि बुद्ध ने जब संघ का सदस्य बनने के लिए 'प्रव्रज्या' की दीक्षा अनिवार्य कर दिया, तब उस समय तक आरण्यो में पाठशालाओं का निर्माण आरम्भ हो चुका था। इस प्रकार आरम्भ में वे आरण्य, वृक्षमूल, पर्वत, कंदरा, श्मशान – स्थल और पुआल के ढेर पर निवास करते थे। जंगलों में नदी तट के किनारे कुटिया बनाकर वे प्रवास करते थे, क्योंकि ऐसे स्थल ध्यान एवं साधना के लिये उपयुक्त वातावरण सुलभ कराते थे। विकास के क्रम में जब भिक्षुओं की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी, तब संघीय जीवन सम्यक् रूप से व्यवस्थित हुआ। बौद्धानुयायियों ने भिक्षुओं के लिए आराम स्थलों का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। इन स्थलों का उपयोग वे वर्षाकाल में करते थे। किन्तु धीरे – धीरे ये स्थल भिक्षुओं के स्थायी निवास बनते गये। अनुयायियों द्वारा दान में प्राप्त ये आरामगृह गांव एवं नगर से दूर एकांत स्थल पर होते थे। कालांतर मं इनका नामकरण "संघाराम" के रूप में हुआ। इस क्रम में कतिपय श्रद्धालु अनुयायियों ने संघाराम के साथ – साथ विभिन्न मठों एवं विहारों का भी निर्माण करवाया, जहाँ भिक्षुओं को धर्म एवं दर्शन की शिक्षा दी जाती थी।

बुद्ध के उपरान्त उनके विचारों एवं सिद्धान्तों का पर्याप्त प्रचार–प्रसार हुआ। भिक्षुओं की संख्या बढ़ी, लेकिन सर्वसाधारण वर्ग अब भी बौद्ध शिक्षा से वंचित रहा। अतः इस बात की आवश्यकता महसूस की गयी कि सर्वसाधारण को भी बौद्ध शिक्षा दी जानी चाहिए। परिणामतः इसका प्रचार प्रसार सर्वसाधारण वर्ग में होने के कारण पाठ्यक्रम एवं शिक्षा का फलक विस्तृत हुआ, और लोगों का आकर्षण भी बढ़ा। संघाराम, मठ, एवं विहार, जो प्रारम्भ में विशुद्ध धार्मिक केन्द्र थे, शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र बनते गये और बड़े शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित हुए। प्रारम्भ में इन स्थानों पर

मुख्यतः धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म की शिक्षा दी जाती थी।[55] किन्तु कालान्तर में जनोपयोगी विषयों की भी शिक्षा दी जाने लगी। प्रारम्भ में इनके नियम और अनुशासन गुरूकुलीय शिक्षा पद्धति की भांति था, किन्तु बाद में सांगठनिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था के अन्तर्गत इनका विकास हुआ। राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, लुम्बिनी आदि कई नगरों में मठों एवं विहारों का उदय हुआ। जो कालान्तर में बौद्ध शिक्षा के प्रधान केन्द्र के रूप में विकसित हुआ।[56] इन विहारों में श्रावास्ती का जेतवन, कपिलवस्तु का निग्रोधाम, वैशाली का कुटागार शाला तथा आम्रवन, राजगृह का वेणुवन, यष्टिवन और सीतावन आदि उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त कई संघाराम का भी विकास हुआ, जहां शिक्षण कार्य के साथ – साथ आध्यात्मिक चिंतन मनन होता था।[57]

बौद्ध शिक्षा केन्द्र की सम्पूर्ण व्यवस्था भिक्षु संघ के हाथ में रहती थी।[58] वह संघ चाहे छोटा हो या बड़ा। नालन्दा, वलभी और विक्रमशिला जैसे प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र जो प्रारम्भ में बौद्ध विहार थे, जिसकी व्यवस्था संघ के सदस्य देखते थे। कालान्तर में वह प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र के रूप में स्थापित हुआ।[59] इन विश्वविद्यालयों का अध्यक्ष कोई ख्यातिबब्ध भिक्षु होता था, जो प्रबंधक की भूमिका का निर्वहन करता था। प्रायः संघ के सदस्य उसका निर्वाचन करते थे। निर्वाचन में चरित्र, पाण्डित्य, और वय का पूरा ध्यान रखा जाता था।[60] 9वीं शताब्दी में जलालाबाद का एक विद्वान नालन्दा का प्राचार्य चुना गया था।[61] जो यहां यात्रा पर आया हुआ था। स्पष्ट है कि महत्वपूर्ण पदों के चुनाव में स्थानीयता या प्रातीयता जैसी संकीर्ण मनोवृत्ति के लिये कोई स्थान नहीं था। प्राचार्य के सहायतार्थ दो समितियों का उल्लेख मिलता है–शिक्षा समिति एवं प्रबन्ध समिति। पाठ्यक्रम निर्धारण तथा अध्यापकों को विषय वितरण सम्बन्धी कार्य शिक्षा समिति करती थी। पुस्तकालयों का प्रबंध, उनका रख–रखाव, पुस्तकों के पुनर्लेखन, प्रतिलिपि की व्यवस्था आदि बहुतेरे कार्य प्रबन्ध समिति करती थी।

बौद्ध मठ एवं विहार, जो प्रारम्भ में धार्मिक केन्द्र थे। बाद में वृहद् शिक्षण संस्था

के रूप में स्थापित हुए, जहां धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त विभिन्न शिल्पों, तथा ललित कलाओं एवं अन्य उपयोगी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। ऋणि और अपंग व्यक्ति को छोड़कर सभी वर्ण एवं जाति के लोग किसी भी विषय की शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। कालान्तर में बौद्ध विहारों की प्रेरणा से ही हिन्दू मंदिर भी शिक्षण केन्द्र के रूप में स्थापित हुए और यही कारण है कि उत्तरकाल में ब्राह्मण–शिक्षण पद्धति और बौद्ध शिक्षण पद्धति में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया। जिस समय बौद्ध धर्म उन्नति के शिखर पर था, देश के कोने–कोने में मठों एवं बिहारों का जाल बिछा हुआ था, जिसमें देश – विदेश के छात्र विभिन्न विषयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। भारतीय राजाओं के सहयोग एवं प्रोत्साहन के कारण मठ एवं विहार उच्च शिक्षा के प्रमुख केन्द्र बने। ऐसा उल्लेख मिलता है कि सुदूरवर्ती देश जावा के शासक ने भी बौद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा के विकास में अपना यथोचित सहयोग प्रदान किया था। ऐसे शिक्षण केन्द्रों को दान देने के लिए भारतीय राजाओं, सामंतों तथा सेठों में होड़ लगी रहती थी। बदले में इन संस्थाओं द्वारा निःशुल्क शिक्षा वितरित की जाती थी। भिक्षुओं के साथ – साथ छात्रों को भी निःशुल्क भोजन, वस्त्र और आवास की व्यवस्था सुलभ करायी जाती थी। विहार या तो स्वतन्त्र नगर थे या नगरों और गांवों से दूर बसे हुए थे।

प्रारम्भ में बौद्ध शिक्षा मूलतः उन्हीं के लिये थी, जो बौद्ध धर्म में दीक्षित होना चाहते थे। किन्तु कालान्तर में जब यह अनुभव किया जाने लगा कि बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार हेतु जन साधारण की सहानुभूति प्राप्त करना आवश्यक है। अतः शिक्षा का झुकाव सर्वसाधारण के प्रति होना स्वाभाविक था। परिणामतः नवयुवकों के मस्तिष्क को अपरिपक्वता में ही अपने अनुकूल बनाना संघ का उद्देश्य बना। उपासकों के अतिरिक्त जन साधारण वर्ग भी बौद्ध शिक्षण केन्द्र पर जाकर शिक्षा प्राप्त करने लगा। इस प्रकार संघ ने न केवल योग्य भिक्षुओं को जन्म दिया, बल्कि बौद्ध शिक्षा का प्रचार प्रसार होने से बौद्ध समर्थकों की संख्या भी बढ़ी।

चीनी यात्रियों के विवरण से ज्ञात होता है कि बौद्ध विहारों में मुख्यतः उच्च शिक्षा दी जाती थी। किन्तु, प्रारम्भिक शिक्षा के बिना उच्च शिक्षा की परिकल्पना नहीं की जा सकती। अतः स्पष्ट है कि उच्च शिक्षा प्रदान करने वाले आचार्यों ने इसकी उपेक्षा नहीं की होगी। इत्सिंग ने जल और भोजन आदि से भृत्यों की भांति आचार्यों की सेवा करने वाले धर्मेत्तर विषय के शिक्षार्थियों का उल्लेख किया है। संभवतः ये प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने वाले साधारण शिक्षार्थी थे।[62] वैसे विहारों में, जहाँ उच्च शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी, जिज्ञासु शिक्षार्थियों को प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी।

इस प्रकार बौद्ध शिक्षण केन्द्रों में नालन्दा, बल भी, विक्रमशिला जैसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तथा कतिपय अन्य विद्यापीठ प्रमुख थे, जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में स्मरणीय भूमिका का निर्वहन करते हुए ज्ञान वितरण की उच्च परम्परा को बनाये रखा। इन संस्थाओं का शैक्षिक स्तर काफी ऊंचा होने के कारण, इनकी श्रेष्ठता, सफलता एवं प्रसिद्धि से आकृष्ट होकर तिब्बत, चीन, वर्मा, कोरिया, श्रीलंका, जावा आदि सुदूर देशों के शिक्षार्थी यहां अध्ययन के निमित्त आते थे। यह प्राचीन भारत के लिए अत्यन्त गौरव की बात थी। आज एशिया के बहुतेरे देश जो बौद्ध धर्म को मानने वाले है। भारत के प्रति जो सांस्कृतिक सहानुभूति रखते हैं, उसका एकमात्र श्रेय प्राचीन बौद्ध विश्वविद्यालयों को जाता है।

श्रावस्ती

बुद्ध के जीवन काल में श्रावस्ती बौद्ध शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन चुका था। प्रमुख श्रेष्ठि अनाथपिंडक ने बुद्ध के समय में श्रावस्ती के निकट जेतवन नामक बिहार का निर्माण करवाया था जहां बौद्व धर्म, दर्शन आचार एवं विचार की शिक्षा दी जाती थी। 130 एकड़ में फैला यह जेतवन विहार काफी प्रशस्त एवं विस्तृत था, जिसमें लगभग 120 भवन और छोटे – छोटे अनेक कक्ष निर्मित थे। भिक्षुओं और उपासकों के लिये यहां अनेक भवन बने हुए थे। जलीय आवश्यकता की पूर्ति हेतु जलाशय, छाया के

लिए वृक्ष तथा बैठने के लिए उपवन भी बने हुए थे। ह्वेनसांग के अनुसार बुद्ध ने स्वयं यहाँ बाड़ लगाकर पशुओं के प्रवेश को अवरूद्ध किया था तथा जल प्रबंध हेतु विशाल नहर का निर्माण करवाया था। अशोक एवं हर्षवर्धन के समय में भी यह बौद्ध शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था, यहाँ दूर – दूर से शिक्षार्थी आकर विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा की दृष्टि से श्रावस्ती एक महत्वपूर्ण शिक्षा केन्द्र था।

नालन्दा

वर्तमान बिहार प्रांत की राजधानी पटना से लगभग 50 मील की दूरी पर स्थित यह अन्य बौद्ध विहारों की भांति एक महत्वपूर्ण विहार था, जहां बौद्ध धर्म एवं दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। उपलब्ध साक्ष्यों से विदित होता है कि वैसे तो इसकी ख्याति बुद्ध के समय में भी थी, क्योंकि बुद्ध के प्रिय शिष्य सारिपुत्र का जन्म यहीं हुआ था। तथागत ने यहां के आम्रवन में कई दिन व्यतीत कर अपने शिष्यों को धर्म की शिक्षा दी थी। 500 श्रेष्ठियों ने मिलकर 10 करोड़ मुद्राओ से इस क्षेत्र का क्रय करके महात्मा बुद्ध को अर्पित किया था। कालान्तर में अशोक ने यहां पर एक विशाल विहार का निर्माण करवाया। किन्तु एक महत्वपूर्ण शिक्षण केन्द्र के रूप में इसका इतिहास 450 ई0 से प्रारंम्भ होता है, क्योंकि 410 ईस्वी में चीनी यात्री फाहियान जो यहां की यात्रा पर आया हुआ था, उसने इस रूप में इसका वर्णन नहीं किया है। [63] ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थान अपने प्रारम्भिक काल में ब्राह्मण शिक्षा का केन्द्र होते हुए भी बौद्ध धर्म और शिक्षा का प्रचार स्थल था। इसकी प्रमुखता 5वीं शताब्दी के मध्य में तब बढ़ी, जब बौद्ध विद्वान दिंगनाथ ने यहां की यात्रा कर प्रख्यात ब्राह्मण विद्वान दुर्गम को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। अनेक गुप्त राजाओं के प्राश्रय एवं प्रोत्साहन से अल्पकाल में ही इसकी ख्याति और प्रतिष्ठा में पर्याप्त बृद्धि हुई। यहां के सबसे बड़े विद्यापीठ के विकास और साधन सामग्री संकलन आदि के लिये गुप्त शासकों द्वारा प्रदत्त प्रभूत दान तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुता को रेखांकित करता है, क्योंकि गुप्त शासक ब्राह्मण धर्म के

अनुयायी होते हुए भी नालन्दा को प्रभूत दान देकर इसके शैक्षिक महत्व को बढ़ाया जो बौद्ध शिक्षा का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था।

कुमार गुप्त प्रथम (शक्रादित्य 414–455 ई0) ने यहां पर एक विशाल विहार का निर्माण करवा कर बौद्ध शिक्षा का श्री गणेश किया था। तत्पश्चात् बुद्धगुप्त, नरसिंह गुप्त, तथा बलादित्य आदि गुप्त शासकों ने भी अपना संरक्षण प्रदान कर इसके विकास में योगदान दिया था। दीर्घ काल तक यहां का विशाल मंदिर ही नालन्दा संघ का मुख्य उपासना गृह बना रहा।

ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि यहां पर निर्मित अनेक बौद्ध विहारों [64] में कुछ काफी बड़े एवं भव्य थे, जिनके गगनचुम्बी शिखर अत्यन्त आकर्षण थे [65] सबसे बड़ा विहार 203 फिट लम्बा और 164 फिट चौड़ा था। कक्ष 9 से 12 फिट लम्बे होते थे। अनेक जलाशय थे, जिनमें कमल तैरते थे। कई विशाल भवन थे, जिनमें अनेक छोटे–बड़े कक्ष होते थे। उत्खनन में प्राप्त भग्नावशेषों से विदित होता है कि 70 विश्वविद्यालय कक्ष और 300 छोटे–बड़े कक्ष बने हुए थे। शिक्षार्थी छात्रावासों में रहते थे, जिसके प्रत्येक कोण पर कूप बने हुए थे।[66] ज्यादातर विहार दो मंजिले होते थे। कुछ कमरे ऐसे थे, जिसमें एक या दो विद्यार्थी ही रह सकते थे। प्रत्येक विद्यार्थी के शयन कार्य हेतु पत्थर की एक चौकी, दीपक रखने के लिये ताँखे एवं पुस्तक रखने के लिये आलमारी बने होते थे। उत्खनन में प्रत्येक विहार के प्रांगण से एक–एक कुआं मिला है। इससे प्रकट होता है कि वहां जल की व्यवस्था अच्छी थी। प्रवेश क्रम के अनुसार प्रत्येक विद्यार्थियों को कमरे आवंटित किये जाते थे। कमरों का पुनर्वितरण प्रतिवर्ष होता था।

विश्वविद्यालय को 200 ग्राम दान में मिला था, [67] जिसकी आय से वहां के अध्येताओं, कार्यकर्ताओं और शिक्षकों का भरण–पोषण होता था। ग्रामवासियों द्वारा प्रत्येक दिन कई मन चावल और दूध दान में प्राप्त होता था। शिक्षार्थियों से किसी

प्रकार का शुल्क लेने का उल्लेख नहीं मिलता, बल्कि उनके भोजन, वस्त्र, आवास और औषधियों की निःशुल्क व्यवस्था उपलब्ध थी। अस्वस्थ्य छात्रों के उपचार हेतु चिकित्सालयों का भी उल्लेख मिलता है।[68] इत्सिंग के अनुसार, विहारों में यह नियम था कि सामान्य विद्यार्थियों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र, आवास और चिकित्सकीय सुविधाएं तभी उपलब्ध करायी जाय, जब वे विहार को अपना कुछ श्रमदान भी करें।[69]

संस्था में प्रवेश पाने के लिए इच्छुक शिक्षार्थियों के लिए कड़े नियम बनाये गये थे। सर्वप्रथम प्रवेशार्थियों को द्वार पंडित से वाद–विवाद करना पड़ता था तथा उनकी शंकाओं का समाधान करना पड़ता था। प्रवेश के प्रथम दिवस ही ज्यादातर प्रवेशार्थी असफल हो जाते थे, जबकि 1 या 2 छात्र ही 10 छात्रों में सफल हो पाते थे।[70] विभिन्न विषयों के अनेक विद्वान वहाँ उपस्थित रहते थे।[71]

इत्सिंग के समय में अध्ययनरत शिक्षार्थियों की संख्या 3000 थी, जो ह्वेनसांग के समय मे बढ़कर 10000 हो गयी[72] शिक्षकों की संख्या 1510 थी, जिनमें से 1010 सूत्र निकायों में और शेष 500 अन्य विषयों में दक्ष थे। इसकी जानकारी उपलब्ध साक्ष्यों से होती है। यद्यपि ये विद्वान महज अपने अध्ययन–अध्यापन से ही संतुष्ट नहीं थे, बल्कि इन्होंने अपनी रचनात्मक उपलब्धियों के अनन्तर अनेक बहुमूल्य एवं उपयोगी ग्रन्थों की रचना भी की थी, जिसकी गणना तत्कालीन समय के महत्वपूर्ण ग्रन्थों में की जाती थी। ह्वेनसांग के समय में यहां का पांडित्य स्तर बहुत ऊँचा था। 10000 भिक्षुओं में से 1000 भिक्षु ऐसे थे, जो 30 सूत्र निकायों की व्याख्या कर सकते थे तथा 10 ऐसे भी थे जो 50 सूत्र निकायों की व्याख्या कर सकते थे।[73] ह्वेनसांग के समय में यहाँ का प्रधान और विश्वविद्यालय का कुलपति शीलभद्र था, जो अनेक विषयों में पारंगत था।[74] पूर्व में यहाँ का कुलपति धर्मपाल था। ह्वेनसांग भी यहां के प्रधान शिक्षकों में से एक था, जिसे अनेकानेक विषयों पर पांडित्य प्राप्त था।[75]

देश–विदेश से जिज्ञाषु शिक्षार्थी विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये

यहाँ आते थे। नालन्दा के यश से आकृष्ट होकर अपने वाले विदेशी शिक्षार्थियों में फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग, थानमि, हुवैनच्यू, ताऊ–हिं, हिव–निह, आर्यवर्मन, बुद्ध धर्म ताऊसिंग तथा हुई–लू आदि उल्लेखनीय है, जो चीन, कोरिया, तिब्बत और बोखारा से सम्बन्ध रखते थे। ये सभी शिक्षार्थी नालन्दा में रहकर न केवल शिक्षा प्राप्त की, बल्कि विभिन्न पांडुलिपियों की प्रतिलिपियां भी तैयार की थी।[76]

सैकड़ों अध्यापकों एवं हजारों शिक्षार्थियों के लाभार्थ एक विशाल पुस्तकालय का भी उल्लेख मिलता है। चीनी विद्वानों का यहाँ अधिक समय तक प्रवास करने का एक कारण यह भी था कि वे बौद्ध आगमों तथा अन्य पुस्तकों की शुद्ध प्रतिलिपि तैयार कर सकें। चीनी विद्वान इत्सिंग यहाँ लम्बे समय तक प्रवास कर 400 संस्कृत पुस्तकों की प्रतिलिपि तैयार की थी। जिनमें लगभग 5 लाख श्लोक रहे होगें[77] तीन भवनों से मिलकर इस भव्य पुस्तकालय का निर्माण हुआ था, जिन्हें क्रमशः 'रत्न–सागर' 'रत्नोदधि' एवं 'रत्नरंजक' की संज्ञा से संबोंधित किया जाता था।[78]

यद्यपि नालन्दा में हीनयान एवं महायान दोनों शाखा से सम्बन्धित पाठ्यक्रमों का अध्ययन–अध्यापन होता था, लेकिन महायान शाखा की प्रधानता थी। अनेक विहार महायान शाखा से ही सम्बन्धित थे। पालि साहित्य का अध्ययन इस बात को प्रमाणित करता है कि यहाँ हीनयान शाखा का भी अध्ययन–अध्यापन होता था, क्योंकि अधिकांश हीनयानी ग्रन्थ पालि भाषा में ही है। नागार्जुन, बसुबन्धु, असंग, धर्मकीर्ति आदि ऐसे महायानी विचारक थे, जिन्होने यहाँ से शिक्षा प्राप्त कर अपने को उन्नत बनाया था। ह्वेनसांग ने अनेक ऐसे आचार्यों का उल्लेख किया है, जिनकी विद्वता से प्रभावित होकर देश–विदेश के शिक्षार्थी यहाँ अध्ययन के लिए आते थे। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिन मित्र, आर्यदेव, दिंगनाग, ज्ञानचन्द्र आदि ऐसे विद्वान थे, जो देश के विभिन्न भागों से यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त किये थे तथा अपने को विद्वान बनाकर आचार्य की भूमिका का निर्वहन करने लगे थे। आर्यदेव एंव दिगंनाग दक्षिण भारत के

निवासी थे। धर्मपाल कांची का रहने वाला था। शीलभद्र समतट (बंगाल) का निवासी था। स्थिरमति एवं गुणमति बलभी के रहने वाले थे। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के विद्वान अपनी विद्वता से नालन्दा की शोभा बढ़ा रहे थे और उनके बौद्धिक आकर्षण से आकर्षित होकर देश–विदेश के जिज्ञासु शिक्षार्थी ज्ञानार्जन के निमित्त यहाँ आते थे।

बौद्ध धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त व्याकरण, न्याय, वैदिक एवं लौकिक साहित्य का भी यहाँ अध्ययन–अध्यापन होता था, क्योंकि उत्तर काल में ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में कोई विशेष अंतर नही रह गया था। स्वयं बौद्धों ने लिखा है कि नालन्दा में विभिन्न विषयों के अतिरिक्त वेदों, वेदांगों, वेदांत तथा सांख्य दर्शन का भी शिक्षण कार्य होता था।[79] विभिन्न विषयों का तात्पर्य चिकित्साशास्त्र, धर्म–शास्त्र, पुराण, इतिहास, ज्योतिष आदि विषयों से था। चिकित्साशास्त्र का उल्लेख बौद्ध आगमों मे भी हुआ है।

नालन्दा से संबंधित सम्पूर्ण व्यवस्था का प्रधान नियामक भिक्षु महास्थावर होता था जो कोई ख्यातिलब्ध भिक्षु होता था। संघ के सदस्य ही प्रायः उसका निर्वाचन करते थे। निर्वाचन में स्थानीयता, प्रांतीयता या अन्य संकीर्ण विचारों की जगह चरित्र, प्रतिभा, विद्वता एवं वय जैसी योग्यता का विशेष ध्यान रखा जाता था।[80] उसके सहायतार्थ दो परिषदें होती थी, जिसे शिक्षा समिति एवं प्रबन्धसमिति के नाम से जाना जाता था। शिक्षा समिति समस्त शिक्षा सम्बन्धी कार्यों का निष्पादन करती थी, जबकि प्रबन्ध समिति का सम्बन्ध संस्था के अन्य सभी विषयों से थे। यद्यपि नालंदा की प्रतिष्ठा 12वीं शताब्दी तक बनी रही, लेकिन छठी–सातवीं शताब्दी तक का कालखण्ड शैक्षिक ख्याति की दृष्टि से चरमोत्कर्ष का काल था।

9वीं शताब्दी में जावा–सुमात्रा के शासक बाल पुत्रदेव ने इसकी ख्याति से आकृष्ट होकर यहाँ एक विहार का निर्माण करवाया था। तथा उसके वार्षिक खर्च हेतु बंगाल नरेश देवपाल को, जो कि उसका परम मित्र था, 5 गाँव दान में देने के लिये प्रेरित किया था, जिसके एक भाग से विभिन्न पांडुलिपियों की प्रतिलिपि तैयार करायी

जाती थी (धर्म रत्नत्य लेखनार्थम्) तिब्बती विद्वान तारानाथ ने लिखा है कि विक्रमशिला के आचार्य को पाल शासकों द्वारा यहाँ का नीरीक्षक नियुक्त किया जाता था।[81] निश्चित रूप से तारानाथ का लेख इसके पराभव को एवं विक्रमशिला के महत्व को प्रमाणित करता है, जिसे पालों का संरक्षण प्राप्त था। तिब्बती सूत्रों से ज्ञात होता है कि बौद्धों में तन्त्र–विद्या का प्रचार अधिक बढ़ जाने के कारण यहाँ गंभीर अध्ययन बाधित हुआ, जो कालान्तर में उसकी अवनति का कारण बना।

बलभी

गुजरात राज्य में काठियावाड़ के समुद्र तट पर स्थित, यह एक ध्वस्त प्राचीन अंतर्राष्ट्रीय बंदरगाह व्यापार के साथ–साथ शिक्षा का भी प्रधान केन्द्र था। 7वीं शताब्दी तक इसकी ख्याति देश–विदेश तक फैल चुकी थी। यहाँ विहार निर्माणकी परम्परा राजकुमारी टड्डा द्वारा स्थापित हुई। तदन्तर राजा धरसेन ने 580 ई0 में दूसरे विहार का निर्माण करवाया, जिसे श्री बप्पपाद के नाम से जाना जाता था। विहार का निर्देशन एवं प्रशासन आचार्य स्थिरमति करते थे। इत्सिंग के अनुसार शैक्षिक दृष्टि से इसका भी महत्व नालन्दा की भांति ही था।[82] यहाँ अनेक बौद्ध विहार एवं मठ थे। 100 विहारों और 6000 भिक्षुओं का विवरण ह्वेनसांग ने दिया है।[83] जहाँ बौद्ध शिक्षण कार्य सम्पन्न होता था।

शिक्षा का प्रधान केन्द्र होने के कारण भारत के सुदूरवर्ती क्षेत्रों एवं अन्य देशों के बहुसंख्यक विद्यार्थी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिये आते थे। गंगां की तलहटी से अनेक ब्राह्मण भी अपने पुत्रों को विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये यहाँ भेजते थे[84] स्थिरमति और गुणमति जैसे विद्वान इस विश्वविद्यालय की शोभा थे।[85] तर्क, व्याकरण, व्यवहार, साहित्य आदि विषयों की शिक्षा यहाँ दी जाती थी। यहाँ के स्नातकों को शासन के उच्च्च पदों पर नियुक्त किया जाता था। इसकी पुष्टि इत्सिगं के विवरण से होती है।[86] नालन्दा की भांति यहाँ के भी प्रकाण्ड विद्वानों का नामोल्लेख उत्तंग द्वारों

पर होता था।[87] निःसंदेह यह अपने समय का एक प्रमुख बौद्धिक केन्द्र था, जहाँ विभिन्न विषयों के दक्ष विद्वान अपने पांडित्य का लाभ जिज्ञासु शिक्षार्थियों को प्रदान करते थे।

इस विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति काफी सुदृढ़ थी। यहाँ के 100 करोड़पतियों में से ज्यादातर का आर्थिक सहयोग इसे प्राप्त था। समय–समय पर अनेक शासकों का भी सहयोग दानस्वरूप प्राप्त होता रहता था। मैत्रक वंश के शासकों ने 480 ईस्वी से 775 ईस्वीं तक बलभी एवं उसके आस–पास के क्षेत्रों पर शासन किया था, जिनका सहयोग इसे सदैव मिलता रहा।[88] यहाँ से शिक्षा प्राप्त स्नातकों को राज्यसेवा का अवसर प्रदान किया जाता था। ऐसा संभव न होने पर उन्हें जीविकोपार्जन हेतु आर्थिक अनुदान दिया जाता था।[89]

मैत्रक वंश के पतनोपरान्त, राजनैतिक उथल–पुथल के प्रभाव से बलभी भी प्रभावित हुआ, लेकिन जल्द ही एक प्रमुख शिक्षण संस्था के रूप में इसकी ख्याति पुनः स्थापित हो गयी तथा बंगाल जैसे सुदुर प्रदेशों से ज्ञान–पिपासु छात्र 12वी शताब्दी तक यहाँ अध्ययन के लिये आते रहे।[90]

विक्रमशिला

8वीं शताब्दी में पाल शासक धर्मपाल ने भागलपुर से 25 किलोमीटर दूर इस विहार की आधार शिला रखी थी, जो लगभग चार शताब्दी तक प्रमुख शिक्षण केन्द्र के रूप में भारत एवं विदेशों में ख्याति अर्जित की थी। पाल शासक धर्मपाल (775 ईसवी से 800 ईस्वी तक) ने यहाँ अनेक बौद्ध मठ और विहारों का निर्माण करवाया था। तथा उसके प्रबन्धन हेतु मुक्तहस्त दान दिया था। व्याख्यान के लिये उसने अनेक विशाल भवनों का निर्माण करवाया था। साक्ष्यों से विदित होता है कि तिब्बत और विक्रमशिला में चार शताब्दियों तक ज्ञान विनिमय होता रहा। तिब्बत के ज्ञानपिपासु छात्र विक्रमशिला के विद्वानों के पास अध्ययन के लिये आते थे[91] तिब्बती सूत्रों से ज्ञात होता

है कि विक्रमशिला के विद्वानों में बुद्ध, ज्ञानपद, वैरोचन, रक्षित, जेतारि रत्नाकर, शान्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नव्रज, अभयंकर गुप्त, तथा अन्य दर्जनों विद्वान न केवल संस्कृत ग्रन्थों की रचना की थी, बल्कि उन्होंने तिब्बती भाषा में अनुवाद भी किया था। दीपंकरश्री विक्रमशिला के विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ थे, जो तिब्बती शासक चान–चू के निमंत्रण पर तिब्बत गये थे। तिब्बती जनश्रुति उन्हें 200 मौलिक और अनुदित ग्रंथों का रचनाकार बतलाती है।[92]

यहाँ के सामान्य प्रबन्धन के नियामक महास्थाविर होते थे। विभिन्न कार्यों का सम्पादन, जैसे–प्रव्रज्या और उपसम्पदा संस्कार, भृत्यों की नियुक्ति और उनका निरीक्षण, भोजन और आच्छादन तथा विहार के अन्य कार्यों को निष्पादित करने के लिये परिषदों का गठन किया गया था। जिसके सदस्य इन सभी कार्यों में सहयोग प्रदान करते थे। बौद्ध अध्यापक सादगी एवं पवित्रता का जीवन व्यतीत करते थे।

जिज्ञासु प्रवेशार्थियों को बौद्ध धर्म और दर्शन के अतिरिक्त न्याय, तत्वज्ञान, व्याकरण आदि विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी तथा शिक्षार्थियों की समस्त शंकाओं और जिज्ञासाओं का समाधान आचार्यों द्वारा किया जाता था। विदेशी छात्रों में तिब्बती छात्र सर्वाधिक होते थे, जो बोद्ध धर्म एवं दर्शन की शिक्षा प्राप्त करने के लिये यहाँ आते थें। एक छात्रावास प्रायः तिब्बती छात्रों से ही भरा रहता था। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त प्रत्येक शिक्षार्थी को उपाधि वितरित की जाती थी, जो दक्षता सम्बन्धी प्रमाण–पत्र होती थी।[93] पाल शासक धर्मपाल ने 108 शिक्षकों को शिक्षा प्रदान करने हेतु नियुक्त कर रखा था।

विश्वविद्यालय का अर्थ–प्रबन्धन राजाओं, सामन्तों श्रेष्ठियों और सामान्यजनों के दान तथा भेंट पर आधृत था। भोजन, वस्त्र एवं आवास का प्रबन्ध विश्वविद्यालय की ओर से किया जाता था। संस्थान के लगभग सभी शिक्षक प्रबन्धन में सहयोग प्रदान करते थे। छः द्वार पंडितों की समिति द्वारा इसका संचालन होता था, जिसका प्रधान

महास्थाविर होता था। 10वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इसके प्रथम द्वार पर काश्मीरवासी रत्नव्रज, द्वितीय द्वार पर गौड़वासी ज्ञान श्री मित्र, तृतीय द्वार पर रत्नाकर शांति, चतुर्थ द्वार पर वागीश्वर कीर्ति, पंचम द्वार पर नरोप तथा षष्ठ द्वार पर प्रज्ञाकरमति बैठते थे।

बौद्ध विद्यापीठ

बौद्ध आचार्यों की जीवनी तथा चीनी और तिब्बती यात्रियों के विवरण से ज्ञात होता है कि छठी–सातवीं शताब्दी में विश्वविद्यालय शिक्षण संस्थाओं के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में कई छोटे–बड़े अन्य शिक्षण केन्द्र भी थे, जहां बौद्ध धर्म एवं दर्शन के अतिरिक्त अन्य विषयों की शिक्षा दी जाती थी।

चीनी यात्री फाह्यान के अनुसार, कश्यप बुद्ध संघाराम बौद्ध शिक्षा के लिये प्रसिद्ध था, जहाँ पाँच मंजिली इमारत निर्मित थी, और वहाँ हजारों भिक्षु निवास करते थे। प्रत्येक मंजिल किसी न किसी पशु पक्षी की आकृति की थी। पहला तल हाथी के आकार का था, जिसमें 500 गुहागृह बने थे, दूसरा तल सिंह के सदृश था, जिसमें 400 कक्ष बने थे, तीसरा तल घोड़े के सदृश था, जिसमें 300 प्रकोष्ठ थे, चौथा तल बैल कीआकृति का था, जिसमें 200 कक्ष बने थे एवं पांचवा तल कबूतर की आकृति का था, जिसमें 100 कमरे बने थे। सबसे ऊपर एक जल प्रपात था। प्रकोष्ठों में प्रकाश के लिए गवाक्ष बनाये गये थे तथा नीचे से ऊपर जाने के लिये सीढ़ियां बनी हुई थी। यहां बौद्ध भिक्षु धर्म एवं दर्शन की शिक्षा प्राप्त करते थे।

चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने भारत यात्रा के दौरान विभिन्न बौद्ध मठों एवं विहारों में प्रवास कर न केवल बौद्ध धर्म एवं दर्शन की शिक्षा प्राप्त की थी, बल्कि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की पांडुलिपियां तैयार कर उसे अपने साथ चीन ले गया था। उसके विवरण से निम्न मठों एवं विहारों की जानकारी प्राप्त होती है। काश्मीर स्थित बौद्ध विहार का एक बृद्ध भिक्षु उसे शास्त्रों के अतिरिक्त कोश, न्याय इत्यादि विषयों की शिक्षा दी थी। उसकी विद्वता से प्रभावित होकर अन्य स्थानों के शिक्षार्थी भी उसका व्याख्यान सुनते थे।[94]

जालंधर स्थित विहार भी बौद्ध शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ ह्वेनसांग ने 4 माह तक प्रवास कर सर्वास्तिवाद का अध्ययन किया था। उसने नागार्जुन के प्रमुख शिष्यों से भी शैक्षिकवार्ता की थी।[95] अपने शैक्षिक यात्रा के क्रम में उसने श्रुधन के मठ में भी वसन्त एवं वर्षा ऋतु में कुछ समय व्यतीत कर बौद्ध विद्वान जयगुप्त से शिक्षा प्राप्त किया था।[96] मतिराम के संघाराम में भी कुछ समय प्रवास कर बौद्ध विद्वान मित्रसेन से अभिधर्म ज्ञान प्रस्थान – शास्त्र की शिक्षा प्राप्त की थी।[97]

कान्यकुब्ज स्थित भद्र नामक बौद्ध विहार में तीन माह प्रवास कर आचार्य वीर्यसेन से त्रिपिटक का ज्ञान प्राप्त किया[98] तथा उसने अपने वर्णन में वाराणसी के 30 ऐसे विहारों का उल्लेख किया है, जहां सर्वास्तिवाद की शिक्षा दी जाती थी।[99]

हिरण्य (मुंगेर) के संघाराम में वसुबन्धु के मित्र संघभद्र द्वारा लिखित न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था।[100] अन्य विहारों में आन्ध्र प्रदेश स्थित अमरावती का विहार भी वर्णित है।

ललित विस्तर से ज्ञात होता है कि कपिलवस्तु भी विद्या और शिल्प का प्रमुख केन्द्र था, जातक साहित्य से विदित होता है कि वैशाली भी बौद्ध शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था, जहाँ बुद्ध ने कई भिक्षुओं को उपदेश दिया था।

इस प्रकार नालन्दा, बलभी एवं विक्रमशिला जैसे प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्रों के अतिरिक्त बुद्ध के समय और उनके उपरान्त वैशाली, राजगृह, श्रावस्ती और कपिलवस्तु जैसे प्रसिद्ध नगर भी बौद्ध शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। वैशाली के आम्रवन विहार, राजगृह के वेणुवन विहार और कपिलवस्तु के निग्रोधाराम व पूर्वाराम विहार प्रसिद्ध शिक्षण केन्द्र थे। इन विहारों में बौद्ध विद्वानों के मध्य अनेक दार्शनिक प्रश्नों पर न केवल वाद विवाद होता था, बल्कि विभिन्न विषयों पर चर्चाएं भी होती थी, जिनमें बौद्ध भिक्षुओं के अतिरिक्त सामान्य जन भी सम्मिलित होते थे।

सन्दर्भ -

1. डॉ0 ए0एस0 अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, वाराणसी, 1979–80
2. विश्वरूप, याज्ञ., 1.15
3. गौ0ध0सू0, 2.50
4. स्टान्टन दी ग्रेट स्कूल ऑफ इंगलैण्ड, पृ0 15
5. विष्णु पु., 3.10.12
6. छान्दोग्य उपनि, 6.1 1–3
7. छान्दोग्य उपनि. 2.23.1, 4.9.1, 4.10.1
8. विष्णु पु., 3.10.12
9. मतस्य पु. 26.1
10. रामायण, 6.123.51, 2.55 9–11
11. महाभारत 3.271.48, 1.70.18
12. छां, उपनि. 4.10–15
13. वही, 4.4–9
14. वही, 4.4.5
15. मनु., 2.69
16. महाभारत, 5.44.6
17. जातक, 6, पृ. 32
18. अंगुत्तर निकाय, पृ. 371
19. मज्झिम निकाय, 2, 133–34
20. प्लीट, कार्पस इंस्क्रिप्शन्स इंडकेरम्, भाग –3, अभिलेख 56
21. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. 168
22. रामायण 7.101, 10–16

23. महाभारत, 1.3.20

24. जातक, 1, पृ. 272.285, 2, पृ. 85–873, पृ. 238, 4 पृ. 50.309.312

25. वही, पृ. 158

26. महाभारत 1.2.23

27. जातक, 5, पृ. 405

28. वही, 5, पृ. 457

29. जातक, पृ. 252

30. जातक पृ. 456

31. जातक, 3, पृ. 93

32. मिलिन्द पन्हो, 6.2

33. जातक, 1, पृ. 272.285, 4 पृ. 50.224

34. वही, 3 पृ. 522

35. जातक, 5, पृ. 498

36. जातक, 5, पृ. 263, 3, पृ. 238

37. जातक, सं. 150.80

38. वाटर्स 2, पृ. 48

39. भविष्य पुराण, ब्रह्मखंड अध्याय, 51.23

40. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. 176

41. इ.ए. जिल्द, 21, सं. 220

42. सा.इ.ए.रि. 1912, 1921 की 201

43. वही जिल्द 4, पृ. 335

44. हैदरा. आके. सं., 8, पृ0 7

45. इ.ए. भाग –10 पृ. 129.31

46. इ.ए, जिल्द 5, पृ. 22

47. ए.क. 1, सं. – 45

48. सा.इ.ए.रि., 1913, पृ. 109–10

49. इ.ए., जिल्द 13, पृ. 317

50. ए.क., भाग –5, पृ. 144

51. एतेषु किलाग्रहारेषु के चिज्जपन्ति। अपरे पाठयन्ति । केचित्पठन्ति अन्ये तत्वविद्याभुपदिशन्ति।

52. इ.ए., भाग–16, पृ. 14

53. लज्जाराम तोमर, भारतीय शिक्षा के मूलतत्व, पृ. 130–1

54. वाई के जिस प्रसिद्ध प्राज्ञपाठशाला द्वारा धर्म कोश पर कार्य हो रहा है, वहां के न केवल विद्यार्थी बल्कि अध्यापक भी भिक्षा मांगकर जीविकोपार्जन करते थे।

55. वैखानस धर्म–प्रश्न, 35.13.262

56. एंशिसन्ट इंडियन एजूकेशन पृ0 443

57. चुल्लवग्ग, 6–5, 6–17

58. बील, पृ. 70–71

59. वाट्र्स, 2, पृ. 180

60. बील, पृ. 74–79

61. एपि.ई., 17, पृ. 307

62. तक बुसु पृ., 105–6

63. बसुकृत, इंडियन टीचर्स, पृ. 148–49

64. वाट्र्स, 2, पृ0 164

65. एपि0इं0, 20.43

66. वाट्र्स, 2, पृ. 180

67. इत्सिंग, जो 10 वर्ष नालन्दा से व्यतीत किया था, दान में प्राप्त 200 गांवों का उल्लेख किया है। जबकि ह्वेनसांग के जीवनी लेखक ने 100 गांवों का उल्लेख किया है। संभव है बीच की अवधि में 100 और नये गांव मिल हो।

68. सा.इ.रि., 1917, पृ 1922–24

69. इत्सिंग जीवनी पृ. 106

70. वाट्र्स, 2, पृ. 165

71. वही

72. वही

73. इत्सिंग जीवनी, पृ. 112

74. वाट्र्स, 2, पृ. 165

75. वही

76. जीवनी भूमिका, पृ. 27–36

77. वही, पृ. 1

78. विद्याभूषण – हिस्ट्री ऑफ इंडियन लॉजिक, पृ. 516

79. जीवनी, पृ. 112

80. इ.ए. जिल्द, 17, पृ. 307, बील पृ. 74–79

81. बसु कृत इंडियन टीचर्स ऑफ बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज पृ. 36

82. बील, पृ. 177

83. वाट्र्स, 2, पृ. 246

84. क.स. सा., 32.42–43

85. इं. ऐं., 6, पृ. 11

86. इत्सिंग, पृ. 177

87. वही, पृ. 176–77

88. इं. ए., जिल्द 7, पृ. 67, सद्धर्मस्य पुस्तकों पचयार्थम्।

89. इत्सिंग, पृ. 177

90. भवदेव (1060–1110 ई.) का बालवलभी भुजंग कहा गया है। टीकाकार ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि पुरा किल वलभी नाम अध्ययनशाला आसीत्। इं., हि. क्वा. 1946 पृ. 1341

91. दास कृत इंडियन टीचर्स इन द लैंड ऑफ स्नो, पृ. 58

92. बसुकृत भारतीय आचार्य, पृ. 32.105

93. इंडियन टीचर्स ऑफ बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटीज, पृ. 30.47

94. बील (जीवनी) पृ. 70–71

95. वही, पृ. 74–76

96. वही, पृ. 78–79

97. वही

98. वही, पृ., 84

99. वही, पृ., 98

100. वही, पृ., 127

* * * * *

षष्ठ अध्याय

महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति एवं उसके विविध आयाम

महिलाओं की शैक्षणिक स्थिति एवं उसके विविध आयाम

किसी भी राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास, उसके संरक्षण एवं संवर्द्धन से स्त्री शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस दृष्टि से प्राचीन भारतीय शिक्षा पर्याप्त समृद्ध थी। शिक्षा का तात्पर्य वैदिक ज्ञान से था जिसके लिए उपनयन संस्कार का होना अनिवार्य था। चूंकि प्राचीन भारत में यज्ञ को विशेष महत्व प्राप्त था और पत्नी के अभाव में यज्ञ अधूरा समझा जाता था, तथा उपनयन से संस्कारिक व्यक्ति ही यज्ञ सम्पादित कर सकते थे। अतः स्पष्ट है कि बिना किसी लिंग भेद के उपनयन के अनन्तर दोनों वैदिक शिक्षा प्राप्त करते थे। यह स्थिति ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी तक यथावत बनी रही।

ऋग्वैदिक काल में पुत्री के जन्म पर दुख प्रकट करने और न ही लिंग भेद का कोई प्रमाण मिलता है, किन्तु सामरिक वातावरण में पुत्र की अभिलाषा रखना स्वाभाविक था। प्रत्येक स्त्री अपनी – अपनी अभिरूचि के अनुसार विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करती थी। ऋग्वेद से अनेक ऋषिकाओं के विषय में जानकारी प्राप्त होती है, जिन्होंने अनेकानेक मंत्रों और ऋचाओं की रचना की थी।[1] उनके द्वारा विद्वत्त गोष्ठियों में ऋचाओं के गान का भी उल्लेख मिलता है।[2] ऋग्वैदिक काल की 20 ऋषिकाओं में रोमशा, अपाला, उर्वशी, विश्ववारा, लोपामुद्रा, घोषा, सिकता, निवावरी काक्षीवती, आदि उल्लेखनीय है।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में वे किसी भी प्रकार से पुरूषों से पीछे नहीं थी तथा उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करती थी। वेदाध्ययन एवं यज्ञ सम्बन्धी समस्त अधिकार उन्हें प्राप्त थे। शिक्षा मौखिक दी जाती थी, जो प्रायः व्यक्तिगत ही हुआ करती थी।[4] उच्चारण के सात प्रकार और वाक् की चार अवस्थाओं का वर्णन मिलना उच्चारण की

शुद्धता को रेखांकित करता है। ऋग्वेद के एक मंत्र में मानसिक चिंतन तथा ध्यान का उल्लेख मिलता है, जिसके परिणाम स्वरूप ज्ञान की पूर्णता प्राप्त होती थी।[5] यह उल्लेख मिलना कि 'अपाला' नामक कन्या वैदिक साहित्य में रूचि रखने के साथ ही साथ अपने पिता के कृषि कार्य में भी सहयोग प्रदान करती थी,[6] कृषि कार्य में स्त्रियों की अभिरूचि को सिद्ध करता है। तत्कालीन समाज की अधिकांश स्त्रियाँ गृह कार्य के अन्तर्गत गाय दुहने का कार्य भी करती थी। अतः उन्हें 'दुहिता' कहा जाता था। वे सूत कातना, बुनना, वस्त्र सिलना आदि भी जानती थी।[7] विभिन्न कलाओं में दक्ष होने के साथ ही साथ साहस और वीरता के क्षेत्र में भी वे पुरूषों से पीछे नहीं थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि "विष्पला" नामक स्त्री युद्ध में गयी थी और घायल होने की अवस्था में अश्विनों ने उसकी चिकित्सा की थी।[8] स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य में रूचि रखने वाली स्त्रियां साहित्यिक शिक्षा प्राप्त करती थी, जबकि पूर्ण गृहस्थ स्त्रियाँ व्यवहारिक विषयों की, जैसे–गृहोपयोगी विषयों, विभिन्न शिल्पों, ललित कलाओं आदि की शिक्षा प्राप्त करती थी। शिक्षण केन्द्र संभवतः परिवार के अतिरिक्त गुरू का निवास स्थल होता था। इसी क्रम में यह भी उल्लेखनीय है कि वे ही कन्याएं तत्कालीन समाज में शिक्षित मानी जाती थी, जो वैदिक शिक्षा ग्रहण करती थी, और इस दृष्टि से तत्कालीन स्त्रियां पर्याप्त आगे थी। लेकिन उत्तर वैदिक काल से स्त्रियों के धार्मिक अधिकारों में क्रमशः ह्रास होना आरम्भ हो गया। उन्हें पूर्वजों के सम्मान में आयोजित होने वाले यज्ञीय कार्यों से वंचित कर दिया गया। ऐसे धार्मिक कार्यों को केवल पुत्र ही कर सकते थे। यद्यपि उनके पालन–पोषण में कोई कमी नहीं की जाती थी। उनका शैक्षिक अधिकार पूर्व की भांति बना रहा। बाल–विवाह अस्तित्व में न होने के कारण वे विवाह होने से पूर्व तक शिक्षा ग्रहण करती थी तथा जो स्त्रियाँ विवाहोपरान्त गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अपना अध्ययन क्रम जारी रखना चाहती थी, उन्हें पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त थी। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी इसी प्रकार की स्त्री थी। प्राप्त साक्ष्यों से विदित

होता है कि साधारणतया 16 वर्ष की अवस्था तक वे अविवाहित रहकर शिक्षा प्राप्त करती थी। तथा उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए स्वयं को विदुषी बनाती थी। क्योंकि, तत्कालीन समाज में जो स्त्री–पुरूष शिक्षित होते थे, वे ही विवाह योग्य उत्तम समझे जाते थे।[9] अथर्ववेद में वर्णित है कि वैदिक ज्ञान से वंचित कन्याएं सफल दाम्पत्य जीवन नहीं बिता सकती।[10] वृहदारण्यक् उपनिषद् में ऐसे धार्मिक कार्यों का उल्लेख मिलता है, जिसका उद्देश्य विदुषी स्त्री प्राप्त करना था।[11] अथर्ववेद में स्त्रियों द्वारा शिक्षा के निमित्त ब्रह्मचर्य धर्म के पालन का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[12] ऐतरेय तथा कौषितकी ब्राह्मण में अनेक विदुषी स्त्रियों, का नामोल्लेख मिलता है।[13] निःसदेह यह स्त्री शिक्षा के महत्व को प्रतिबिम्बित करता है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी अपने पति के साथ विभिन्न विद्वत् गोष्ठियों में भाग लेती थी।[14] जो एक अत्यन्त विदुषी एवं ब्रह्म विद्या में रूचि रखने वाली महिला थी।[15] विदुषी गार्गी, जो न केवल वैदिक ज्ञान में उच्च योग्यता रखती थी[16] बल्कि जनक की राजसभा में आयोजित विद्वत गोष्ठी में अपने गूढ़ प्रश्नों से याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान व्यक्ति को मूक एवं स्तब्ध कर दिया था।[17] अर्थववेद से विदित होता है कि स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था तथा वे भी वैदिक ग्रन्थों का पठन–पाठन करती थी।[18] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्त्रियों को वैदिक शिक्षा प्राप्त करने एवं उन्हें यज्ञीय कार्यों में भाग लेने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक धार्मिक क्रिया का उल्लेख मिलता है, जिसको करने के उपरान्त प्रत्येक स्त्री वैदिक ग्रन्थों का पाठ एवं यज्ञीय कार्य कर सकती थी। इस प्रकार स्पष्ट है कि उत्तर–वैदिक कालीन स्त्रियां भी उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थी तथा उन्हें यज्ञीय कार्य में सम्मिलित होने हेतु समस्त अधिकार प्राप्त थे। चूंकि, स्त्री ही यज्ञ की अधिकारिणी मानी गयी थी।[19] अतः वह स्त्री तब तक यज्ञीय कार्य नहीं कर सकती थी, जब तक उसका विवाह न हो जाय, क्योंकि ऐसे धार्मिक कार्यों के समय पति एवं पत्नी का साथ–साथ होना आवश्यक

माना गया था। इससे विदित होता है कि स्त्री शिक्षा की गरिमा को बनाए रखते हुए गार्हस्थिक जीवन की मर्यादा को भी अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया गया था। तत्कालीन स्त्रियाँ वैदिक ज्ञान के अतिरिक्त अनेकानेक विषयों में भी दक्ष होती थी।[20] उपलब्ध साक्ष्यों से दृष्टिगत होता है कि उन्हें शिक्षित करने में परिवार, गुरूकुल एवं महिला शिक्षिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही होगी। गार्गी, मैत्रेयी, सुलभा, बड़वा, प्रतिथेयी आदि ऐसी विदुषी स्त्रियां थी, जिनकी विद्वता से प्रभावित होकर गृहस्थ भी इनके प्रति नित्य कृतज्ञता प्रकट करते थे।[21] विदित है कि जो स्त्रियां किन्हीं कारणों से वैदिक शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाती थी, वे विभिन्न व्यवहारिक एवं उपयोगी विषयों में दक्षता हासिल करती थी, जिसके अन्तर्गत गृहोपयोगी शिक्षा, विभिन्न शिल्पों, ललित कलाओं एवं सैन्य आदि विषयों की शिक्षा का उल्लेख किया जा सकता है।[22] ऋग्वेद के अनुसार ऋषि मुद्गल को डाकुओं से बचाने में उनकी पत्नी ने बड़ी सहायता की थी। इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन स्त्रियाँ सैन्य कार्यों में भी दिलचस्पी रखती थी। वृहदारण्यक् उपनिषद् के अनुसार वे कन्याएं, जो शिक्षा देने का काम करती थी, उपाध्याया एवं आचार्या कहलाती थी तथा अध्ययन करने वाली छात्राओं को 'अध्येत्री' कहकर सम्बोधित किया जाता था। स्पष्ट है कि परिवार एवं गुरूकुलों के अतिरिक्त महिला–शिक्षणशालाओं में भी तत्कालीन स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी। जहाँ, सह एवं एकल व्यवस्था के अनन्तर जिज्ञासु स्त्रियाँ विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थी। उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ में परिवार ही शैक्षिक दायित्वों का निर्वहन करता था, लेकिन बाद में यही कार्य आचार्य करने लगे। ऐसा संभवतः विषयों की व्यापकता, विस्तार एवं गंभीरता के साथ ही साथ विशेषज्ञता की प्रवृत्ति विकसित होने के कारण हुआ।

जहाँ तक सूत्र कालीन स्त्री शिक्षा का प्रश्न है, गोभिल गृह सूत्र से ज्ञात होता है कि कन्याओं का उपनयन पूर्व की भांति होता रहा।[23] आश्वलायन गृह सूत्र के अनुसार, उनका उपनयन एवं समावर्तन संस्कार होता रहा।[24] गोभिल गृह सूत्र से विदित होता है

कि उनका समावर्तन संस्कार ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति के उपरान्त सम्पन्न होता था।[25] कात्यायन गृह–सूत्र के अनुसार वे ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थी।[26] स्पष्ट है कि पूर्व की भांति उनका उपनयन एवं समावर्तन संस्कार होता रहा तथा ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए, वे विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती रही और यज्ञ की अधिकारिणी बनी रही। ऋषि तर्पण के समय गार्गी, वाचक्नवी, सुलभा, मैत्रेयी, बड़वा, प्रतिथेयी आदि विदुषियों को भी स्मरण का निर्देश दिया जाना[27] स्त्री ज्ञान की महत्ता को सिद्ध करता है, जिसे तत्कालीन समाज स्वीकार करता था। महर्षि पंतजलि ने 'औदमेध्या' नामक, आचार्या का उल्लेख किया है और उससे पढ़ने वाली छात्रा 'औदमेधा'' कहलाती थी। [28] इसी क्रम में उन्होंने छात्रा–शालाओं का भी उल्लेख किया है,[29] जहाँ छात्राएं जाकर शिक्षा ग्रहण करती थी। स्पष्ट है कि प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान करने में परिवार की भूमिका महत्वपूर्ण थी, जबकि उच्च शिक्षा एवं सम्बन्धित विषयों में विशेषज्ञता प्राप्त करने हेतु तत्कालीन स्त्रियाँ गुरूकुलों एवं महिला शिक्षण शालाओं में जाती रही होगी। तद्‌युगीन दो प्रकार की छात्राओं का वर्णन मिलता है – 'सद्योवधू' एवं 'ब्रह्मवादिनी'

सद्योवधू स्त्रियां विवाह के पूर्व तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए शिक्षा प्राप्त करती थी, तदुपरान्त गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती थी। जबकि, ब्रह्मवादिनी स्त्रियां ज्ञान प्राप्ति के उद्‌देश्य से जीवनपर्यत्न अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थी।[30] ऋषि कुशध्वज की कन्या 'वेदवती' ऐसी ही ब्रह्मवादिनी स्त्री थी।[31]

रामायण में सीता का विचरण एवं महाभारत में द्रौपदी का भ्रमण महाकाव्य कालीन स्त्रियों की उन्मुक्तता एवं स्वतन्त्रता को अभिव्यक्त करता है। यद्यपि इस समय तक स्त्री–शिक्षा की पद्धति एवं प्रतिमान बदलने लगे थे। वैदिककालीन स्त्रियों का जो दखल वैदिक साहित्य एवं उच्च शिक्षा में था, अब वह नहीं रहा। स्त्री शिक्षा का जुड़ाव अब व्यवहारिक ज्ञान से ज्यादा होने लगा था। स्त्रियां अब एक आदर्श माँ, बहन, पत्नी

एवं कुशल गृहिणी के रूप में स्वीकार्य होने लगी थी। महाभारत में भीष्म का कथन है कि स्त्री को सर्वदा, पूज्य मानकर उनके साथ स्नेहिल व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि जिस घर में स्त्रियों का आदर होता है, उस घर में देवता निवास करते है और उसकी अनुपस्थिति में सभी कार्य अपवित्र हो जाते है।[32] ऐसा उल्लेख मिलता है कि कौशल्या और तारा मंत्रविद् स्त्रियाँ थी।[33] सीता नित्य संध्या–पूजन करती थी।[34] और पति राम द्वारा प्रेषित अंगूठी पर अंकित लिपि को पढ़ सकती थी।[35] आत्रेयी वेदान्त की ज्ञाता था।[26]

कैकेयी अस्त्र–शस्त्रों के अतिरिक्त वेदों में भी पारंगत थी। महाभारत में सुलभा को जीवनपर्यन्त वेदान्त का अध्ययन करते हुए दिखलाया गया है। शबरी ने मातंग ऋषि के आश्रम में उच्च शिक्षा ग्रहण किया था और बाद में उसी आश्रम में चिरकाल तक रहकर अपना सहयोग प्रदान करती रही।[37] द्रौपदी महाभारत काल की पंडिता थी। उत्तरा ने अर्जुन से संगीत और नृत्य शिक्षा ग्रहण की थी।[38] पांडवों की मां कुन्ती अथर्ववेद की पंडिता थी।[39] इस प्रकार स्पष्ट है कि महाकाव्य कालीन स्त्रियाँ अपनी अभिरूचि एवं आवश्यकतानुसार विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थी। लेकिन यह भी सच है कि तत्कालीन स्त्रियाँ वैदिक साहित्य, धर्म एवं दर्शन की जगह ज्यादातर नीतिपरक, सामान्य साहित्य एवं व्यवहारिक विषयों की शिक्षा ही ग्रहण करती थी। चूंकि प्राचीन शिक्षा का तात्पर्य वैदिक शिक्षा से था, अतः उस दृष्टि से तत्कालीन स्त्री–शिक्षा निःसन्देह ह्रसोन्मुख रही। लेकिन, नीतिपरक एवं व्यवहारिक विषयों में पारंगत होने के कारण उन्हें एक आदर्श माँ, बहन, पत्नी एवं कुशल गृहिणी के रूप में विशेष सम्मान मिला। मनु के अनुसार माता की प्रतिष्ठा उपाध्याय, आचार्य और विद्वान पिता से अधिक होनी चाहिए।

यद्यपि ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी तक वे वैदिक साहित्य और कमोवेश उसकी शाखाओं का अध्ययन करती रही। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त कुछ कन्याएं पूर्व

मीमांसा जैसे शुष्क विषयों का भी अध्ययन करती थी, जिसमें वैदिक यज्ञ सम्बन्धी अनेक समस्याओं का विवेचन मिलता है। पंतजलि रचित महाभाष्य (ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी) से ज्ञात होता है कि जो स्त्रियां काशकृत्स्न रचित मीमांसा शास्त्र का अध्ययन करती थी, वे 'काशकृत्स्ना' कही जाती थी।[40] भागवत् पुराण में दाक्षायण की दो पुत्रियों का उल्लेख मिलता है जो धर्म दर्शन एवं विज्ञान में निपुण थी।

स्मरणीय है कि बौद्ध काल सें स्त्रियों की वैदिक शिक्षा पर क्रमशः प्रतिबंध लगना प्रारम्भ हो गया। लेकिन, बौद्ध संघ में उन्हें प्रवेश की अनुमति मिल जाने के कारण, जो या जिस वर्ण की स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाती थी, वे उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगी। जहाँ, धर्म एवं दर्शन की उच्च शिक्षा प्रदान करने के साथ ही साथ विभिन्न शिल्पों, ललितकलाओं एवं अन्य गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा भी उन्हें दी जाती थी। स्पष्ट है कि बौद्ध शिक्षा ने स्त्री शिक्षा में हो रहे ह्रास को रोकने का प्रयास किया। बौद्ध साहित्य 'ललित विस्तर' से ज्ञात होता है कि छात्र एवं छात्राओं को प्रारम्भिक शिक्षा देने वाले विद्यालय 'लिपिशाला' कहलाते थे। जहाँ, द्वारकाचार्य (अध्यापक) जिज्ञासु छात्राओं को लिखना एवं पढ़ना सिखलाते थे। बहुसंख्यक स्त्रियां बौद्ध आगमों की शिक्षिकाओं के रूप में भी पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। थेरीगाथा की 50 कवियित्रियों में 32 आजीवन ब्रह्मचारिणी एवं 18 विवाहित भिक्षुणियां थी, जो अपनी प्रतिभा और ज्ञान के लिए प्रसिद्ध थी। शुभा, सुमेधा और अनोपमा जैसी स्त्रियाँ उच्च वंश से सम्बन्ध रखती थी, जिनकी विद्वता से प्रभावित होकर राजकुमार और सम्पत्तिशाली सेठों के पुत्र विवाह हेतु उत्सुक रहा करते थे।[41] क्षेमा उस समय की उच्च शिक्षा प्राप्त स्त्री थी, जिसकी ख्याति सुदूरवर्ती क्षेत्रों तक फैली थी। संयुक्त निकाय से ज्ञात होता है कि सुभद्रा नामक भिक्षुणी व्याख्यान देने में दक्ष् थी। राजगृह के संपत्तिशाली सेठ की पुत्री भद्राकुण्डकेशा अपनी विद्या और ज्ञान से समकालीन विद्वानों को आकृष्ट करती थी। जातक साहित्य से विदित होता है कि एक जैन पिता की चार विदुषी पुत्रियों ने पूरे

देश का भ्रमण कर लोगों को दर्शनशास्त्र पर वाद–विवाद करने के लिये चुनौती दी थी।[42] जैन परम्परानुसार कौशाम्बी नरेश सहसानीक की पुत्री जयंती ज्ञान प्राप्ति के उद्देश्य से जीवनपर्यन्त अविवाहित रही। स्पष्ट है कि बौद्वकालीन स्त्रियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करने में गहरी दिलचस्पी रखती थी तथा प्रव्रज्या संस्कार के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए शिक्षा प्राप्ति हेतु तल्लीन रहा करती थी। निःसन्देह स्त्री शिक्षा के विकास में बौद्ध शिक्षा केन्द्रों की महत्वपूर्ण भूमिका रही, जहां वे उच्च एवं व्यवहारिक विषयों की शिक्षा ग्रहण करती थी।

मौर्यकालीन स्त्रियां भी शिक्षा प्राप्ति में दिलचस्पी रखती थी तथा उन्हें भी वैराग्य प्राप्ति की अनुमति थी। अशोक के अभिलेखों से विदित होता है कि उसकी पुत्री संघमित्रा धर्मप्रचार हेतु सिंहल द्वीप गयी थी। यद्यपि इस तरह की शैक्षिक उत्कृष्टता बौद्ध शिक्षा के परिणामस्वरूप ही देखने को मिलती है। मेगस्थनीज के विवरण से विदित होता है कि ब्राह्मण शिक्षा की दृष्टि से तत्कालीन स्त्रियां अपने को अत्यन्त उपेक्षित महसूस करने लगी थी। ब्राह्मण दार्शनिक उन्हें वैदिक ज्ञान से सम्बन्धित उच्च शिक्षा के लिये उपयुक्त नहीं मानते थे, क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं वे दुश्चरित्र न हो जाय, रहस्योद्घाटन न कर दे अथवा ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त उन्हें छोड़ न दे। निःसंदेह ब्राह्मण शिक्षा शास्त्रियों के मन में इस प्रकार का विचार बौद्ध शिक्षा के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण आया होगा। स्मरणीय है कि इस समय तक ब्राह्मण धर्म एवं सम्बन्धित शिक्षा में तमाम सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयां प्रविष्ट कर गई थी जिसका प्रभाव निःसंदेह स्त्री शिक्षा पर भी पड़ा होगा। इस प्रभाव को समाप्त करने का काम बौद्धों ने किया था। फिर भी ब्राह्मण धर्म में आस्था रखने वाली तमाम स्त्रियां वैदिक साहित्य की सामान्य शिक्षा, नीति परक विषयों की शिक्षा एवं व्यवहारिक तथा गृहपयोगी विषयों की शिक्षा अपने परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों से प्राप्त करती रही।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के उपरान्त उनका उपनयन संस्कार व्यवहारतः प्रतिबंधित हो चुका था और विवाह संस्कार को ही उपनयन संस्कार के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। इस सम्बन्ध में मनु का कथन है कि पति ही कन्या का आचार्य, विवाह की उसका उपनयन, पति सेवा ही उसका आश्रम एवं गृहस्थी के कार्य ही उसके धार्मिक अनुष्ठान थे।[43] कालान्तर में याज्ञवल्क्य एवं यम जैसे स्मृतिकारों ने ऐसी व्यवस्था दी कि स्त्रियों के उपनयन में वैदिकमंत्र नहीं पढ़ना चाहिए।[44] परिणामतः उन्हें शूद्रों की भांति वेदों के पठन–पाठन एवं यज्ञों में सम्मिलित होने के अधिकार से पूर्णतया वंचित कर दिया गया,[45] और विवाह से समय सम्पन्न होने वाला उनका प्रतीकात्मक उपनयन भी समाप्त कर दिया गया।[46] अब वह केवल माता, पिता, भाई, बहन एवं पति आदि से घर पर ही व्यवहारिक एवं गृहपयोगी विषयों की शिक्षा ग्रहण कर सकती थी।[47] परवर्ती भाष्यकार मेधातिथि, विश्वरूप और अपरार्क ने भी ऐसी ही व्यवस्था दी। किन्तु, अभि जात वर्ग की जिज्ञासु स्त्रियां अब भी सामान्य साहित्य एवं व्यवहारिक विषयों की उच्च शिक्षा ग्रहण करती थी, लेकिन उनका शिक्षण केन्द्र व्यवहारतः परिवार ही होता था, जहां दक्ष आचार्यों को शिक्षा प्रदत्त करने के लिए रखा जाता था। वे प्राकृत एवं संस्कृत भाषा के साथ ही साथ इतिहास, काव्य, नृत्य, वाद्य, शिल्प एवं चित्र कला जैसे विषयों में प्रवीण होती थी।[48] अमरकोश में स्त्री अध्यापिकाओं का उल्लेख किया जाना यह सिद्ध करता है कि उन्हें सामान्य एवं व्यवहारिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। कालिदास द्वारा रचित "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" में अनुसूइया द्वारा शकुन्तला के छन्दोबद्ध प्रणय का अर्थ समझना और उसका चित्रकला में निपुण होना सामान्य एवं व्यवहारिक शिक्षा की परम्परा को रेखांकित करता है।

विदित है कि छठी–सातवीं शताब्दी के आस पास बौद्ध धर्म की स्थिति पूर्व की भांति नहीं रही। अब तक वह दो सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था तथा उसमें तमाम सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयां प्रविष्ट हो चुकी थी। भाषा की दृष्टि से लोक भाषा का

लोप हो चुका और संस्कृत भाषा पुनः अपनी पुरानी अवस्था को प्राप्त कर रही थी। अतः ऐसी स्थिति में स्त्री–शिक्षा का ह्रास स्वाभाविक था। ब्राह्मण शिक्षा की दृष्टि से स्त्रियों की वैदिक एवं उच्च शिक्षा का ह्रास पहले ही प्रारम्भ हो चुका था। कतिपय साक्ष्य, जो मिलते भी है, वे कुलीन स्त्रियों के है जो व्यवहारिक एवं गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा परिवार में ही अनुभवी सदस्यों एवं दक्ष आचार्यों से ग्रहण करती थी। संस्कृत भाषा पर जिस प्रकार का अधिकार वैदिक एवं उपनिषद्कालीन स्त्रियों को प्राप्त था, अब वह नही रहा। निःसंदेह भाषायी समस्या ने तत्कालीन स्त्री शिक्षा को और भी ह्रासोन्मुख किया होगा। इसी क्रम में उल्लेखनीय है कि उच्च शिक्षा हेतु अभिलाषी स्त्रियां अपने अभिभावकों से अनुमति प्राप्त कर न केवल बौद्ध संघ में दीक्षित होती थी, बल्कि उच्च शिक्षा के निमित्त बौद्ध शिक्षण केन्द्रों पर निवास भी करती थी। किन्तु, बाद में बौद्ध संघ में तमाम बुराइयां प्रविष्ट हो जाने के कारण संभवतः सभ्य परिवारों ने या तो अपनी कन्याओं को वापस बुला लिया या उनके उच्च शिक्षा के निमित्त वहां जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। परिणामतः स्त्रियों की उच्च शिक्षा में ह्यस होना स्वाभाविक था। लेकिन अब भी सामान्य एवं व्यवहारिक विषयों की शिक्षा उन्हें परिवार में दी जाती रही। वात्स्यायन ने स्त्रियों के लिये 64 कलाओं की शिक्षा का उल्लेख किया है।[49] कामसूत्र से ज्ञात होता है कि गुप्त काल में सम्भ्रान्त कुल की स्त्रियों को विभिन्न शिल्पों, ललित कलाओं और गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा दी जाती थी। वात्स्यायन ने उपाध्याया, उपाध्ययी, आचार्या आदि शिक्षिकाओं का उल्लेख किया है,[50] संभवतः ये वही स्त्रियां थी, जिन्होंने पूर्व में विभिन्न विषयों में उच्च शिक्षा प्राप्त कर विशेषज्ञता हासिल की थी, तथा अपनी शिक्षा समाप्ति के उपरान्त स्वेच्छा से शिक्षण कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। तत्कालीन समय में ऐसी भी स्त्रियां थी, जो कलाविद् एवं कामशास्त्र में दक्ष होती थी। ये गणिका के नाम से जानी जाती थी। वात्स्यायन के अनुसार, जिस गंधर्वशाला में गणिकाओं की कन्याओं को शिक्षा दी जाती थी, वहां कुलीन एवं सम्भ्रांत परिवार की

स्त्रियां शिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से नहीं जाती थी।[51] राजश्री के लिये बाण ने लिखा है कि वह 'नृत्य संगीत' आदि में विदग्ध सखियों के बीच सकल कलाओं का प्रतिदिन अधिकाधिक परिचय प्राप्त करती हुई शैनेः शैनेः बढ़ रही थी।[52] 'गाथा सप्तशती' से अनेक विदुषी कन्याओं का पता चलता है, जो अपनी प्रतिभा और कल्पनाशीलता के लिए विख्यात थीं।[53] राजशेखर ने कई विदुषी स्त्रियों का उल्लेख किया है।[54] स्वयं उसकी पत्नी अवन्ति सुन्दरी उत्कृष्ट कवियित्री एवं टीकाकार थी।[55] कुछ ऐसी स्त्रियों की भी जानकारी प्राप्त होती है जो राजशासन और सैन्य प्रबन्ध में दक्ष थी तथा योग्य अभिभावक के अभाव में स्वयं शासन का संचालन करती थी संभवतः संबन्धित विषयों की शिक्षा जिज्ञासु स्त्रियों को समय समय दी जाती रही होगी।

8वीं शताब्दी की भवभूति कृत मालती माधव नाटक से ज्ञात होता है कि कामन्दकी कि शिक्षा दिक्षा भूरिवसु तथा देवराट के साथ एक ही पाठशाला में हुई थी।[56] भवभूति की ही रचना उत्तर रामचरित में भी सह–शिक्षा का उल्लेख मिलता है,[57] जिसमें कहा गया है कि आत्रेयी लव–कुश के साथ बाल्मीकि के आश्रम में शिक्षा ग्रहण करती थी। बंगाली लोकसाहित्य से ज्ञात होता है कि एक राजकुमारी और एक कोतवाल का पुत्र साथ – साथ एक ही विद्यालय में अध्ययन करते थे।[58] अल्तेकर ने भी सह शिक्षा पद्धति की सीमित सम्भावनाओं का समर्थन किया है,[59] इस प्रकार स्पष्ट है कि हमारे अध्ययन काल में कुछ स्त्रियों को पुरूषों की भांति उनके साथ शिक्षा ग्रहण करने का सुअवसर प्राप्त था। कितनी स्त्रियों को यह अवसर प्राप्त हुआ, यह बताना तो कठिन है लेकिन इनकी संख्या कम थी।

9वीं शताब्दी में स्त्रियों के साहित्य, काव्य, लेखनकला, अंकगणित, दर्शन, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष, कामशास्त्र, गृहविज्ञान, ललितकला, माल्यग्रन्थन कला, शिल्पकला तथा प्रशासनिक एवं सैनिक शिक्षा आदि विषयों में प्रवीण होने के विवरण प्राप्त होते है। इस समय तंत्र जैसे विषय भी उनके ज्ञानार्जन में समाहित होने लगे थे।

नलचम्पू में दमयन्ती का शिक्षा के अन्तर्गत वीणावादन काव्य और उसकी आलोचना, नृत्य, गीत, चित्रकला, वाद्यकला, कामकला, और चिकित्सा का उल्लेख है।[60] पंचशिका में एक राजकुमारी को साहित्य, अलंकार, नवरस, ज्योतिष, काव्य, नाटक, कामशास्त्र, छन्दशास्त्र तथा प्राकृत और संस्कृत भाषा के शास्त्रों की शिक्षा दिये जाने का उल्लेख है।[61] काव्य मीमांसा से ज्ञात होता है कि अभिजात वर्ग में सुसंस्कृत स्त्रियां प्राकृत एवं संस्कृत में दक्ष होने के साथ – साथ काव्य, संगीत, नृत्य, वाद्य और चित्रकला में भी प्रवीण होती थी।[62] 11 वीं शताब्दी में अलबरूनी के कथन से स्त्रियों की सामान्य स्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार परिवार की व्यवस्था और असाधारण स्थितियों में स्त्रियों का परामर्श बड़ी निष्ठा से लिया जाता था। उन्हें शिक्षा दी जाती थी, एवं शिक्षिता की मर्यादा समाज में स्थापित थी।[63]

दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने यह विचार व्यक्त किया था कि महिलाएं भी पुरूषों की भांति कविता में निपुण हो सकती है, और उन्होंने कुछ उदाहरण भी दिये है।[64] राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी उत्कृष्ट कवियित्री एवं टीकाकार दोनों थी।[65] बाण भट्ट के अनुसार राजकुमार चन्द्रापींड के मनोरंजन के लिए जो स्त्रियां भेजी जाती थी, वे कविता और लेखन में निपुण थी।[66] बंगाल का इतिहास पढ़ते समय हमें एक व्यापारी के शिक्षित पत्नी का उल्लेख मिलता है जो दो व्यक्तियों के लेखन शैली के अन्तर को बता सकती थी।[67] श्रृंगार मंजरी साहित्य और काव्य रचना में प्रवीण थी।[68]

परमार शासक भोज (1010 ई0 से 1050 ई0) शिक्षित व्यक्तियों का प्रोत्साहक और प्रेमी था। उसके द्वारा पुरस्कृत व्यक्तियों में कुछ बुद्धिमान और शिक्षित स्त्रियां भी थी।[69] प्रबन्ध चिन्तामणि से ज्ञात होता है कि कविधनपाल की पुत्री बालपंडिता बुद्धिमान और तीब्र स्मरण शक्ति की थी। ऐसा कहा जाता है कि जब राजा भोज ने पुस्तक तिलकमंजरी को गुस्से सें जला दिया था, जिससे कवि दुःखी और हतप्रभ हो गया था। लेकिन उसकी पुत्री ने उसे सानत्वना दी क्योंकि उसे पुस्तक का प्रथम भाग याद था।

उसने उसे तद्रूप पुनः लिखा और द्वितीय भाग को पूरा किया।[70] नैषधचरित के अनुसार दमयन्ती उत्कृष्ट शब्दों में चन्द्रमा की सुन्दरता का वर्णन एक पत्र में लिखती है।[71] विचसणा द्वारा स्वचरित कविता का राजा के सम्मुख पढ़ने और उसकी बौद्धिक क्षमता से प्रभावित होकर राजा उसे "कविरत्न" की उपाधि से विभूषित किया ऐसा उल्लेख मिलता है।[72] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि तद्युगीन समाज में विदुषी स्त्रियों को विद्वान पुरूषों की भांति शैक्षिक उपाधियां प्राप्त होती थी।

होयसल राजा बल्लाल प्रथम के 11वीं शताब्दी के राज दरबार में कन्नड़ कवियित्री कान्ती और प्रसिद्ध कवि नागचन्द्र के बीच वाद–विवाद का प्रमाण प्राप्त होता है। सोलहवी सदी के एक कवि बाहुबलि ने कान्ती से प्रभावित होकर उसे "अभिनव बाग्देवी" की उपाधि दिया।[73] जिससे स्पष्ट है कि कान्ती एक प्रतिभा सम्पन्न कवियित्री थी। भवकादेवी दक्षिण भारत की कवियित्री थीं, उनकी तीन कविताएं कवीन्द्र वाचन समुच्चय में उद्धृत है, उसने सरल और सुबोध शब्दों का प्रयोग किया है,[74] उसे भवदेवी या भवकादेवी कहा जाता था। कवीन्द्र वाचन समुच्चय में एक अन्य कवियित्री विकटनितम्बा की दो कविताएं उल्लिखित है।[75] हाल की 'गाथा सप्तशती' में सात कवियित्रियों रेवा, रोहा, माधवी, अनुलक्ष्मी, वद्धवही, शशिप्रभा एवं पादई का उल्लेख प्राप्त होता है।[76]

इस काल में कतिपय स्त्रियों ने आयुर्वेद में पांडित्य पूर्ण और प्रमाणित रचनाएं की थी। आठवीं शताब्दी में आयुर्वेद के जिन ग्रन्थों का अरवी भाषा में अनुवाद हुआ उनमें रूसा नामक महिला लेखिका की चिकित्सा विज्ञान पर लिखी एक पुस्तक भी थी,[77] वह चिकित्सा विज्ञान में पारंगत थी। इस काल में स्त्रियां गणित विद्या के ज्ञान से भी परिचित थी। बारहवीं सदी में भास्कराचार्य ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का अध्ययन कराने के लिए "लीलावती" नामक गणित की एक पुस्तक लिखी।[78] अन्य स्त्रियां भी गणित के ज्ञान से परिचित थी। इस प्रकार विवेच्यकाल में सम्पूर्ण भारत से

स्त्रियों के प्रकाण्ड पंडिता, गणितज्ञ, चिकित्सक एवं लेखिका होने के उदाहरण प्राप्त होते है, जिससे तत्कालीन समाज में विदुषी स्त्रियों के प्रति सम्मान एवं आदरभाव का स्पष्ट संकेत होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन काल से लेकर 12 वीं शताब्दी ईस्वी तक उन्हें विभिन्न विषयों की सामान्य एवं उच्च शिक्षा समय समय पर पारिवारिक वातावरण, गुरूकुलीय परम्परा, महिला शिक्षण शालाओं, बौद्ध मठों, विहारों एवं विश्व विद्यालयों के माध्यम से दी जाती रही। यद्यपि समय –समय पर स्त्री शिक्षा का प्रतिमान बदलता रहा। उनके शैक्षिक पाठ्यक्रमों में भी परिवर्तन होता रहा, लेकिन उनकी शिक्षा की परम्परा बदलते परिवेश में भी सदैव बनी रही। इस कार्य में परिवार की भूमिका विशेष उल्लेखनीय रही। जहाँ उन्हें विभिन्न विषयों की सामान्य एवं व्यवहारिक शिक्षा दी जाती थी। जबकि अन्य शिक्षण केन्द्र बदलते परिवेश में निर्धारित पाठ्यक्रमों की उच्च शिक्षा प्रदत्त करने का कार्य करते रहे।

स्त्रियों का उपनयन एवं ब्रह्मचर्य

प्राचीन काल में यज्ञ को विशेष महत्व प्राप्त था और उसमें वैदिक मंत्रों का पाठ वहीं कर सकता था, जिसका उपनयन संस्कार हुआ हो। स्पष्ट है कि यज्ञीय कार्यों के साथ उपनयन का गहरा सम्बन्ध था। ऋग्वेद के अनुसार, तत्कालीन स्त्रियां अपने पति के सहयोग से यज्ञीय कार्य सम्पन्न करती थी।[79] चूंकि, स्त्री – पुरूष यज्ञ रूपी रथ के जुड़े हुए दो बैल माने गये थे।[80] अतः अकेला पुरूष यज्ञ के अयोग्य समझा जाता था।[81] स्त्री ही यज्ञ की अधिकारिणी होती थी,[82] अतः पत्नी के अभाव में यज्ञ अधूरा माना जाता था,। सीता की अनुपस्थिति में अश्वमेध यज्ञ करते समय राम को उनकी स्वर्ण प्रतिमा बनवानी पड़ती थी।[83] स्पष्ट है कि वैदिक मंत्रों का उपनयन से गहरा सम्बन्ध था, क्योंकि उसका उच्चारण वही व्यक्ति कर सकता था, जो उपनयन संस्कार से संस्कारित हो। अर्थववेद के अनुसार, तत्कालीन स्त्रियां मंत्रविद् एवं पंडिता होती थी

और उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म[84] का पालन करते हुए विभिन्न विषयों की उच्च शिक्षा ग्रहण करती थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार तत्कालीन स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था, वे भी वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थी तथा उन्हें समस्त धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी एक धार्मिक क्रिया का उल्लेख मिलता है, जिसको करने के उपरान्त वे वैदिक ग्रन्थों का पाठ एवं यज्ञीय कार्य सम्पन्न कर सकती थी। सूत्र कालीन स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था[85] और वे भी यज्ञीय कार्य सम्पन्न करती थी[86] गृह्सूत्रों से विदित होता है कि उनका उपनयन संस्कार होता था।[87] और ब्रह्मचर्य जीवन की समाप्ति के उपरान्त वे समावर्तन संस्कार से गुजरती थी[88] आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार पुत्रियों की कुशलता के लिये ईश्वर से प्रार्थना की जाती थी।[89] ऋषि तर्पण के समय गार्गी, वाचक्नवी, सुलभा, मैत्रेयी, बड़वा, प्रतिथेयी आदि विदुषियों के प्रति आदर एवं सम्मान प्रकट किया जाता था।[90] मनु ने भी स्त्रियों के लिए उपनयन का विधान किया है।[91] वेदों के अतिरिक्त कुछ स्त्रियां पूर्व मीमांसा जैसे शुष्क विषयों का भी अध्ययन करती थी, जिसमें वैदिक यज्ञ सम्बन्धी अनेक समस्याओं का विवेचन मिलता है। पंतजलि रचित महाभाष्य से विदित होता है कि जो स्त्रियां 'काशकृत्स्न' रचित मीमांसा साहित्य का अध्ययन करती थी, वे 'काशकृत्स्न' कहलाती थी।[92] स्पष्ट है कि ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी तक तत्कालीन जिज्ञासु स्त्रियां उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी। लेकिन जब उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित हुआ और उनकी उच्च शिक्षा क्रमशः बाधित होने लगी, तब उन्हें शिक्षित करने का कार्य बौद्धों ने किया। बौद्ध शिक्षा ग्रहण करने हेतु उन्हें प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा जैसे शैक्षिक संस्कारों से गुजरना पड़ता था, जो उपनयन एवं समावर्तन संस्कारों की भांति था।

विदित है, कि प्राचीन भारतीय शिक्षा का तात्पर्य वैदिक शिक्षा से था, जिसके लिए उपनयन जैसे शैक्षिक संस्कारों का होना आवश्यक माना गया था, किन्तु, ईसा पूर्व

द्वितीय शताब्दी से जब उनका उपनयन क्रमशः प्रतिबन्धित होने लगा, तब यह संस्कार महज प्रतीकात्मक रह गया। तथा उनके विवाह के समय इसे सम्पन्न कर देने का विधान बन गया। इस बात की पुष्टि मनुस्मृति से होती है, जिसके अनुसार पति ही उसका आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन, पति की सेवा ही उसका आश्रम एवं गृहस्थी के कार्य ही उसके धार्मिक अनुष्ठान थे।[93] मनु ने यहां तक व्यवस्था दी कि उनके उपनयन में वैदिक मंत्र नहीं पढ़ना चाहिए।[94] इस बात का समर्थन यम जैसे स्मृतिकारों ने भी किया।[95] यद्यपि यम यह स्वीकार करते हैं कि पूर्व में स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था तथा वे भी वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थी। स्पष्ट है कि कर्मकाण्डीय जटिलता, यज्ञीय कार्यों में शुद्धता और वैदिक साहित्य की अपौरूषेयता के कारण न केवल उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होता गया, बल्कि उसका बुरा प्रभाव उनकी उच्च शिक्षा एवं धार्मिक अधिकारों पर भी पड़ा। परिणामतः द्वितीय शताब्दी के उपरान्त उनकी शैक्षिक स्थिति शूद्रों की भांति हो गई।[96] अब वह केवल माता, पिता, भाई, बहन, पति आदि से अपने परिवार में ही विभिन्न विषयों की सामान्य शिक्षा प्राप्त कर सकती थी।[97] परवर्ती भाष्यकार मेधातिथि, विश्वरूप और अपरार्क जैसे विद्वानों ने भी इसी व्यवस्था का समर्थन किया है। बाद में गृहयज्ञों में उसकी उपस्थिति महज प्रतीकात्मक रह गयी। यद्यपि ऐतिशायन जैसे कतिपय स्मृतिकार इसके भी विरूद्ध थे।[98]

स्मरणीय है कि जब ब्राह्मण शिक्षाविदों ने स्त्री शिक्षा को समर्थन देना बंद कर दिया, तब बौद्ध शिक्षावदों ने उनके शैक्षिक ह्रास को रोकने का प्रयास किया। परिणामतः वे बौद्ध शिक्षा की ओर उन्मुख हुई और प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा के अनन्तर उच्च शिक्षा प्राप्त करने लगी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि बौद्ध आगमों की शिक्षिकाओं के रूप में उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। लेकिन आगे चलकर बौद्ध संघ में तमाम सामाजिक एवं धार्मिक बुराइयां प्रविष्ट हो जाने के कारण उसका सीधा प्रभाव तत्कालीन स्त्री शिक्षा पर पड़ा और वे पुनः उच्च शिक्षा से क्रमशः वंचित होती गई। कालान्तर में वे

परिवार में ही विभिन्न उपयोगी विषयों की सामान्य शिक्षा प्राप्त कर कुशल गृहिणी के रूप में ही अपनी सार्थकता समझने लगी।

जहाँ तक उनके ब्रह्मचर्य जीवन और शिक्षा का प्रश्न है? वैदिक काल से लेकर ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी तक उच्च शिक्षा हेतु अभिलाषी स्त्रियां पुरूषों की भांति ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थी।[99] यद्यपि सूत्रकाल के उपरान्त उनका ब्रह्मचर्य जीवन क्रमशः बाधित होने लगा था। तथापित अन्य आश्रम से संबन्धित कर्तव्यों का वह सम्यक् निवर्हन करती रही। विदित है कि प्राचीन भारतीय समाज प्रत्येक स्त्री से एक सफल गृहिणी बनने की कामना करता था। अतः साधारणतया सभी स्त्रियां परिणय सूत्रों में अवश्य बंधती थी। ऋग्वैदिक काल में जो व्यक्ति अविवाहित रहता था, उसे अपवित्र समझा जाता था।[100] विवाहित स्त्री की ही अन्तयेष्टि संस्कार की जाती थी।[101] संतान का न होना दुर्भाग्य का सूचक माना जाता था।[102] परिवार में पत्नी की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी।[103] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार बिना पत्नी के पुरूष अपूर्ण रहता है। [104] चूंकि वे यज्ञ की अधिकारिणी मानी गयी थी,[105] अतः बिना उनके सहयोग के यज्ञ अधूरा समझा जाता था।[106] स्पष्ट है कि धार्मिक कार्यों में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य थी। ब्राह्मण साहित्य में पत्नी को अर्धान्गिनी कहा गया है।[107] पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार[108] विवाहोपरान्त प्रत्येक दम्पत्ति आध्यात्मिक दृष्टि से एक हो जाते हैं। विवाह के समय उनके द्वारा भी यज्ञोपवीत धारण करने का उल्लेख मिलता है।[109] विदित है कि प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों ने तत्कालीन शिक्षा को समग्र जीवन से जोड़ा था। उनका उद्देश्य लोगों को महज साक्षर बनाना नहीं था, बल्कि ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करना था, जो रचनात्मक हो, स्वयं में समग्रता समाहित किए हो और उसका चिंतन उसके व्यक्तित्व में परिलक्षित हो। अतएव उन्होंने तत्कालीन शिक्षा को धर्म से जोड़कर उसके व्यवहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया, जिससे वह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अनिवार्य अंग बन जाय।

साक्ष्यों से पता चलता है कि विद्याभिलाषी स्त्रियां साधारणतया 16 वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए विद्या का लाभ उठाती थी। धम्मपद की टीका से ज्ञात है कि तत्कालीन स्त्रियां 16 वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थी। अर्थववेद में भी उनके ब्रह्मचर्य जीवन का उल्लेख मिलता है।[110] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वे भी ब्रह्मचर्य धर्म के अनन्तर वैदिक एवं उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी। उनका भी उपनयन संस्कार होता था तथा वे भी यज्ञीय कार्यों में भाग लेती थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक धार्मिक क्रिया का उल्लेख मिलता है, जिसको करने के उपरान्त तत्कालीन स्त्रियां वैदिक मंत्रों का पाठ एवं यज्ञीय कार्य सम्पन्न कर सकती थी। गृह्यसूत्रों से विदित होता है कि वे भी ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थी।[111] तथा उनका भी समावर्तन संस्कार होता था।[112] लेकिन ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के उपरान्त न केवल उपनयन एवं ब्रह्मचर्य जीवन बाधित हुआ, बल्कि वे वैदिक एवं उच्च शिक्षा से भी क्रमशः वंचित होती गयी और विवाह ही उनका उपनयन हो गया।[113] परिणामतः प्रत्येक परिवार अपनी कन्या का विवाह यथाशीघ्र कर देना अपना नैतिक धर्म एवं सामाजिक कर्त्तव्य समझने लगा। इस प्रकार अल्पायु में ही स्त्री विवाह की परम्परा स्वीकार्य एवं सर्वमान्य होती गयी। निः सन्देह इसका प्रभाव उनकी शिक्षा पर पड़ा। यद्यपि उनके शैक्षिक ह्रास को रोकने में बौद्ध शिक्षाविद् सफल रहे, जो अल्पकालिक रहा। विदित है कि तथागत (बुद्ध) यद्यपि नारी–समाज को प्रव्रज्या की दीक्षा देने के पक्ष में नहीं थे, लेकिन अपने प्रिय शिष्य आनन्द के विशेष अनुरोध पर 8 शर्तों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति दे दी। 8 शर्तों के अतिरिक्त 6 शिक्षा पदों एवं कई अपराधों का उल्लेख मिलता है, जो उनके लिये वर्जित था, जैसे–हिंसा, चोरी, ब्रह्मचर्य हीनता, मद्यपान, विकाल भोजन, काम के वशीभूत से पुरुष का स्पर्श या एकान्त में उसके साथ रहना, पुरुष के साथ घूमना, अकेले घूमना, आसक्त से पुरुष के हाथ से खाद्य सामग्री लेना या दूसरी भिक्षुणी को

इसके लिए प्रोत्साहित करना, संघ से निष्कासित भिक्षु और भिक्षुणी का अनुसरण करना और उसके अपराध को छिपाना, चोर को दीक्षा देना, कुटनी बनना, निर्मूल किसी पर आरोप लगाना, त्रिरत्न की प्रत्याख्यान करना, संघ की निन्दा करना, कुसंग या उसके लिये प्रेरित करना, सीख न लेना और कुलों को बिगाड़ना इत्यादि। स्पष्ट है कि इन निर्देशों के अनन्तर तत्कालीन स्त्रियां प्रव्रज्या की दीक्षा लेती थी। निःसंदेह इसका प्रभाव उनकी शिक्षा पर पड़ा और उनका बौद्धिक, चारित्रिक, एवं आध्यात्मिक उत्थान हुआ। लेकिन, उत्तरकाल में युवा भिक्षुणियों की उपस्थित से संघ की नैतिकता विचलित होने लगी, उनका चारित्रिक पतन होने लगा और उनके आचरण पर आक्षेप लगाए जाने लगे। इस बात की पुष्टि चुल्लवग्क जातक, निग्रोधमिग जातक और विनय पिटक से होती है। वस्तुतः बौद्ध संघ एवं संबंधित शिक्षण केन्द्र स्त्री–जनित बुराइयों के केन्द्र बनते गये, जिसके कारण उनकी प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा बाधित हुई। इसका सीधा प्रभाव उनकी उच्च शिक्षा पर पड़ा और उनका स्वतन्त्र विकास बाधित हुआ। अब वे गृहोपयोगी विषयों की सामान्य शिक्षा प्राप्त कर पति सेवा को ही अपना धर्म समझने लगी।[114] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में 'उपनयन' एवं 'प्रव्रज्या' का ब्रह्मचर्य धर्म से गहरा सम्बन्ध था, जिसके कारण समय – समय पर उनकी उच्च शिक्षा प्रभावित होती रही।

महिलाओं के धार्मिक अधिकार

प्राचीन भारतीय समाज में महिलाओं को बड़े ही श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। वह पुरूष की 'शरीरार्द्ध' और 'अर्द्धांगिनी' मानी गयी तथा उसके जीवन में स्त्री की महत्व 'श्री' एवं 'लक्ष्मी' की भांति था।[115] वह श्वसुर गृह की साम्राज्ञी मानी जाती थी।[116] ऋग्वेद में दम्पतियों द्वारा यज्ञीय कार्य करने का उल्लेख मिलता है।[117] चूंकि स्त्री और पुरूष यज्ञ रूपी रथ के जुड़े हुए दो बैल माने गये थे।[118] अतः यज्ञ में उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता पत्नी संज्ञा को चरितार्थ करता है।[119] पति की

अनुपस्थिति में वह धार्मिक कृत्य कर सकती थी।[120] जबकि अकेला पुरूष यज्ञ के अयोग्य समझा जाता था।[121] ऐसा उल्लेख मिलता है कि पति की अनुपस्थिति में ही विश्ववारा धार्मिक कृत्य करती थी। ऋग्वेद के अनुसार पत्नी को यज्ञ करने एवं उसमें आहुति देने संबंधी अधिकार प्राप्त था।[122] बिना पत्नी के सहयोग के यज्ञ अधूरा माना जाता था, क्योंकि वे ही यज्ञ की अधिकारिणी होती थी।[123] यज्ञीय कार्य सम्पन्न करने से पूर्व पति–पत्नी दोनों को एक विशेष प्रकार के उपनयन से गुजरना पड़ता था।[124] तथा उसमें सफलता हेतु दोनों को समान रूप से सक्रिय रहना पड़ता था।[125] यद्यपि उत्तरवैदिक काल के उपरान्त धार्मिक जटिलताएं क्रमशः बढ़ते जाने के कारण ज्यादातर अनुष्ठान पुरूष ही करने लगे थे,[126] तथापि उसमें पत्नी की उपस्थिति स्वीकार की जाती रही।[127] ऐतरेय ब्राह्मण साहित्य से विदित होता है कि यद्यपि कुछ धार्मिक कार्य पत्नी की उपस्थिति के बिना भी सम्पन्न होने लगा था,[128] जो निःसंदेह बदलते सामाजिक परिवेश में हो रहे उनके धार्मिक अधिकारों के ह्रास को चिन्हित करता है। किन्तु, अश्वमेध, वाजपेय तथा राजसूय जैसे यज्ञों एवं सामान्य धार्मिक अनुष्ठानों में उनकी उपस्थिति अब भी अनिवार्य थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार उन्हें वैदिक साहित्य पढ़ने और यज्ञीय कार्य करने सम्बन्धी समस्त अधिकार प्राप्त था। यज्ञीय कार्य से पूर्व उनका उपनयन संस्कार सम्पन्न किया जाता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी एक धार्मिक क्रिया का उल्लेख मिलता है, जिसको करने के उपरान्त वे वैदिक ग्रन्थों का पाठ एवं यज्ञीय कार्य सम्पादित कर सकती थी। कतिपय सूत्रकालीन स्मृतिकार भी उन्हें धार्मिक अधिकार देने के पक्ष में थे। वे पति की अनुपस्थिति में सीता यज्ञ, रूद्रबलि यज्ञ एवं रूद्र यज्ञ कर सकती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि महारानी कौशल्या ने अपने पति की अनुपस्थिति में स्वास्तिक यज्ञ सम्पन्न किया था। मौर्य कालीन स्त्रियां भी अपने पति की अनुपस्थिति में प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकालीन बेला में गृह्य–अग्नि में हविष देती थी।[129] अग्रहायण विधि के स्रहस्त्रारोहण संस्कार में स्त्रियों को वैदिक मंत्रों का पाठ करना

पड़ता था।[130] ऐसा उल्लेख मिलता है कि लवण यज्ञ स्त्रियां ही करती थी।[131] रामायण में वर्णित उद्धरण से विदित होता है कि माता कौशल्या अपने पुत्र राम के राज्याभिषेक के दिन प्रातः काल से ही धार्मिक अनुष्ठान सम्पन्न कर रही थी।[132] सुग्रीव के साथ युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय बलि की पत्नी तारा यज्ञीय कार्य सम्पन्न कर रही थी।[133] कौशल्या और तारा दोनों को रामायण में मंत्रविद् कहा गया है। रावण के बंदीगृह में सीता प्रतिदिन संध्यावंदन करती थी।[134] सीता की अनुपस्थिति में अश्वमेध यज्ञ सम्पादित करते समय पति राम को उनकी स्वर्ण प्रतिमा बनवानी पड़ी थी।[135] शातकर्णि प्रथम की पत्नी नागनिका ने भी अनेक वैदिक यज्ञ सम्पादित किया था। स्पष्ट है कि यज्ञीय कार्यों में पत्नी की उपस्थिति स्वीकार की जाती रही। यद्यपि इस तरह का धार्मिक अधिकार ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी तक ही देखने को मिलता है। तदुपरान्त न केवल उनका उपनयन एवं ब्रह्मचर्य जीवन क्रमशः बाधित होता गया,[136] बल्कि वैदिक ज्ञान एवं यज्ञीय अधिकारों से भी उन्हें वंचित कर दिया गया। इस बात की पुष्टि तत्कालीन स्मृतिकारों के उद्धरण से होती है, जिसके अनुसार विवाह को छोड़कर अन्य संस्कार बिना वैदिक मंत्र के सम्पादित होने लगे। याज्ञवल्क्य का कथन है कि स्त्रियों का उपनयन संस्कार नहीं होना चाहिए। वस्तुतः जब उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होने लगा, तब उन्हें वैदिक ज्ञान और धार्मिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया। परिणामतः न केवल उनकी उच्च शिक्षा बाधित हुई बल्कि कालान्तर में उनकी शैक्षिक स्थिति शूद्रों की भांति होती गयी।

अब यह प्रश्न उठता है कि उनकी वैदिक शिक्षा क्यों प्रतिबंधित हुई? विदित है कि जब वेदों को अपौरूषेय मान लिया गया, तब इस बात पर विशेष बल दिया जाने लगा कि संबंधित विषय की शिक्षा किसी दक्ष एवं अनुभवी शिक्षक के प्रत्यक्ष देख–रेख में ही प्रदत्त किया जाये। ताकि अध्ययन के दौरान किसी भी प्रकार की विषयगम्त त्रुंटि उनसे न हो और सम्बन्धित विषय की सम्यक् शिक्षा उन्हें प्राप्त हो सके। मंत्रों के

उच्चारण की शुद्धता और कंठस्थीकरण पर विशेष बल दिया जाने लगा। विकास के क्रम में वैदिक शिक्षा का पाठ्यक्रम विस्तृत होता गया, जिसके अध्ययन के लिये अधिक समय की आवश्यकता थी। संपूर्ण पाठ का अध्ययन 24 वर्ष की अवस्था से पूर्व समाप्त कर पाना व्यवहारतः कठिन था। जबकि तत्कालीन स्त्रियों का विवाह साधारणतया 16–17 वर्ष की अवस्था में ही सम्पन्न कर देने की परम्परा स्थापित हो गयी थी। अतः 24 वर्ष की अवस्था तक उन्हें अविवाहित रख पाना व्यवहारतः कठिन था। ऐसी परिस्थितियों में सम्भ्रान्त कुल की स्त्रियों को मात्र 6–7 वर्ष का समय ही वैदिक शिक्षा के लिये उपलब्ध हो पाता था, और इस अल्पावधि में वे वेदों की शिक्षा समग्रता के साथ पूर्ण नहीं कर सकती थी। साधारण कुल की स्त्रियाँ, जो गृह कार्य को ही सम्पादित करना अपना नैतिक कर्तव्य समझती थी, उसी कार्य में अपने को तल्लीन रखती थी, वस्तुतः तत्कालीन परिस्थितियों में 24 वर्ष की अवस्था तक उन्हें अविवाहित रख पाना संभव नहीं था। कतिपय वे स्त्रियां जो वैदिक शिक्षा में पारंगत होना चाहती थीं, उन्हें यह पता था कि इतने वर्षों तक अविवाहित रहकर उच्च शिक्षा प्राप्त करना उनके लिए व्यवहारतः संभव नहीं है, क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियों में वे अपनी सीमाएं जानती थीं। परिणामतः वे वैदिक एवं उच्च शिक्षा से क्रमशः वंचित होती चली गयी। विवेच्य युग के अन्त में उनका शैक्षिक स्तर इतना गिर गया कि वे अपने विवाह संस्कार के समय उच्चारित होने वाले वैदिक मंत्रों का उच्चारण भी शुद्ध–शुद्ध नहीं कर पाती थी। अतः इस कार्य को पुरोहित या वर ही सम्पन्न करू दिया करते थे।[137] प्रारम्भ से ही वेदों का अल्प ज्ञान और उसके मंत्रों के उच्चारण में अल्प–त्रुटि अत्यन्त दुःखदायी एवं पीड़ादायक समझा जाता था। शायद इसीलिए इस प्रकार का चिंतन विकसित हुआ कि यदि स्त्रियाँ सम्यक् तरीके से वेदों का अध्ययन नहीं कर सकती तो क्यों न उनके वेदाध्ययन पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, जिससे उसकी मंत्रगत त्रुटि का देवकोप सम्पूर्ण परिवार को न भोगना पड़े। ऐसा उल्लेख मिलता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी

तक समाज के प्रत्येक वर्ग पर लोक भाषा का वर्चस्व स्थापित हो चुका था। यद्यपि कतिपय स्त्रियां संस्कृत भाषा को पढ़ एवं समझ सकती थी, लेकिन भाषायी ज्ञान पूर्ण न होने के कारण उनसे वेदों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने की आशा करना व्यर्थ था। परिणामतः तत्कालीन स्त्रियां वैदिक शिक्षा से वंचित होती गयी। ईसा की प्रथम शताब्दी से, विवाह के समय सम्पन्न होने वाला उनका प्रतीकात्मक उपनयन भी समाप्त होता गया।[138] और कालान्तर में वे शूद्रों की भांति शैक्षिक दृष्टि से हेय समझी जाने लगी।[139] लेकिन सामान्य शिक्षा एवं विभिन्न विषयों की व्यवहारिक शिक्षा उन्हें दी जाती रही, जिसका केन्द्र परिवार होता था।

महिलाओं के अध्ययन के विषय

प्राचीन भारतीय महिलाएं शिक्षा में गहरी अभिरूचि रखती थी। वे धर्म, दर्शन एवं आध्यात्मविद्या के अतिरिक्त विभिन्न शिल्पों, ललित कलाओं, गृहोपयोगी विषयों एवं प्रशासकीय क्षेत्रों में दक्षता हासिल करती रही। जब तक उन्हें विभिन्न विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती रही, तब तक वे सम्बन्धित विषयों में उच्च दक्षता प्राप्त कर तत्कालीन विद्वत समाज को अपने गूढ़ एवं प्रखर ज्ञान से स्तब्ध करती रही।

साक्ष्यों से पता चलता है कि ऋग्वैदिक काल से लेकर ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी तक वे उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का भली भांति पालन करते हुए धर्म एवं दर्शन के साथ ही साथ वैदिक शिक्षा प्राप्त करती थी। समय – समय पर आयोजित होने वाले विभिन्न विद्वत गोष्ठियों में वे पुरूषों के साथ भाग लेती थी, और ऋग्वेद की ऋचाओं का गान भी किया करती थी।[140] कतिपय विदुषियों ने ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं की रचना की थी।[141] प्राचीन विदुषियों में गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, घोषा, रोमशा, अपाला, सिकता, उर्वशी, विश्ववारा, आत्रेयी, काक्षीवती, निवावरी आदि उल्लेखनीय है।[142] उपनिषद् कालीन गार्गी ने जनक की राजसभा में आयोजित विद्वत शास्त्रार्थ में याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान को अपनी अद्भुत तर्कशक्ति एवं गूढ प्रश्नों से मूक कर पूरे

विद्वत समाज को स्तब्ध कर दी थी।[143] गार्गी रचित "गार्गी संहिता" एक उच्चकोटि का ज्योतिष ग्रन्थ है, जो अनुपलब्ध है। याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी एक विदुषी एवं ब्रह्मवादिनी महिला थी, जिसकी अभिरूचि सांसारिक वस्तुओं में न होकर दर्शनशास्त्र जैसे गूढ़ विषयों मे थी।[144] ऋषि तर्पण के समय गार्गी, वाचक्नवी, सुलभा, मैत्रेयी, बड़वा, प्रतिथेयी जैसी विदुषियों का भी नामोल्लेख मिलता है।[145] इससे विदित होता है कि तत्कालीन समाज स्त्रियों की विद्वता को स्वीकार करता था। निःसन्देह उनकी धर्म एवं दर्शन से संबंधित साहित्यिक शिक्षा पराकाष्ठा पर रही होगी। महाकाव्यकालीन आत्रेयी वेदान्त की ज्ञाता थी, जबकि सुलभा को जीवनपर्यन्त वेदान्त का अध्ययन करते हुए प्रदर्शित किया गया है। पाण्डवों की मां कुन्ती अर्थववेद की पंडिता थी।[146] ऋषि कुशध्वज की पुत्री देववती ब्रह्मवादिनी स्त्री थी।[147]काशकृत्स्नी ने मीमांसा शास्त्र जैसे शुष्क एवं गूढ़ विषय पर बहुचर्चित पुस्तक की रचना की थी, जो कालान्तर में उसी के नाम पर विख्यात हुई। इस वर्ग के अध्येता "काशकृत्स्नी" कहे गये।[148] बौद्ध कालीन स्त्रियों ने भी धर्म एवं दर्शन की साहित्यिक शिक्षा प्राप्त कर पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि थेरीगाथा की 50 कवियित्रियों में 32 आजीवन, ब्रह्मचारिणी एवं 18 विवाहित भिक्षुणियां थी जिनमें शुभा, सुमेधा, अनोपमा जैसी स्त्रियां उच्च कुल की थी। जिनकी विद्वता से प्रभावित होकर राजकुमार और संपत्तिशाली सेठों के पुत्र विवाह हेतु उत्सुक रहा करते थे।[149] संयुक्त निकाय से ज्ञात होता है कि बौद्ध कालीन सुभद्रा व्याख्यान देने में दक्ष थी। राजगृह के संपत्तिशाली सेठ की पुत्री भद्राकुंडकेशा अपनी विद्या और ज्ञान से सबको आकृष्ट करती थी। जातक साहित्य से विदित होता है कि एक जैन पिता की चार पुत्रियों ने देश का भ्रमण करते हुए लोगों को दार्शनिक वाद–विवाद हेतु चुनौती दी थी।[150] कौशाम्बी नरेश सहसानीक की पुत्री जयंती ज्ञान प्राप्ति हेतु आजीवन अविवाहित रही। हाल रचित "गाथासप्तशती" में वर्णित सात कवियित्रियों की रचनाए[151] उनकी साहित्यिक उत्कृष्टता एवं उच्च शिक्षा को

प्रमाणित करता है। शील भट्टारिका अपनी पांचाली रीति और शब्दों एवं अर्थों के उत्तम गुंफन के लिये प्रसिद्ध थी।[152] लाट देश की विदुषी देवी की सुक्तियां राज्यारोहण के समय पाठकों को अनुरंजित करती थी।[153] विदर्भ में विजयांका की कृति की समता केवल कालिदास ही कर सकते थे।[154] कौमुदी महोत्सव नामक संस्कृत नाटक की रचना "वज्जिका" नामक विदुषी द्वारा की गयी थी। आध्यात्मिक क्षेत्र में उच्च दक्षता प्राप्त स्त्रियों में भुवना, अपर्णा, एकपर्णा, एकपाटला, मेन धारिणी, संनति शतरूपा आदि उल्लेखनीय है।[155] उत्तरकालीन विदुषियों में सुभद्रा, सीता, मरूला, इंदुलेखा, भवदेवी, विकट और नितम्बा आदि स्मरणीय है, जिनकी रचनाएं आज लुप्त हो चुकी है।[156]

शंकर और मंडन मिश्र के बीच हुए शास्त्रार्थ की निर्णायिका मिश्र की पत्नी लीलावती थी।[157] जो मीमांसा, वेदान्त और साहित्य की पंडिता थी। 8वीं शताब्दी में जिस ग्रन्थ का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ था, उसकी लेखिका "रूसा" नामक एक स्त्री थी। वह "प्रसव विज्ञान" से संबन्धित ग्रन्थ था।[158] राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी उत्कृष्ट कवियित्री एवं टीकाकार थी।[159] ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी के उपरान्त स्त्रियों का उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होने एवं प्रथम शताब्दी के आस–पास बौद्ध शिक्षा में तमाम बुराइयां प्रविष्ट कर जाने के कारण उनकी उच्च–शिक्षा बाधित हुई। अब वे रामायण, महाभारत, पुराण और गीता जैसे नीतिपरक साहित्यिक ग्रन्थों का अध्ययन कर स्वयं को संतुष्ट करने लगी। यद्यपि वे संस्कृत एवं प्राकृत भाषा को भली भांति पढ़ एवं समझ सकती थी। उनके द्वारा अपने पुरूष संबंधियों का व्याकरणिक दोष ढूंढ़ निकालने का उल्लेख मिलना[160] उनके व्याकरणिक ज्ञान को प्रमाणित करता है। स्पष्ट है कि समय के साथ स्त्री शिक्षा के प्रतिमान बदलते रहे और वे बदलते परिवेश में संबन्धित विषयों की साहित्यिक शिक्षा ग्रहण करती रही। लेकिन यह व्यवस्था साधारणतया संभ्रान्त कुल की महिलाओं के लिये ही सुलभ रहा।[161]

जहाँ तक व्यवहारिक शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रमों का प्रश्न है, यह सच है कि प्राचीन भारत की बहुसंख्यक स्त्रियां व्यवहारिक विषयों में ही दक्षता प्राप्त करती थी, जिसका केन्द्र परिवार एवं आचार्य परिवार के सदस्य होते थे। पूर्व वैदिक कालीन अपाला एक ऐसी ही स्त्री थी, जो न केवल कृषि कार्य में दक्ष थी, बल्कि उस कार्य में अपने पिता को सहयोग भी प्रदान करती थी।[162] चूंकि प्रारम्भ में गाय को विशेष महत्व प्राप्त था और गृहकार्य के अन्तर्गत गाय दुहने का कार्य स्त्रियां ही करती थी, अतः उन्हें ''दुहिता'' के नाम से संबोधित किया जाता था। अन्य कार्यों के अन्तर्गत वे सूत कातना, बुनना एवं वस्त्र सिलना भी जानती थी[163] उत्तरवैदिक कालीन स्त्रियाँ संगीत, नृत्य, वाद्य, गायन, चित्रकला आदि विषयों में भी दक्ष होती थी।[164] महाकाव्य कालीन स्त्रियां भी व्यवहारिक विषयों में दक्ष होती थी। उत्तरा ने अर्जुन से संगीत और नृत्य की शिक्षा ग्रहण की थी।[165] विदित है कि त्रिपुर की स्त्रियां अपनी भाव भंगिमाओं से लोगों को प्रफुल्लित रखती थी।[166] रेखांकन, रंगो का अपेक्षित प्रयोग, आकृति का अभिव्यक्तिकरण चित्रकला के प्रधान आधार थे। चित्रलेखा द्वारा चित्रपट पर अनेक देवो, गांधर्वों और मनुष्यों की आकृतियों का अंकन किया गया था, जिसमें अनिरूद्ध का भी आकर्षक चित्र था।[167] तैत्तिरीय और मैत्रायणी संहिता से विदित होता है कि स्त्रियों को संगीत, नृत्य और वाद्य की शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि समय–समय पर उनकी व्यवहारिक शिक्षा भी बाधित होती रही, तथापि अभिजात कुल की स्त्रियां काव्य, संगीत नृत्य, वाद्य और चित्रकला आदि विषयों की उच्च शिक्षा प्राप्त करती रहीं।[168] साधारण एवं निम्नकुल की स्त्रियां गृह–विज्ञान, कृषि–विज्ञान, विभिन्न शिल्पों एवं ललित कलाओं, मालव्य ग्रन्थ आदि विषयों की शिक्षा आवश्यकतानुसार ग्रहण करती रही। इन विषयों की शिक्षा साधारणतया उन्हें परिवार में ही दी जाती थी। अभिजात कुल की स्त्रियों को व्यवहारिक एवं उपयोगी विषयों की उच्च शिक्षा देने हेतु आचार्यों की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है। अग्निमित्र के महल में गणदास और सोमदत्त की नियुक्ति इसीलिए की गई थी।

राज्यश्री के लिये बाण ने हर्षचरित में लिखा है कि वह "नृत्य–गीत" आदि में विदग्ध सखियों के बीच सकल कलाओं का अधिकाधिक परिचय प्राप्त करती हुई धीरे–धीरे बढ़ रही थी।[169] वात्स्यायन ने 64 अंग विद्याओं का उल्लेख किया है,[170] जिसकी शिक्षा गुप्त कालीन स्त्रियां प्राप्त करती थी। साधारण एवं निम्न परिवारों की आर्थिक स्थिति संभवतः अच्छी न होने के कारण वे अपनी स्त्रियों को सम्भ्रान्त परिवार की स्त्रियों की भांति कुशल एवं दक्ष अध्यापकों के सान्निध्य में रखकर शिक्षित कर पाने में अपने को असमर्थ पाते थे। अतः उन्हें व्यवहारिक विषयों की सामान्य शिक्षा पारिवारिक वातावरण में ही प्रदान की जाती थी। इसके बाद वे विभिन्न विषयों का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर सांस्कृतिक परम्पराओं के संरक्षण व संवर्द्धन में अपनी भूमिका निभाती रही तथा स्वयं को सुसंस्कृत एवं चरित्रवान बनाकर एक कुशल गृहिणी, आदर्श माँ, आदर्श बहन, एवं आदर्श पत्नी के रूप में अपने को स्थापित कर तत्कालीन समाज को कृतार्थ करती रही। मनु का कथन है कि माता की प्रतिष्ठा उपाध्याय, आचार्य और पिता से भी अधिक होनी चाहिए। आपात काल में वे अपने व्यवहारिक ज्ञान का इस्तेमाल कर परिवार का भरण पोषण भी करती रही। इस बात की पुष्टि पालि साहित्य में वर्णित एक उद्धरण से होती है, जिसके अनुसार मुमूर्ष पतियों को आश्वासन देते हुए पत्नियां कहती हैं कि वह चिंता न करे, वह अपने व्यवहारिक ज्ञान (कताई– बुनाई) का इस्तेमाल कर परिवार को संभाल लेगी।[171] अर्थशास्त्र के वस्त्राध्यक्ष अध्याय में कौटिल्य ने विधवाओं, पतिकाओं और व्यक्ताओं के आवास पर राज्य की ओर से कपास भिजवाने और सूत तथा वस्त्र एकत्र करने का उल्लेख किया है।[172] जीविका का यह छोटा, लेकिन स्वतन्त्र माध्यम आज भी भारतीय गांवों में देखने को मिल जाएगा। पूर्वोत्तर भारत का जनजातीय समाज इसका जीवंत उदाहरण है। 10वीं शताब्दी के चाहमान राजा चन्दन की रानी रूद्रानी को उसके योग ज्ञान के लिए आत्मप्रभा कहा जाता था। कादम्बरी भी योगदर्शन की ज्ञाता थी। दसवीं सदी के एक जैन ग्रन्थ में कहा गया है कि अकुशलमाला अपने योग शक्ति के

द्वारा दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर सकती थी। यद्यपि यह व्याख्या अतिरंजित हो सकती है फिर भी उसके योगदर्शन के पंडित होने से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिससे पता चलता है कि हमारे अध्ययन काल में अनेक रानियों, राजकुमारियों, एवं विधवा नारियों ने राज्य व्यवस्था एवं प्रबन्ध में सक्रिय भाग लिया। कश्मीर के इतिहास में सुगन्धा, दिद्दा और जयमति का उल्लेख है, जिन्होंने संरक्षिका के रूप में कश्मीर पर शासन किया था। चालुक्य वंश की अनेक रानियों और महिलाओं ने, जिनमें अक्कादेवी, मेलादेवी, कुकुंम देवी और लक्ष्मीदेवी प्रसिद्ध है, जिन्होने कुशल शासिका के रूप में कार्य किया था।

स्पष्ट है कि उपनयन संस्कार से वैदिक शिक्षा का गहरा सम्बन्ध था और जैसे–जैसे उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होता गया वैसे वैसे उनकी वैदिक एवं उच्च शिक्षा क्रमशः बाधित होती गयी। यद्यपि बौद्धों ने उनकी उच्च शिक्षा की परम्परा को बनाए रखने का प्रयास किया। किन्तु, बाद में बौद्ध शिक्षा के परिणाम स्वरूप पारिवारिक मर्यादा भंग होने एवं चारित्रिक अस्मिता खतरे में पड़ने के कारण मनु जैसे ब्राह्मण स्मृतिकारों ने पुनः उसे बहाल करने एवं उनके चारित्रिक स्खलन को रोकने हेतु गूढ़ साहित्यिक शिक्षा के स्थान पर व्यवहारिक, नैतिक तथा जीवनोपयोगी विषयों की शिक्षा प्रदान करने का समर्थन किया। कतिपय स्मृतिकार योग्य वर के अभाव में विवाह को साधारणतया 16–17 वर्ष की अवस्था तक रोकने के पक्ष में थे।[173] मनु यद्यपि 12 वर्ष की अवस्था तक स्त्री–विवाह कर देने के समर्थक थे, तथापि योग्य वर के अभाव में वे मृत्युपर्यन्त अविवाहित रखने के पक्ष में थे।[174] यहाँ स्त्रियों की योग्यता का तात्पर्य उसकी गृहोपयोगी एवं व्यवहारिक शिक्षा से था। स्मरणीय है कि प्राचीन समाज धर्म से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसका प्रवेश था। अतः तत्कालीन शिक्षा का मुख्य विषय धर्म एवं दर्शन रहा। वस्तुतः इन विषयों में दक्ष व्यक्ति ही तत्कालीन समाज में विशेष आदर का पात्र होता था। अतएव सामान्य साहित्यिक

शिक्षा, व्यवहारिक शिक्षा एवं विभिन्न गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त करने वाली स्त्रियों को वह आदर एवं सम्मान नहीं मिल पाया, जो धार्मिक एवं दार्शनिक विषयों में दक्ष स्त्रियों को प्राप्त था। यही कारण है कि व्यवहारिक एवं गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा का पर्याप्त उल्लेख प्राचीन साक्ष्यों में नहीं मिलता। इसी क्रम में उल्लेखनीय है कि वर्तमान ग्रामीण महिलाएं चाहे वह साक्षर हो या निरक्षर। सिलाई, बुनाई, कताई, रंगाई, संगीत, नृत्य, वाद्य, चित्रकला एवं अन्य गृहोपयोगी विषयों में दक्षता राज्य द्वारा स्थापित किसी शिक्षा संस्थान से नहीं प्राप्त करती थी बल्कि इसका सारा श्रेय पारिवारिक संस्कार एवं परम्परा को जाता है। पूर्वोत्तर भारत की बहुसंख्यक स्त्रियां चाहे वह सम्भ्रांत कुल की हो या निम्न कुल की अपने शेष समय में कताई, बुनाई एवं रंगाई जैसे गृहोपयोगी कार्यों को करती है, जिसकी शिक्षा उन्हें किसी शिक्षा संस्थान से नहीं, बल्कि परिवार से ही व्यवहारिक रूप में मिलती है।

जहाँ तक उनकी प्रशासकीय शिक्षा का प्रश्न है, ऋग्वेद से विदित होता है कि 'विष्पला' नामक स्त्री युद्ध में गयी थी और घायल होने की दशा में अश्विनों ने उसकी चिकित्सा की थी।[175] ऋषि मुदगल को डाकुओं से बचाने में उनकी पत्नी ने सहायता की थी (ऋग्वेद)। यूनानी आक्रमणकारी सिकन्दर के आक्रमण का प्रतिरोध पति के मरणोपरान्त उसकी पत्नी मत्संग ने स्वयं किया था। महाकाव्यकालीन कैकेयी अस्त्र शस्त्र की शिक्षा में निष्णात् थी। सातवाहनवंशीय नयनिका ने अपने पुत्र की अल्पव्यस्कता में शासन संचालन स्वयं किया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्त अपने पति के मरणोपरान्त पुत्र के अल्पव्यस्क होने के कारण शासन का संचालन स्वयं करती थी। स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय स्त्रियां आवश्यकता पड़ने पर अपने शासन का संचालन अत्यन्त बुद्धिमत्ता एवं कुशलता से स्वयं करती थी, जो उनकी सैन्य योग्यता एवं प्रशासकीय दक्षता को सिद्ध करता है। काश्मीर की सुगंधा और दिद्दा नामक रानियां अपनी प्रशासकीय दक्षता एवं राज्य संचालन के लिये विख्यात थी।[176]

अक्कादेवी, मेलादेवी, कुकुंमदेवी और लक्ष्मी देवी जैसी गुजरात की चालुक्य वंशी रानियों ने अपने राज्य का प्रशासन स्वयं संचालित किया था।[177] स्पष्ट है कि शासक एवं अभिजात कुल की स्त्रियां सामान्य एवं व्यवहारिक विषयों में पारंगत होने के साथ ही साथ प्रशासकीय क्षेत्रों में भी दक्षता हासिल करती थी। निःसन्देह इसकी भी शिक्षा उन्हें दी जाती रही होगी, ताकि आवश्यकता पड़ने पर वे सैन्य कार्य एवं शासन का संचालन बुद्धिमत्ता पूर्वक स्वयं कर सके। साथ ही पति के कार्यों में सहयोग प्रदान कर उनके प्रशासकीय दायित्व को हल्का बना सके। इसके अन्तर्गत उन्हें अस्त्र–शस्त्र परिचालन, अंश्वारोहण तथा जल संचरण की शिक्षा दी जाती थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि विजय महादेवी के पुत्र का नाम गंगादत्त इसलिए पड़ा था, क्योंकि गर्भावस्था में वे गंगा में खूब तैरती थी। साधारण जिज्ञासु स्त्रियां भी सैन्य एवं प्रशासकीय विषयों की शिक्षा प्राप्त करती रही होगी, क्योंकि असाधारण परिस्थितियों में हम ग्रामीण महिलाओं को गांव की रक्षा करते हुए पाते हैं। कितनी महिलाएं तो इस कार्य में वीर गति तक को प्राप्त हो गई थी।[178] स्पष्ट है कि जिन स्त्रियों की अभिरूचि धर्म, दर्शन, एवं आध्यात्म जैसे गूढ़ विषयों में न होकर राजशासन और सैन्य प्रबन्ध में अधिक होती थी, उन्हें व्यवहारिक विषयों के अतिरिक्त सैन्य शिक्षा भी दी जाती थी।

प्राचीन कालीन महिला शिक्षण संस्थान और उसका स्वरूप

प्राचीन भारत में दीर्घकाल तक शिक्षण केन्द्रों की भूमिका का निर्वहन परिवार के माध्यम से होता रहा, जहां पुत्र एवं पुत्रियां समान रूप से परिवार के ज्येष्ठ एवं अनुभवी सदस्यों से विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। यद्यपि इस परम्परा का निर्वहन गुरूकुलीय शिक्षा प्रणाली एवं बौद्ध शिक्षण संस्थाओं के विकास होने तक होता रहा तथापि सामान्य एवं व्यवहारिक शिक्षा की दृष्टि से परिवार की भूमिका सर्वथा स्मरणीय रही। विकास के क्रम में न केवल उन्हें उपनयन एवं धार्मिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया, बल्कि वे वैदिक एवं उच्च शिक्षा से भी पृथक होती गयीं और सह–शिक्षा एवं

गुरूकुलीय शिक्षा उनके लिये अतीत का विषय बन गया। किन्तु व्यवहारिक एवं नैतिक विषयों की शिक्षा उन्हें दी जाती रही, जिसका केन्द्र परिवार होता था। महाकाव्यकालीन उत्तरा ने अपने पति अर्जुन से संगीत और नृत्य की शिक्षा ग्रहण की थी।[179]

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से उनका उपनयन संस्कार, जो वैदिक शिक्षा के लिये अपरिहार्य था, विवाह के समय ही सम्पन्न किया जाने लगा। इस संबंध में मनु का कथन है कि पति ही महिला का सब कुछ था[180] बाद के कतिपय स्मृतिकारों ने उनके विवाह के समय सम्पन्न होने वाले प्रतीकात्मक उपनयन के अनन्तर पढ़े जाने वाले वैदिक मंत्रों के उच्चारण पर भी प्रतिबंध लगा दिया।[181] इस प्रकार वैदिक ज्ञान उनके लिये अतीत का विषय बन गया। अब वे वैदिक ज्ञान की दृष्टि से शूद्रों की भांति हेय समझी जाने लगी। यद्यपि परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों से वे व्यवहारिक एवं गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त कर सकती थी। यम जैसे उत्तरकालीन स्मृतिकारों के कथन से इसकी पुष्टि होती है कि महिलाओं को उनके निकट सम्बन्धी ही शिक्षा देते थे।[182] निश्चित रूप से विभिन्न प्रकार के सामाजिक एवं धार्मिक प्रतिबंधों का प्रभाव उनकी शिक्षा पर पड़ा, जिसके कारण उनकी वैदिक एवं उच्च्य शिक्षा ह्रासोन्मुख हुई। यद्यपि समाज के निम्न वर्ण से सम्बंधित महिला पूर्व की भांति अब भी विभिन्न व्यवसायों, शिल्पों एवं ललित कलाओं जैसे व्यवहारिक विषयों की शिक्षा अपने परिवार के सदस्यों से प्राप्त करती रहीं। इस प्रकार महिला शिक्षा की दृष्टि से परिवार की भूमिका सर्वथा महत्वपूर्ण बनी रही।

संस्कृत साहित्य में उपाध्याया, आचार्या, उपाध्यायनी और आचार्यानी जैसे शब्दों का उल्लेख मिलना यह सोचने के लिये विवश करता है कि कतिपय विदुषी स्त्रियां शिक्षण कार्य भी करती थी, क्योंकि उपाध्यायनी और आचार्यानी जैसे शब्दों का प्रयोग उपाध्याय और आचार्य की पत्नी के लिये आदरस्वरूप हो सकता है, लेकिन उपाध्याया और आचार्या जैसे शब्दों का प्रयोग महिला शिक्षिकाओं की उपस्थिति को ही दर्शाता है।

इस बात की पुष्टि 'वृहदारण्यक उपनिषद्' से भी होती है, जिसके अनुसार वे महिलाएं जो शिक्षा देने का कार्य करती थी, उपाध्याया और आचार्या कहलाती थी। इन विदुषियों से शिक्षा प्राप्त करने वाली महिलाओं को "अध्येत्री" कहकर सम्बोधित किया जाता था। पंतजलि ने "औदमेध्या" नामक आचार्या का उल्लेख किया है जिससे शिक्षा प्राप्त करने वाली स्त्रियां "औदमेधा" कहलाती थी।[183] वात्स्यायन ने भी आचार्या और उपाध्याया जैसी महिला शिक्षिकाओं का उल्लेख किया है। [184] अमरसिंह द्वारा रचित अमरकोश में भी स्त्री अध्यापिकाओं का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में महिला शिक्षिकाएं भी होती थी, जिन्हें आचार्या और उपाध्याया की संज्ञा से सम्बोधित किया जाता था।[185] ये तत्कालीन जिज्ञासु महिलाओं को शिक्षित करने का कार्य करती थी। इन विदुषियों द्वारा संचालित संस्थाओं को महिला शिक्षण शालाओं के नाम से संबोधित किया जाता था, क्योंकि महर्षि पंतजलि ने ऐसी शिक्षण संस्थाओं को महिला शिक्षण शालाओं के नाम से संबोधित किया है।[186] संभवतः इस प्रकार की संस्थाओं का प्रबंधन स्वयं महिला ही करती थी।

उपलब्ध साक्ष्यों से सह एवं एकल शिक्षा का उल्लेख मिलता है, जिसका संबंध संभवतः गुरुकुलीय शिक्षा से था। जहाँ पुरूषों के साथ स्त्रियां भी शिक्षा के निमित्त जाती थी। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, घोषा, विश्ववारा, सिकता जैसी तमाम महिलाएं न केवल वैदिक ऋचाओं का गान करती थी, बल्कि अनेक मंत्रों की मौलिक रचना भी की थी। वे पुरूषों की भांति विभिन्न विद्वत् गोष्ठियों में भाग लेने के साथ ही साथ आयोजित शास्त्रार्थों में अपने गूढ़ प्रश्नों से विद्वान पुरूषों को परास्त भी करती थीं। निःसंदेह इन महिलाओं को शिक्षा परिवारोंपरान्त गुरुकुलों में दी जाती रही होगी। भवभूति रचित उत्तररामचरित से ज्ञात होता है कि आत्रेयी ने बाल्मीकि ऋषि के आश्रम में लव और कुश के साथ सह शिक्षा ग्रहण की थी।[187] बाल्मीकि और आगस्तस्य जैसे ब्रह्मर्षियों से वेदान्त की शिक्षा प्राप्त कर विदुषी बनने वाली मैत्रेयी का उल्लेख मिलता

है।[188] भवभूति रचित मालती माधव से ज्ञात होता है कि कामन्दकी की शिक्षा भूरिवसु और देवराट के साथ हुई थी।[189] महाभारत से भी सह शिक्षा का उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार अंबा और शैखावत्य एक साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। पुराणों में वर्णित कहोद और सुजाता तथा रूह और प्रमवदरा की कथाओं से ज्ञात होता है कि सह शिक्षा का अस्तित्व था और स्त्रियों का विवाह शिक्षोपरान्त व्यस्क होने पर ही होता था। स्पष्ट है कि प्राचीन महिलाएं जो वैदिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये लालायित रहा करती थी, उन्हें विदुषी बनाने में परिवार एवं गुरुकुलों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। ऐसा प्रतीत होता है कि परिवार में सामान्य शिक्षा प्राप्त कर लेने के उपरान्त वे महिला जो उच्च शिक्षा प्राप्त कर विशेषज्ञता हासिल करना चाहती थी, उन्हें सह शिक्षा के अनन्तर गुरुकुलों में विद्वान आचार्यों के पास भेजने की परम्परा विद्यमान थी। लेकिन, कालान्तर में जब उन पर भांति–भांति के सामाजिक और धार्मिक प्रतिबंध लगाये जाने लगे, तब सम्भ्रांत कुल की स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त संभवतः उन शिक्षण शालाओं में जाने लगी हो, जिनका संचालन महिला शिक्षिकाओं द्वारा होता था। जबकि साधारण एवं निम्न कुल की महिलाएं विभिन्न गृहोपयोगी एवं व्यवहारिक विषयों की ही शिक्षा प्राप्त करती रही, जिसका केन्द्र परिवार होता था और शिक्षक परिवार के ज्येष्ठ एवं अनुभवी सदस्य होते थे।

जहां तक महिला शिक्षा की दृष्टि से बौद्ध शिक्षण केन्द्रों का प्रश्न है, यह सच है कि ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी से महिलाओं के वैदिक शिक्षा पर क्रमशः प्रतिबंध लगने लगा था, लेकिन बौद्ध संघ में उन्हें प्रवेश की अनुमति मिल जाने के कारण वे सम्बन्धित धर्म एवं दर्शन की उच्च शिक्षा प्राप्त करती रही। विनय पिटक से ज्ञात होता है कि बुद्ध महिलाओं के प्रव्रज्या ग्रहण करने के विरूद्ध थे और कपिलवस्तु में विमाता प्रजापति गौतमी के भिक्षुणी बनने के अनुरोध को ठुकरा दिया था। लेकिन बाद में 8 शर्तों के साथ उन्हें संघ में प्रवेश की अनुमति दे दी गयी। परिणामतः वे महिलाएं जो वैदिक

ज्ञान की उच्च शिक्षा से क्रमशः वंचित होने लगी थी, बौद्ध शिक्षा की ओर उन्मुख हुई। और विभिन्न क्षेत्रों में विशेष दक्षता हासिल की।[190] क्षेमा उच्च शिक्षा प्राप्त ऐसी ही महिला थी, जिसकी विद्वता की ख्याति दूर दूर तक फैली थी। संयुक्त निकाय से ज्ञात होता है कि सुभद्रा नामक भिक्षुणी व्याख्यान देने में दक्ष थी।[191] राजगृह के संपत्तिशाली सेठ की पुत्री भद्राकुंडकेशा अपनी विद्वता से समकालीन विद्वानों को आकृष्ट करती थी। जैन परम्परानुसार कौशाम्बी नरेश सहसानीक की पुत्री जयंती ज्ञान प्राप्ति के निमित्त आजन्म अविवाहित रही। गाथा सप्तशती (प्रथम शदी ईस्वीं) में सात विदुषियों के पद संग्रहीत है, जो महिला शिक्षा के महत्व एवं विस्तार को प्रतिबिम्बित करता है। विदित है कि बौद्ध शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बुद्ध के विचारों एवं सिद्धांतो का प्रचार–प्रसार करना था और इस कार्य में बौद्ध मठ एवं बिहार सफल रहे, जहां जिज्ञासु भिक्षु एवं भिक्षुणियों को सह शिक्षा के अनन्तर धर्म एवं दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। कालान्तर में छात्रों की संख्या बढ़ने एवं पाठ्यक्रमों का विस्तार होने से बड़े – बड़े शिक्षण संस्थाओं का जन्म हुआ। परिणामतः वे बौद्ध मठ एवं विहार, जो महज धर्म एवं दर्शन के शिक्षण केन्द्र थे, बड़े शिक्षण संस्थाओं के रूप में स्थापित हुए, जहां धर्म, दर्शन एवं आध्यात्मिक विद्या के साथ ही साथ विभिन्न शिल्पों, ललित कलाओं और अन्य व्यवहारिक विषयों की शिक्षा जिज्ञासु भिक्षु और भिक्षुणियों को दी जाने लगी। स्पष्ट है कि बौद्धों ने महिला शिक्षा के महत्व को समझकर उनमें आ रही शैक्षिक गिरावट को रोकने का प्रयास किया था। किन्तु, कालान्तर में बौद्ध संघ में तमाम स्त्रीजनित बुराइयाँ प्रवेश कर जाने के कारण, उसका महिला शिक्षा पर विपरीत प्रभाव पड़ा और वे पुनः उच्च शिक्षा से वंचित होने लगी। यही कारण है कि जो चीनी यात्री 5वीं से 7 वीं शताब्दी के मध्य भारत आए हुए थे, उनके वर्णनों में किसी विदुषी भिक्षुणी का उल्लेख नहीं मिलता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक काल से लेकर 12वीं शताब्दी ईस्वी तक महिला शिक्षा की दृष्टि से शिक्षण संस्थाओं एवं पाठ्यक्रमों का स्वरूप समय समय पर

परिवर्तित होता रहा। यद्यपि शिक्षण संस्थाओं के रूप में गुरुकुलों, महिला शिक्षण शालाओं, बौद्ध मठों एवं विहारों की भूमिका महत्वपूर्ण रही। किन्तु, परिवार की महत्ता सर्वथा बनी रही।

महिलाओं की शिक्षा में व्यवधान

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के उपरान्त महिलाओं का उपनयन संस्कार प्रतिबंधित होने के कारण न केवल उनकी उच्च शिक्षा प्रभावित हुई, बल्कि उनका स्वतन्त्र विकास भी बाधित हुआ। सूत्रकाल तक शैक्षिक दृष्टि से उनका स्थान पुरूषों के समकक्ष था। वृहदारण्यक् उपनिषद् के अनुसार शिक्षित कन्या के प्राप्ति हेतु अनुष्ठान किये जाते थे।[192] पुरूषों की भांति वे भी उपनयन के अनन्तर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपने को विदुषी बनाती थी। जो स्त्री–पुरूष शिक्षित होते थे, वे विवाह योग्य उत्तम समझे जाते थे।[193] कुछ ऐसी भी स्त्रियां थी, जो जीवनपर्यन्त अविवाहित रहकर विद्याध्ययन करती थी।[194]

विदित है कि ऋग्वैदिक काल से ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी तक उनका विवाह साधारणतया 16–17 वर्ष की अवस्था में सम्पन्न होता था। किन्तु, आगे चलकर यह कार्य कम आयु में ही सम्पन्न होने लगा। यद्यपि कुछ स्मृतिकार अब भी योग्य वर के अभाव में उनका विवाह 16–17 वर्ष की अवस्था तक रोके रखने के पक्ष धर थे [195] मनु जैसे स्मृतिकार 12 वर्ष की अवस्था में स्त्री विवाह के पक्षघर थे लेकिन योग्य वर के अभाव में वे उन्हें मृत्युपर्यन्त अविवाहित रखने के पक्ष में थे।[196] याज्ञवल्क्य[197] संर्क्त[198] और यम[199'] जैसे परवर्ती स्मृतिकार उन संरक्षकों की निन्दा करते हैं, जो रजादर्शन काल तक अपनी कन्या का विवाह नहीं करते थे। कतिपय अन्य स्मृतिकार 7 से 9 वर्ष की अवस्था में ही स्त्री–विवाह कर पुण्य प्राप्ति का लालच देते थे।[200] स्पष्ट है कि वैवाहिक उम्र में निरंतर ह्रास होने के कारण अल्पायु में ही उनका विवाह कर देना सामाजिक आदर्श बनता गया। परिणामतः उनका उपनयन एवं ब्रह्मचर्य धर्म बाधित हुआ

और वे उच्च शिक्षा एवं धार्मिक अधिकारों से क्रमशः वंचित होती गयी यद्यपि गुप्तकाल से पौराणिक धर्म अत्यधिक लोकप्रिय होने के कारण विभिन्न त्योहारों एवं मांगलिक अवसरों पर सम्पन्न होने वाले उपवास, व्रत, दान, पूजा, तीर्थयात्रा आदि धार्मिक कृत्य स्त्रियों से सम्बद्ध कर दिये गये। इस तरह के धार्मिक कृत्य वे सम्पन्न कर सकती थी, क्योंकि इन कृत्यों में वैदिक मंत्रों के उच्चारण की आवश्यकता नहीं थी।

स्मरणीय है कि उनका उपनयन संस्कार प्रतिबंधित हो जाने के कारण ईसा की प्रथम शताब्दी से साधारणतया 8–12 वर्ष की अवस्था में ही उनका विवाह संस्कार सम्पन्न होने लगा। क्योंकि अधिक आयु तक उन्हें अविवाहित रखना पाप समझा जाता था।[201] इस धारणा के पीछे कई कारण थे, प्रथम उनके लिये उपनयन संस्कार का प्रतिबंधित होना। चूंकि, तत्कालीन समाज में अविवाहित स्त्री को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था अतः निर्धारित अवस्था तक उनका विवाह कर देना पारिवारिक धर्म एवं सामाजिक आदर्श बन गया। निःसंदेह इसका प्रभाव स्त्री–शिक्षा पर पड़ा। द्वितीय कारण, विदेशियों का भारत पर आक्रमण एवं उनका प्रसार रहा। जिन्होंने न केवल यहां के प्रदेशों को विजित किया, बल्कि यहां के मूल निवासियों (आर्यों) के साथ वैवाहिक संबंध भी स्थापित किया। चूंकि प्राचीन आर्यों को अपने रक्त पर बड़ा गर्व था, अतः समकालीन व्यवस्थापकों ने रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के साथ ही साथ स्त्रियों के कौमार्य की रक्षा एवं तत्कालीन समाज में बढ़ रहे वर्ण संकरण के प्रभाव को रोकने हेतु अनेक कठोर नियम बनाए। बालविवाह का समर्थन इसी का परिणाम था। अर्न्तवर्णीय एवं अर्न्तजातीय विवाह को रोकने हेतु उन्होंने बाल–विवाह का समर्थन किया। तृतीय कारण, वे स्त्रियां जो उच्च शिक्षा के उद्देश्य से बौद्ध दीक्षा ग्रहण कर संबंधित शिक्षण–केन्द्रों पर जाती थी, लेकिन ब्रह्मचर्य धर्म के सम्यक् पालन में अपने को असमर्थ पाती थी। इसके कारण तत्कालीन समाज में न केवल उनकी निन्दा की जाती थी, बल्कि उन्हें अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाने लगा। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त उन्हें

परिणय सूत्र में बंधने में भी सामाजिक परेशानी उठानी पड़ती थी। विनय पिटक में स्त्रियों के शील भंग होने के अनेकों उदाहरण मिलते हैं।[202] पांचवी शताब्दी के उपरान्त बौद्ध संघ में तांत्रिक विचारधारा का प्रवेश हुआ, जो मैथुन सुख में ही परम आध्यात्मिक आनन्द ढूढ़ते थे। परिणामतः बौद्ध भिक्षुणियों का नैतिक एवं चारित्रिक पतन होना अवश्यंभावी हो गया। अतः वे परिवार, जो अपनी कन्याओं को उच्च–शिक्षा के लिए बौद्ध शिक्षण केन्द्रों पर भेजा करते थे, वे अत्यन्त सजग होने लगे, तथा उनका विवाह रजादर्शन काल में ही करना श्रेष्ठकर समझा जाने लगा जिससे उनके नैतिक एवं चारित्रिक पतन को रोका जा सके। इस प्रकार प्रत्येक स्त्री का विवाह अल्पायु में ही कर देना सामाजिक आदर्श बनता गया। विदित है कि यद्यपि महात्मा बुद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश के पक्ष में नहीं थे, तथापि अपने प्रिय शिष्य आनन्द के विशेष अनुरोध पर उन्होंने प्रवेश की अनुमति दे दी।[203] परिणामतः समाज में उत्तरोत्तर अविवाहित भिक्षुणियों की संख्या बढ़ने लगी। जिसके कारण पूर्व ब्राह्मणों द्वारा स्थापित पारिवारिक मर्यादा एवं सामाजिक आदर्श भंग होने लगा। अतः तीव्र गति से इस प्रवृत्ति को रोकने के उद्देश्य से तत्कालीन स्मृतिकारों ने अल्पायु में ही स्त्री विवाह को बैध ठहराया। तत्कालीन समाज में यह भावना भी व्याप्त होती जा रही थी, कि विवाहित स्त्री की अपेक्षा अविवाहित स्त्री को अधिक जोखिम उठाना पड़ता है। संभवतः इसीलिए उन्हें परिवार में ही सामान्य एवं व्यवहारिक विषयों की शिक्षा प्रदान कर विवाह संस्कार सम्पन्न कर देने की परम्परा चल पड़ी। निःसंदेह इस व्यवस्था के कारण उनकी उच्च शिक्षा प्रभावित एवं बाधित हुई होगी। यद्यपि विभिन्न प्रतिबन्धों के उपरान्त भी अभिजात एवं कुलीन परिवारों की स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्रदत्त किये जाने का उल्लेख मिलता है, लेकिन इसका सम्बन्ध विभिन्न शिल्पों एवं ललित कलाओं जैसे व्यवहारिक विषयों से ही था। यथार्थतः तत्कालीन समाज की बहुसंख्यक स्त्रियां उच्च शिक्षा से वंचित रह जाती

थी और वे विभिन्न विषयों की सामान्य एवं व्यवहारिक दक्षता प्राप्त कर कुशल गृहिणी बन जाने में ही अपनी सार्थकता समझने लगी थी।

सन्दर्भ -

1. ऋग्वेद, 1.117, 5.28.6,2.8.9
2. वही, 1.92.4, 10.71.11
3. वही, 1.17,5.28,8.91,1.39,40,9.81
4. डॉ0 आर0के0 मुखर्जीः हिन्दू सभ्यता
5. श्री वी0जी0 गोयल
6. ऋग्वेद, 8.91, 5–6
7. वही, 1.2.3.6, 2.32.4
8. वही, 1.112.10, 1.116.15
9. अथर्व, 11.5.18
10. शुक्ल यजुर्वेद, 8.1
11. बृह, उप., 4.4.18
12. अथर्व, 11.5.18.1
13. कौशी. ब्रा., 2.9
14. बृह. उप., 2.4, 4.5
15. वही, 3.4.1, 4.5.1, 2.4.3
16. वही, 3.6.8
17. वही, 3.6.1
18. अथर्व, 11.5.18
19. वही, 2.36.1, 11.1.17.27

20. तै.सं.. 5.7

21. आश्व. गृ.सू. 3.4.4

22. तै.सं. 5.7, 6.1, 6.5

    मत्रा, सं. 3.73

23. गोभिल गृ.सू. 3.7.13.2.7

24. आश्व. गृ.सू. 3.8.11

25. गोभिल गृ.सू. 2.1.19.20

26. कात्या. गृ.सू. 23.25

27. आश्व. गृ.सू. 3.4.4

    दृष्ठव्यः स्वामी विवेकानन्द, शिक्षा, रामकृष्ण मठ, नागपुर पृ. 64 इनका विचार है कि वैदिक और औपनिषदिक युग में गार्गी, मैत्रेयी आदि पुण्यस्मृति महिलाओं ने ऋषियों का कथन ले लिया था। किन्तु, जब पुरोहितों ने अन्य जातियों को वेदाध्ययन के अयोग्य ठहराया, उसी समय उन्होंने स्त्रियों को भी अपनें अधिकारों से वंचित कर दिया।

28. महाभाष्य, 4.1.78

29. वही, 6.2.86

30. हारीत संस्कार प्रकाश में उद्रधृत

31. रामायण 7.17

32. महा. अनु. 40, 46.5

33. रामायण, 2.10.15, 4.16.12

34. वही, 5.19.48

35. वही, 1.1.8–9

36. वही 2.1.6–54.

37. वही, 3.73—74

38. महाभारत, 39

39. वही, 3.305—20

40. महाभाष्य, 4.1.14.3.155

41. हार्नर, विमेन अंडर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, द्वितीय अध्याय

42. जातक सं0 301

43. मनु0 2.67, वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारों वैदिको मतः पतिसेवा गुरौर्वासों गृहार्थोग्नि परिक्रिया।

44. वही, 2.56, 9.18 अमन्त्रिका तु कार्थेयं स्त्रीणामावृद शेषतः।
न तथा नास्ति स्त्रीणां क्रिया मंत्रौरिति धर्मे व्यवस्थिति। यम, 1.13

45. पुराण तंत्र, टी.मि. परिभाषा, पृ. 40, बदन्ति केचिन्मुनयः स्त्रीणां शूद्रसमानताम्।

46. मनु, 2.67

47. यम का उद्धरण, संस्कार प्रकाश, पृ. 402—3
पुराकल्पे कुमारीणां मौंजीबंधन मिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा ।।
पिता पितृव्यों भ्राता वा नैमध्यापयेत्परः। स्वगृहे चैव कन्यायाः भैक्षचर्या विधीयत्।
वर्ज़येदजिन चीर जटाधारण्मेव च।।

48. काव्य मीमांसा, पृ. 53 पुरूषवद्योषितोअपि कविभवेयुः श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्रयों महामात्र दुहितरों गणिकाः कौटुम्बिक भार्याश्च शास्त्रप्रहिबुद्धयः कवयश्च।

49. कामसूत्र, 1.3.12

50. वही, 4.1.32

51. वही, पृ0 364, तेषा कलाग्रहणे गंधर्वयशालायाम् संदर्भनयोगाः।

52. हर्षचरित, 4.230, अथ राज्यश्री रवि नृत्यगीतादिषु विद्ग्धासु सखीषु सकलासु कलासु च प्रतिदिननुपचीयमानपरिचया शनैः शनैः अवर्द्धत।

53. गाथा सप्तशती, 1.87.90, 2.2.63, 3.1.91, 4.3.28, 63.74.76

54. काव्यमीमांसा अध्याय 10

55. कर्पूरमंजरी, 1.11

56. मालती माधव, प्रथम अंक, पृ. 22.

57. उत्तररामचरित, अंक 2.

58. टी.सी. दास गुप्ताः पूर्वोक्ति, पृ. 187.

59. अल्तेकरः एजूकेशन इन एन्श्येिन्ट इण्डिया; पृ. 214–15.

60. नलचम्पू

61. चौर पंचाशिका, दिक्षिणात्य पाठानुसारेण, श्लोक 5 एवं 38 तथा पूर्व पीठिका, श्लोक 31.

62. काव्य मीमांसा, पृ. 53

63. केशव चन्द्र मिश्रः चन्देल और उनका राजत्व काल पृ. 194.

64. काव्य मीमांसा, दशम् अध्याय, पृ. 138.

65. कपूर्र मंजरी, 1.11, अल्तेकर, प्रा.भा.शि. पद्धति, पृ. 156–66

66. कादम्बरी, का उल्लेख, अंग्रेजी अनुवाद, पृ. 251

67. पी.सी. दास गुप्ता, पूर्वोक्ति, पृ. 189

68. भोजकृत श्रंगार मंजरी, पृ. 12

69. जे.एल. शास्त्रीः सम्पादक भोज परमार, पृ. 224,293,335,422, प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ. 40–41

70. प्रबन्ध चिन्तामणि पृ. 60

71. नैषध चरितम् 6, श्लोक 63.

72. कर्पूर मंजरी, भाग–1 पृ. 231, भाग–2, पृ. 248

73. क्वार्टली जनरल आफ माइथिक सोसाइटी, वाल्यूम 14, पृ. 11, जुलाई 1954

74. जे.वी. चौधरी, संस्कृत पोयडेस, भाग–1, पृथ्वी राज विषय.

75. कवीन्द्र वाचन–समुच्चय, (सम्पादित थामस), श्लोक 296, 372.

76. गाथा – सप्तशती, श्लोक 1/87, 90,91,93.

77. नदवी : अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ. 122.

78. आर.सी. मजूमदारः ग्रेट वुमेन आफ इण्डिया, कलकत्ता 1920, पृ. 295.

79. ऋग्वेद 1.72.5, 5.32

80. तै. ब्रा., 3.75

81. शत. ब्रा. 5.1.6.10

    तै. ब्रा., 22.2.6

82. अथर्व, 2.36.1, 11.1.17.27, योषितो यज्ञियाः इमाः।

83. रामायण

84. अथर्व, 11.5.18, ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विदन्ते पतिम्।

85. गो. गृ.सू. 3.7.13.2.7

86. पा.गृ.सू. 2.20, स्त्रिश्चोपयजेरम्ना चरित्वात्।

87. आश्व. गृ.सू. 3.8.11

88. गो.गृ.सू. 2.1.19–20

89. आपस्तम्ब गृ.सू. 15.12–13

90. आश्व.गृ.सू. 3–4

91. मनु. 2.66

92. महाभाष्य, 4.1.14, 3.155

93. मनु, 2.67, वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिको मतः।

    पतिसेवा गुरौर्वासो गृहार्थोग्नि परिक्रिया।

94. वही, 2.56, 9.18

95. यम्. 1.13

96. पुराण तंत्र, वी.मि. परिभाषा, पृ. 40,

वदन्ति केचिन्मुनयः स्त्रीणां शूद्रसमानताम।

97. यम का उद्धरण, संस्कार प्रकाश, पृ. 402–3

98. पूर्व मीमांसा, 1.2.2

99. आ.गृ.सू. 23.25

100. ऋग्वेद, 1.35.24

तै. ब्रा. 2.2.2.6

101. बौ. स्मृति सू. 5.9

102. ऋग्वेद, 10.85.42, शतपथ ब्रा., 5.3.1.13, थेरीगाथा, 63

103. ऋग्वेद, 1.66.3, 1.124.4, 3.53.4

अथर्व, 14.2.43

104. शत. ब्रा. 5.1.6.10

तै.ब्रा. 22.2.6

105. अथर्व, 2.36.1, 11.1.17.27

106. शत. ब्रा. 5.2.1.10

107. शत. ब्रा. 1.19.2.14

108. पा.गृ.सू.

109. गो.गृ.सू. 11.5.18

110. अर्थव, 11.5.18

111. गोभिल गृ.सू. 2.1.19–20

112. आश्व. गृ.सू. 3.8.11

113. मनु. 2.67, विवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारों वैदिको मतः।

114. वही, पति सेवा गुरौर्वासौ गृहार्थोग्नि परिष्क्रिया।

115. बृहत् संहिता, 74.5, 5, 11, 15–16

मनु., 9.26

वेद व्यास स्मृति, 2.14

116. ऋग्वेद, 10.85.46

117. वही, 1.72–5, 5.32

118. तै.ब्रा., 3.75

119. शत. ब्रा. 1.19.2.14

120. ऋग्वेद, 10.86.10

121. शत.ब्रा. 5.1.6.10

तै. ब्रा. 22.2.6

122. ऋग्वेद, 1.131–3

123. अथर्व, 2.36.1, 11.1.17.27, योषितों यज्ञियाः इमाः।

124. तै. ब्रा. 3.8.3

125. ऋग्वेद, 3.81, यादम्पति सुमनसा सुनुत आ च धावतः देवा सो नित्यया शिरा।

126. शत. ब्रा. 1.1.4.13

127. ऐत. ब्रा. 1.2.5

शत. ब्रा. 5.1.6.10

128. ऐत. ब्रा. 7.9.10

129. गो.गृ.सू. पत्युर्णो यज्ञसंयोगे।

पाणिनी, 4.1.33

130. पारा. गृ.सू. 3.2

हरिहर की टीका

131. पा.गृ.सू. 2.20, स्त्रियश्चोपयजेरम्ना चरितत्वात्।

132. समा, 2.20.15, सा क्षेमवसना दृष्टानित्यं व्रतपरायणः अग्नि जुहोति स्म तदा मंत्रविस्कृत मंगला।

133. वही, 4.16.12, ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मंत्रविद्विजयैषिणी।

134. वही, 5–15.48, संध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां संध्यार्थ वखर्णिनी।

135. वही 6.12.41

136. वीर, मित्रो, पृ0 402 पर हारीत का वचन।
स्मृति चंद्रिका पृ0 62

137. गो0गृ0सू0, 2.1.21, जै.गृ.सू. 1.20

138. वी0मि0सं0, पृ0 903,
एतादृशव्याख्याने स्त्रीणां तत्द्बलिप्रदानानुकूल विद्या कल्पना स्यात्।

139. पुराण तंत्र, वी0मि0 परिभाषा, 40
यम का उद्धरण, संस्कार प्रकाश, पृ0 402–3

140. ऋग्वेद, 1.92.4, 10.71.11

141. ऋग्वेद

142. वही, 1.17, 5.28, 8.91, 9.81, 1.39, 40

143. वृह., उप., 3.6.1, अनतिपृश्नयां वै देवतामतिपृच्छसि।

144. वही, 2.4, 4.5

145. आश्व. गृ.सू. 3.4.4

146. महाभारत, 3.305–20

147. रामायण, 7.17

148. महाभारत, 4.1.14, 3.155

149. हार्नर, वीमने अंडर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, द्वितीय अध्याय

150. जातक सं., 301

151. गाथासप्तशती, 1.87.90, 2.2.63, 3.1.91, 4.3.28, 63,74, 76, 1.70, 1.86, 4.4

152. शब्दार्थयोः समोगुम्फः पांचाली रीतिरूच्यते। शीलभट्टारिका वाचि....।।

153. सूक्तिनां स्मरकेलीनां कलानां च विलास भूः।

प्रभुदेवी कवी लाटी गतापि हृदि तिष्ठति।

154. सरस्तीव कर्नाटी विजयांका जमत्यसौ।

या वैदर्भगिरां वासः कालिदासादनन्तरम्।।

155. क्र सं0 128 से 132 देखें।

156. काव्य मीमांसा, श्री कृष्णमाचारी की क्लासिकल संस्कृत साहित्य, पृ0 301–3 पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया। कवीनां च क्चोवृत्ति चातुर्येण सुभद्रया।। शारं पा., शीला विज्जामारूलामोरिकाद्याः काव्यं कर्त्तुसंति विज्ञाः स्त्रियोअपि। विद्यां वेत्तुं वादिनो निर्विजेतुं विश्वं वक्तुं यः प्रवीणः स वन्द्यः

157. शंकर दिग्विजय, 8.51

158. नदवी कृतं अरब–भारत संबंध, पृ0 122

159. कर्पूरमंजरी, 1.11

160. ऐसा उद्धरण मिलता है कि भोजन के समय पति ने कहा 'दधिमानय', जिसका अभिप्राय 'दधि' से था, लेकिन उसने भूल वश 'दधिमानय' कह दिया जबकि उसे 'दध्यनाय' कहना चाहिए था। पत्नी ने उसके सम्मान की रक्षा करते हुए उसका अर्थ 'दधिमाआनय' लगाकर दूध ले आयी।

161. काव्यमीमांसा, पृ0 53

162. ऋग्वेद, 8.91.5–6

163. वही, 1.2.3.6, 2.32.4

164. तै.सं., 6.1.6.5, शत.ब्रा. 14.3.1.35

165. महाभारत

166. मत्स्य पु0 2.10.20 वही 131.9

167. विष्णु पु0 2.10.20, वही 5.22.22

168. काव्यमीमांसा, पृ0 53

169. हर्षचरित्, 4.230

170. वात्स्यायन रचित कामसूत्र में 64 कलाओं क़ा उल्लेख मिलता है, 1.3.16

171. पालि साहित्य, भाग 3, पृ0 298 कुसलाहं गहपति कप्पासं कांत तुं वेणिमोलिखितुं सक्वाहं गहपति त्वाच्येन दारके पौसेतुम।

172. कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र, 2.23

173. विष्णु पु0, 24.25 वशि, ध0सू0, कुमारी ऋतुमति त्रीणि वर्षाण्युपासीत्। उदर्ध्वत्रिभ्यो वर्षोभ्यः पति विदेत्तुल्यम्।।

174. मनु0 9.89, काममाम रणातिष्ठेद गृहे कन्यर्तुयत्यपि। न चैनेवां प्रयच्छेतु गुणहीनाय कहिंचित्।।

175. ऋग्वेद, 1.112.10, 1.116.15

176. राजतरंगिणी, 7.905–9, 931, 8.11.37–9

177. इंडियन ऐंटिक्वेटी, भाग 9, पृ0 274, भाग 18, पृ0 37

178. ए0क0, भाग 7, शिमोध, 4, तिथि 1112 ई0

179. महाभारत

180. मनु, 2.67

181. वही, 2.56, 9.18, यम, 1.3

182. पुराणतंत्र, वी.मि. परिभाषा, पृ. 40, यम का उद्धरण, संस्कार प्रकाश, पृ. 402–3

183. पंतजलि रचित महाभाष्य, 4.1.78 औदमेध्यायाध्छात्रा औदमेधा।

184. कामसूत्र, 4.1.32

185. पाणिनि रचित अष्टाध्यायी, 3.822 उपेत्याधीते अस्याः सा उपाध्याया।।

186. महाभाष्य, 6.2.86, छात्रयादयः शालायाम्।

187. उत्तर रामचरित, अंक 2

188. वही, तभ्योअधिगन्तुं निगमान्त शिक्षां वाल्मीकि पार्श्वादिह संचरामि।

189. भवभूति रचित मालती माधव, अंक–1, अयिकिं न वेत्सि यदेकत्र ना विद्यापरिग्रहाय नानादिग्न्तवासिनां साहचर्यमासीत्।

190. हार्नर, वीमेन अंडर प्रिमिटेव, बुद्धिज्म, द्वितीय अध्याय

191. संयुक्त निकाय 1.4.28

192. बृह. उप. 6.4.17

193. अर्थव. 11.5.18,
शुक्ल यजुर्वेद, 8.1

194. शत, ब्रा, 3.24.6

195. वशि, ध0सू0 कुमारी ऋतुमति त्रीणि वर्षाण्युपासीत। उद्ध्र्व त्रिभ्यो वर्षेभ्यः पति विदेत्तुल्यम्। विष्णु. 24–25

196. मनु. 9.89

197. याज्ञ. स्मृति, 1.68

198. संवर्त्त स्मृति, 1.67

199. यम्, 1.22

200. वी0 मि0सं0 में आश्वलायन, कश्यप आदि के वचन।

201. मनु, 9.90.93, याज्ञ. 1.67

202. विनय पिटक, पृ0 537.40

203. चुल्लवग्ग, 10.1.6, अंगुत्तर निकाय, 4, पृ0 278.

* * * * *

उपसंहार

उपसंहार

'शिक्षा' शब्द अंग्रेजी के 'एजूकेशन' के पर्याय के रूप में व्यवहृत है। प्राचीन भारत में यह सर्वप्रथम विद्याभ्यास के अर्थ में प्रयुक्त हुआ, किन्तु आगे चलकर छः वेदांगों में से एक के अभिहित अर्थ में रूढ़ हुआ, जिसमें वेद के स्वर, मात्रा,उच्चारण आदि का निरूपण था। विकास के क्रम में क्रमशः इसका अर्थ व्यापक होता गया और इसके अन्तर्गत लौकिक ज्ञान से लेकर ब्रह्मनिरूपण एवं ब्रह्मानुभूति तक सम्पूर्ण ज्ञान समाहित हुआ, जो मंत्रोपदेष्टा गुरू के द्वारा प्राप्य संभव था।

तैत्तिरीयोपनिषद् (कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद्) की तीन बल्लियों में शिक्षा प्रथम बल्ली है। इसमें शिक्षा के लिए आह्वान्, पाठ – वैभव, विषय – आश्रयों, उद्देश्यों आदि पर विचार किया गया है। बारह अनुवाक् हैं। तृतीय अनुवाक् में प्रार्थना और उपदेशों से आच्छादित महासंहिता के पांच आश्रयों का वर्णन मिलता है, जो लोक विषयक (पृथ्वी, स्वर्ग, आकाश और वायु) ज्योतिविषयक (अग्नि, आदित्य, जल और विद्युत), विद्या विषयक (आचार्य, शिष्य और विद्या), प्रजा और संतानोत्पत्ति विषयक (माता, पिता और प्रजा) तथा आत्मा विषयक (हनु, उत्तराहनु, वाणी और जिह्वा) के रूप में वर्णित है। साथ ही यह भी कहा गया है कि जो इसमें विज्ञ हो जाता है, वह संतान से, पशुओं से, ब्रह्मतेज से, अन्न से और स्वर्गलोक से सम्पन्न हो जाता है।

प्राचीन शिक्षा भारतीय संस्कृति की आधार शिला रही है, जिसका उद्‌देश्य व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना था। वह जहाँ एक ओर सामाजिक उत्तरदायित्वों और मूल्यों का बोध कराती थी, वहीं दूसरी ओर समाज में शांति, समन्वय और वर्ग आकांक्षाओं के शमन का कार्य भी करती थी। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी वर्ण या वर्ग का होता था, उसे अपनी योग्यतानुसार अभिलाषित विषयों की शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था थी। शिक्षा व्यवसायोन्मुख होने के कारण शिक्षा समाप्ति के उपरान्त स्नातकों के

समक्ष आजीविका की समस्या नहीं रहती थी। आज बहुसंख्यक वर्ग को जो शिक्षा दी जा रही है, उसका उद्देश्य अस्पष्ट है। जो व्यक्ति जितना अधिक शिक्षित है, वह उतना ही अधिक परेशान और तनावग्रस्त है, क्योंकि वर्तमान शिक्षा अर्थप्रधान होने के कारण अपने मूल उद्देश्यों से विचलित हो चुकी है। अतः छात्रों का सर्वांगीण विकास नहीं हो पा रहा है। शिक्षाविदों की यह मान्यता रही है कि शिक्षा से समस्त विकारों का नाश होता है और समाज में शान्ति एवं अमन चैन का वातावरण उपलब्ध होता है। लेकिन, आज जो देश जितना अधिक शिक्षित है वह उतना ही अधिक परेशान एवं तनावग्रस्त है, क्योंकि वर्तमान शिक्षा चारित्रिक एवं नैतिक मूल्यों का उत्थान कर पाने में असफल सिद्ध हो रही है। महज वाह्य, शुचिता का विकास होने के कारण व्यक्तिवादी चिन्तन के आवरण से संवेदनहीन महत्वाकांक्षा का जन्म हो रहा है जिसकी पूर्ति हेतु कोई भी कदम उठाना वैधता प्राप्त कर ले रहा है। इस व्यवस्था से न तो व्यक्ति और न समाज का ही भला हो सकता है। इसके लिए शिक्षा दोषी नहीं है, बल्कि शिक्षा का निहित उद्देश्य एवं उसकी पद्धति का दोषपूर्ण होना है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा को अपनी सांस्कृतिक परम्परा, नैतिकता और शाश्वत मूल्यों से जोड़ा जाय, जो प्राचीन शिक्षा पद्धति की विशेषता थी, तभी वर्तमान शिक्षा अपने मूल उद्देश्यों एवं निहित आदर्शों में सफल हो पायेगी। डॉ सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में भारत सरकार द्वारा नियुक्त "भावनात्मक एकता समिति" के प्रतिवेदन में कहा गया है कि शिक्षा दार्शनिक मान्यताओं का योग है जो शिक्षार्थी के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने में शिक्षण को प्रभावी बनाते हैं, अन्यथा शिक्षार्थी विद्यालय अथवा कालेज छोड़ने के पश्चात् जीवन–सागर में बिना पतवार की नौका की भांति शिक्षा का संवेदनहीन भार ढ़ोता हुआ अपने को पायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन में कहा गया है कि प्रत्येक देश की शिक्षा व्यवस्था वहां की राष्ट्रीय चेतना, संस्कृति एवं परम्पराओं की सर्वोच्च

अभिव्यक्ति होती है। निःसंदेह प्राचीन शिक्षा पद्धति की यह विशेषता थी, जिसका अभाव वर्तमान शिक्षा पद्धति में परिलक्षित होता है।

प्राचीन शिक्षा की सार्थकता इस बात में निहित थी कि उससे मनुष्य का सर्वांगीण विकास हो। इसके अन्तर्गत मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, नैतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक एवं लौकिक शक्तियाँ सम्मिलित थी। ऐसी मान्यता थी कि इसके कारण मानव स्वाभाव में परिवर्तन होता है और वह श्रेष्ठ बन जाता है। इस प्रकार शिक्षा अर्न्तज्योति एवं शक्ति की स्रोत मानी गयी थी। स्वामी विवेकानन्द का विचार है कि मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है। वह प्रकाशित न होकर ढका रहता है और जब आवरण धीरे – धीरे हट जाता है, तो हम कहते है कि हम सीख रहे हैं। जैसे – जैसे अनावरण की क्रिया बढ़ती है, हमारे ज्ञान में बृद्धि होती जाती है। यह कार्य गुरू के सान्निध्य से ही संभव होता है। शिक्षाविद् इस चिंतन से भली भांति परिचित थे और इसीलिए उन्होंने आत्ममंथन और आत्मचिंतन के द्वारा आन्तरिक शुचिता पर विशेष बल दिया था तथा समस्त विकारों को दूर करने के लिए प्रायश्चित की व्यवस्था दी थी। यह मान्यता थी कि शिक्षा के माध्यम से ज्ञान और प्रकाश बल, शिक्षक और शिक्षार्थी के साथ – साथ सम्पूर्ण समाज को आलोकित करता है। महाभारत में उल्लिखित वाक्यांश "नास्ति विद्या समचक्षु" से ज्ञानार्जन का महत्व रेखांकित होता है। इस प्रकार वह न केवल व्यक्ति के जीविकोपार्जन में सहायक बनती है, बल्कि उसको धन के साथ – साथ कीर्ति और यश से भी समृद्ध करती है। वह मनुष्य में सदाचार नैतिकता, सात्विकता, मानवता आदि गुणों का विकास कर यह सिखाती है कि वह सर्वदा अपने पूर्वजों, गुरूजनों एवं अग्रजों का आदर करे, सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति आस्था रखे, विवेक का त्याग न करे, अनुशासन का पालन करे, कर्तव्यनिष्ठ और ईमानदार बने, धर्म का आचरण करे और सत्य का अनुसरण करे। शिक्षार्थी का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह किन्हीं प्रलोभनों

में न फंसकर जीवनपर्यन्त शिक्षा प्राप्त करता रहे और सुशिक्षित होकर दूसरे शिक्षाभिलाषियों को शिक्षित करने हेतु प्रयत्नशील रहे। प्राचीन शिक्षाविदों की यह मान्यता रही है कि ज्ञान, वितरण से न केवल वह बढ़ता है, बल्कि वह परिपक्व और तार्किक भी बनता है। इसीलिए धन दान की अपेक्षा विद्या दान को सर्वश्रेष्ठ माना गया था।

शिक्षा ''ऊँ'' शब्द के उच्चारण से प्रारम्भ होकर ''गायत्री'' मंत्र के स्मरणोपरान्त अन्य विषय की ओर उन्मुख होती थी। ऐसी मान्यता थी कि मंत्र का शुद्ध उच्चारण करने वाला, जहां मंत्र से होने वाले पुण्यों से लाभान्वित होता है वही अशुद्ध उच्चारण करने वाला दैव कोप का भागी बनता है। इससे छात्रों का उच्चारण दोष दूर होता था तथा सुन्दर शब्द चयन से भाषा परिष्कृत होती थी। समस्त वेदों का ज्ञाता होने के साथ–साथ शिक्षक और शिक्षार्थी का चरित्रवान होना आवश्यक था। उच्च चरित्र के बिना वे आदर के पात्र नहीं हो सकते थे। नैतिक मूल्यों से युक्त भावना के विकास पर विशेष बल दिया जाता था, जिससे पाशविक वृत्तियों पर अंकुश लग सके तथा वे लौकिक एवं पारलौकिक कर्त्तव्यों का सम्यक् निष्पादन करने योग्य बन सके। यह दृढ़ निश्चय, आत्म संयम्, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास के होने पर ही संभव था। अतः इन गुणों की प्राप्ति हेतु शिक्षक और शिक्षार्थी दोनो सदैव सजग रहते थे। शिक्षा के द्वारा अंतः करण की शुचिता पर विशेष बल दिया जाता था। इससे छात्रों का आत्मबल मजबूत और उनका चारित्रिक विकास होता था। समस्त विकारों के शोधन हेतु प्रायश्चित जनित मनोवैज्ञानिक उपचार की व्यवस्था थी। इसके अन्तर्गत सामाजिक बहिष्कार एवं भावनात्मक उद्दीपन सम्मिलित था। ईश्वर भक्ति, धार्मिक भावना, चरित्र – निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्य का पालन, सामाजिक कुशलता की उन्नति तथा राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण और संवर्द्धन शिक्षा के उद्देश्य थे। शिक्षित और ज्ञानवान व्यक्ति अपने – अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का सम्यक्

एवं निष्ठापूर्वक निर्वहन करते थे। समाज वर्णाश्रम धर्म के अनुसार विभक्त था। सभी वर्ण एवं जातियों के कर्तव्य निर्धारित थे, जिन्हें निष्पादित करना उनका धर्म समझा जाता था। यद्यपि इस तरह के दृष्टांत भी मिलते हैं कि अन्य वर्ण के सदस्यों ने आपद्काल में अपने वर्णगत् कर्म को त्यागकर दूसरे वर्णों के कर्म को आत्मसात् किया था, जैसे क्षत्रियों ने ब्राह्मणों के, ब्राह्मणों ने क्षत्रियों के, वैश्यों ने शूद्रों के और शूद्रों ने वैश्यों के।

"संस्कार" शिक्षा का मूलाधार था जिसके द्वारा शिक्षार्थी का शारीरिक मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता था। शिक्षा प्रारम्भ होने से पूर्व प्रत्येक ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार होना आवश्यक था तथा समावर्तन संस्कार के साथ उसका समापन होता था। बौद्ध शिक्षा प्राप्त करने हेतु उपासकों को प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षा से गुजरना पड़ता था। ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करना प्रत्येक ब्रह्मचारी का प्राथमिक कर्तव्य एवं भिक्षाटन के द्वारा जीवन यापन करना उसका अनिवार्य धर्म होता था। चूंकि, ब्रह्मचर्य धर्म का सम्यक् पालन ही गृहस्थ जीवन की सफलता का आधार बनता है। अतः गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने से पूर्व उनके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु ब्रह्मचर्य धर्म का पालन अनिवार्य था। इससे उनमें सात्विकता, सहजता एवं मानवीय गुणों का समावेश होता था। इस प्रकार भौतिक तत्व का आध्यात्मिक सत्ता में उत्कर्षण ब्रह्मचर्य के द्वारा ही संभव था। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार पूर्ण ब्रह्मचर्य से प्रबल बौद्धिक एवं आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होती है। प्राचीन विद्वानों की यह शैली रही है कि जो नियम या सिद्धान्त जीवन के लिये हितकर होता था, उसे जनसामान्य में मान्य बनाने के लिये उसका धार्मिक रूपान्तरण कर दिया जाता था। धार्मिक एवं कर्मकाण्डीय व्यवस्था के कारण शिक्षक और शिक्षार्थी मनोवैज्ञानिक रूप से अपने – अपने कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान बने रहते थे। सामाजिक उत्तरदायित्वों का सम्यक् बोध होने से वे आदर्श समाज के निर्माण में योगदान देते थे। जो ब्रह्मचारी

समावर्तन तक नियमित अग्नि की सेवा, भिक्षाटन, पृथ्वी पर शयन, गुरू की सेवा और उनका हित करता था, वही श्रेष्ठ ब्रह्मचारी माना जाता था। राजा के पुत्र से लेकर निर्धन छात्र तक सभी ब्रह्मचारी भिक्षाटन के लिये नित्य जाते थे। गृहिणी माताएं ब्रह्मचारियों की प्रतीक्षा करती रहती थी, क्योंकि उनके हृदय में यह भाव रहता था कि हमारा पुत्र भी इस प्रकार किसी अन्य गृहिणी से भिक्षा की याचना कर रहा होगा। निःसन्देह इस व्यवस्था के कारण मानवीय संवेदना के विकास को बल मिलता था तथा उनमें पवित्र भावना विकसित होती थी। जबकि आज की शिक्षा प्रत्येक शिक्षार्थी एवं समाज को भाव शून्यता की स्थिति में लाकर खड़ा कर देती है।

भिक्षाटन की परम्परा से सभी छात्रों को संयम् और विनय की शिक्षा मिलती थी वे विनीत भाव से जीवन के हर क्षेत्र का व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त कर स्वस्थ समाज के निर्माण में योगदान देते थे। चूंकि, भिक्षाटन सभी शिक्षार्थियों का अनिवार्य धर्म माना गया था। अतः इस व्यवस्था के कारण किसी भी छात्र में कुलीनता के कारण अहंकार और निर्धनता के कारण कुण्ठा का भाव जागृत नहीं होता था तथा निर्धनता शिक्षा प्राप्ति में बाधक नहीं बनती थी। इस प्रकार सभी शिक्षार्थी अभिलाषित विषयों की सम्यक् शिक्षा प्राप्त करते थे, किन्तु उत्तरकालीन शिक्षा में जब अर्थ की प्रधानता बढ़ी और भेद – भाव की नींव पड़ी तब छात्रों का व्यवहारिक ज्ञान, आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन की प्रक्रिया बाधित हुई और अर्थ लोलुप समाज का निर्माण होने से मानवीय मूल्यों का क्षय होने लगा। वर्तमान शिक्षा प्रणाली के अर्थ प्रधान होने के कारण सामाजिक नैतिकता का लोप एवं मानवीय संवेदना का क्षय हो रहा है। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा को मानवीय एवं नैतिक मूल्य से जोड़ा जाय तथा अर्थ प्रधान शिक्षा को हतोत्साहित किया जाय।

गुरूकुलीय जीवन तथा गुरू और शिष्य का सम्बन्ध इतना उदात्त और आदर्शपूर्ण होता था कि उस जीवन पद्धति में पलने वाले सभी छात्र अत्यन्त तेजस्वी, विद्यावान,

बुद्धिमान, चरित्रवान और नैतिक मूल्यों से युक्त होते थे। शिक्षा साधारणतया निःशुल्क दी जाती थी। अतः जो आचार्य धन की अभिलाषा में शिक्षा वितरित करते थे, वे सामाजिक तिरस्कार के पात्र होते थे। सभी को शिक्षा प्रदान करना आचार्य का धर्म माना जाता था। शिष्य, गुरू के आश्रम में 'समित्पाणि' होकर (हाथ में समिधा लेकर) जाता था और गुरू उसकी योग्यता का निश्चय करने के उपरान्त उसके कटिप्रदेश में तीन लड़ी वाली मुंज–मेखला बांधकर उसकी शिक्षा प्रारम्भ करते थे। यह मेखला तन, मन और वचन को वश में रखने वाली प्रतिज्ञा चिन्ह थी। शिक्षा का सर्वोत्तम परिणाम तभी लक्षित होता था, जब शिक्षार्थी में ज्ञान प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा उत्पन्न हो, अन्यथा ज्ञान, समय और श्रम तीनों व्यर्थ समझे जाते थे। अभिलाषा को जागृत करने एवं उसको तीव्र करने में आचार्यो की विशेष भूमिका होती थी। गुरूकुलवासी को 'अन्तेवासी' कहा जाता था, जिसका शाब्दिक अर्थ है "आचार्य के सान्निध्य में रहने वाला" प्राचीन शिक्षालय गांव या नगर से कतिपय दूरस्थ स्थानों पर होते थे, लेकिन इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि वहां का वातावरण एकांत और शांतचित हो। प्राचीन गुरूकुलीय शिक्षा–पद्धति का समर्थन करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है कि शिक्षा के लिए आज भी हमें जंगलों और वनों की आवश्यकता है। गुरूकुल भी अवश्य होने चाहिए। समय के साथ स्थितियां चाहे कितनी ही परिवर्तित क्यों न हो जाय? परन्तु, प्राचीन शिक्षा प्रणाली के लाभदायक सिद्ध होने में कदापि अन्तर नहीं पड़ सकता, क्योंकि यह नियम मनुष्य के चरित्र के अमर सत्य पर निर्भर है। प्रकृति के अनुसार, अति साधारण जीवन व्यतीत करना ही सभ्यता है। धरती पर बैठने की शक्ति, मोटा खाने और पहनने की शक्ति ये साधारण शक्तियां नहीं है। कुलीन छात्रों को ये शक्तियां बिना अभ्यास के प्राप्त नहीं हो सकती (शिक्षा पृ0 18–22)। निःसंदेह सादगी पूर्ण जीवन जीने की शक्ति विकसित करने में आज की शिक्षा पद्धति पूर्णतः असफल है, जिसके कारण तमाम सामाजिक विकार और मानवीय कुंठा का जन्म हो रहा है।

इस प्रकार ज्ञान वितरण की तीव्र उत्कंठा और ज्ञान प्राप्ति की उत्कृष्ट अभिलाषा ही शिक्षक और शिक्षार्थी के दोहरे संपात्त थे। शिक्षा के प्राचीन प्रतिमानों के समक्ष वर्तमान शिक्षा को क्रीत–शिक्षा ही कहा जा सकेगा, जिसका धर्म व्यवसायिक एवं उद्‌देश्य मूल्यच्युत हो चुका है। कारण, आज की शिक्षा नितान्त एकांगी, भौतिक आकर्षणों से आच्छादित, आत्मशून्य वस्तुनिष्ठ, सूचनापरक एवं उपकरणयुक्त हो चुकी है, जहाँ मनुष्य के मस्तिष्क का यांत्रिक विकास तो हो रहा है, किन्तु अन्य महत्वपूर्ण कोमल अंग अवयव कटते जा रहे हैं। शिक्षा में फैलती उपभोक्तावादी संस्कृति, साक्षर होकर रोजगार पाने की उत्कंठा, शिक्षण संस्थाओं द्वारा महज उपाधियां वितरित करने की प्रवृत्ति आदि ने शैक्षिक वातावरण को अराजक बना दिया है। वस्तुतः शिक्षा अपने निहित उद्‌देश्यों से भटक सी गई हैं।

शिक्षक का यह धर्म होता था कि वह जिज्ञासु शिक्षार्थियों को अभिलाषित विषयों की वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करे तथा अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं की सम्यक् जानकारी उन्हें दे। इसका अभाव वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में परिलक्षित होता है। आज शिक्षार्थियों की जिज्ञासा दमित होने के कारण उनका स्वतंत्र चिंतन बाधित हो रहा है, अतः आवश्यकता इस कमी को दूर करने की है।

जो राष्ट्र अपनी सांस्कृतिक परम्परा का संरक्षण और संबर्द्धन नहीं करता, वह शिक्षित कहलाने का अधिकारी नहीं होता। वैदिक साहित्य एवं संस्कृति के संरक्षण का उत्तरदायित्व समस्त आर्य जाति पर था। सांस्कृतिक जीवन के उन्नयन हेतु त्रिॠण से मुक्ति की अनिवार्यता समझी जाती थी। उत्तरकाल में जब जनसामान्य के लिये वेद, भाषा और दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को समझ पाना दुष्कर होता गया, तो उनमें राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्पराओं का बोध कराने हेतु नये साहित्य का विकास हुआ, जिसे 'पुराण' कहा गया। इसी क्रम में बौद्ध विहार उच्चादर्शों के साथ विभिन्न विषयों की शिक्षा प्रदान करने वाले प्रमुख केन्द्र के रूप में स्थापित हुए। जैन शिक्षा जन सामान्य में नैतिकता

एवं शुचिता के उद्देश्यों और उत्कृष्ट गुणों के प्रसार की भावना को लेकर प्रकट हुई। यह प्रवाह कमोवेश मुगल एवं ब्रिटिश काल तक बना रहा, किन्तु आधुनिक काल तक आते – आते प्राचीन शिक्षा के सभी मापदंड प्रायः विलुप्त से हो गये हैं।

प्राचीन शिक्षाविदों का यह मंत था कि बालक पर उन संस्कारों का प्रभाव अधिक व्यापक होता है, जो गर्भाधान के समय जननी से उसे प्राप्त होता है। इसलिए जननी को गर्भकाल में महापुरूषों के जीवन का अध्ययन और मनन करने का उपदेश दिया जाता था, जिससे ऐसी संतान उत्पन्न हो, जो अपने चरित्र एवं व्यक्तित्व के प्रकाश से कुल जाति के गौरव को बढ़ाने के साथ–साथ योग्य उत्तराधिकारी भी सिद्ध हो। आधुनिक मनोवैज्ञानिक और मनोचिकित्सक द्वारा भी इस प्रकार के परामर्श मातृत्व–इच्छुक एवं गर्भवती महिलाओं को दिए जाते हैं। किन्तु दृश्य मीडिया, कम्प्यूटर एवं अन्य संचार माध्यमों के प्रभाव में विकसित आधुनिकता कदाचित् ही ऐसे परामर्श पर ध्यान देती हैं। समाज में चरित्र ह्रास एक व्यक्तित्व शून्यता का, जो परिदृश्य आज सामने है, वह समाज में शिक्षा के मूल्यों के प्रति विद्यमान उपेक्षा एवं उदासीनता के कारण ही है। नैतिकता के मूल्य पर स्वार्थपूर्ति हेतु अपनाये जा रहे परिवारवाद, वंशवाद, भाई–भतीजावाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, वर्ण वैमनस्य आदि सामाजिक जागरूकता को कम एवं अशिक्षा को अधिक रेखांकित करते हैं।

प्राचीन भारत में शिक्षण – संस्थाओं का जन्म अपेक्षाकृत विलम्ब से होने के कारण इस दायित्व का निर्वहन शिक्षक वर्ग को ही करना पड़ता था। अपने उत्तरदायित्वों का सम्यक् निर्वहन वे उसी प्रकार करते थे, जिस प्रकार सूर्य बिना किसी अपेक्षा के प्रकाश प्रदत्त करता है और सरिता जल वितरित करती है। ऐसी मान्यता थी कि शरीर तो छात्र को अपने माता पिता से प्राप्त होता है, पर उसका बौद्धिक, आत्मिक एवं आध्यात्मिक विकास गुरू के द्वारा ही संभव है। गुरू के सान्निध्य एवं आशीर्वाद के बिना ज्ञान की पूर्णता संभव नहीं थी, क्योंकि गुरू ही उसे समस्त शंकाओं और संशयों

से मुक्त कर वैज्ञानिक बुद्धि विकसित करता था, जो पुस्तकीय ज्ञान से संभव नहीं था। प्राचीन शास्त्रों में गुरू को देवता सदृश्य मानकर पूजा करने का दृष्टान्त मिलता है। "आचार्य देवोभवः" वाले इस देश में आचार्य को 'तीर्थ' भी कहा जाता था। वैदिक साहित्य में उसे 'मृत्यु' नाम भी दिया गया है। "आचार्यो मृत्यु" (ऋग्वेद–ब्रह्मसूक्त) अर्थात गुरू के सामने शिष्य को मिटना होता था। इस प्रकार शिक्षक समाज का आदर्श होता था।

प्राचीन शिक्षक मिथ्या प्रदर्शन में विश्वास नहीं करते थे। अपनी स्पष्टवादी प्रवृत्तियों के कारण उन्हीं विषयों पर व्याख्यान देते थे, जिन पर वे दक्ष होते थे। सुपथ से आयी हुई सम्पत्ति के विनियोग में ही वे विश्वास करते थे। गुरूओं की यह महान परम्परा हमारे देश में स्वतंत्रता के कुछ समय पहले तक विद्यमान रही है। किन्तु कालान्तर में पाश्चात्य शिक्षा–पद्धति का अनुसरण करते हुए हम यह मानने लगे कि अध्यापक वह है जो अध्यापकी के लिये नियुक्त हो गया है। भले ही वह अपने अन्तर्मन से यह अनुभव नहीं करता कि वह किसी नैतिक दायित्व के प्रति समर्पित है।

स्वतंत्रता से पूर्व कतिपय स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में ऐसे शिक्षक उपलब्ध थे जो अपनी पीढ़ी के आदर्श होते थे। उनके आचरण, चरित्र एवं विद्वता से तत्कालीन समाज लाभान्वित होता था। आज का शिक्षक भोगवादी संस्कृति का दास बनकर सब कुछ करने को विवश है। व्यवस्था की कमजोरियाँ, संक्रमित चरित्रहीनता, राजनीति का प्रवेश, शैक्षणिक अयोग्यताएं, अति महत्वाकांक्षा का होना, दूर्दमनीय धन लिप्सा आदि इसके कारक हैं। छात्र भी इसके लिए दोषी है जो शिक्षा के महत्व को नकार रहे हैं। आचरण, चरित्र एवं व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास से शिक्षा का कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। प्रदत्त ज्ञान किसी भी छात्र के व्यक्तित्व में परिलक्षित नहीं हो रहा है। जीवन में अप्राकृतिक तत्वों का समावेश होने के कारण रिश्ते खण्डित हो रहे हैं और परिवार की अस्मिता धूमिल होती जा रही है। इस प्रकार आज की लक्ष्यविहीन,

एकांगी और उपभोक्तावादी शिक्षा निश्चय ही समाज को खोखला कर रही है। जब तक शिक्षा के वास्तविक महत्व को नहीं समझा जायेगा, तब तक शिक्षा नैतिक मूल्यों के ह्रास को रोकने में असमर्थ रहेगी। कार्य एवं व्यवहार में दूरियां बढ़ती जायेंगी तथा मानवीय मूल्यों से युक्त आदर्श समाज का निर्माण दिवास्वप्न बनकर रह जायेगा। अतः आज आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा की सही व्याख्या हो उसकी पवित्रता, उपयोगिता एवं गंभीरता को समझा जाय, सिद्धान्त एवं व्यवहार का अन्तर खत्म हो, प्रतिभा को यथोचित सम्मान मिले, शिक्षा और संस्कृति का अन्तर्पूरकता कायम हो, मानवीयता, संवेदनशीलता, साहचर्य, कर्तव्यबोध, नैतिकता, आदि मूल्यों से अनुप्राणित हो।

आज ऐसे भी शिक्षक हैं, जो अल्पज्ञानी होने के साथ – साथ अध्यापन कार्य से भी जी चुराते हैं। कई पढ़ाते हैं पर पढ़ाने की उस कला को नहीं जानते, जिसमें मुख से निकला एक – एक शब्द रस की बूंद बन जाता है या उनकी वाणी अनुभूति की उस लौ से नहीं उठती, जो जीवन को तपाती हो। आज हमारे देश में जिस उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हो रहा है, उसमें अमानवीय कुछ भी नहीं हैं। शिक्षक स्वयं उसका अंग बन चुका है, ऐसी स्थिति में शिक्षक समाज का आदर्श नहीं बन पा रहा है, जबकि प्राचीन भारत में शिक्षक स्वयं में एक आदर्श होता था। यह सच है कि वर्तमान में शैक्षिक आदर्शों का क्षय हो रहा है। लेकिन, शिक्षक की अनिवार्यता सदैव बनी रहेगी। संचार माध्यमों, कम्प्यूटरों, पत्राचार द्वारा दूरवर्ती शिक्षा संस्थाओं की भूमिका बढ़ने के बाद भी शिक्षक की महत्ता कम नहीं हुई, क्योंकि ये संस्थान उपाधियां तो प्रदान कर सकते हैं, लेकिन मानवीय मूल्यों के विकास में असफल ही रहेंगे। ऐसे में गुरू के बिना कोई भी ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकता। शिक्षा के लिए सामूहिकता का भाव, शिक्षक और छात्र की उपस्थिति, दोनों का पारस्परिक पुनर्निवेश (फीड बैक) आवश्यक होता है। दृष्टि–सम्पर्क क्रिया–प्रतिक्रिया का मुख्य अंग होता है। श्रवण के लिए देखना आवश्यक क्रिया मानी जाती है। शिक्षक को देखते और सुनते रहना दोनों में सान्निध्य,

स्नेह, समर्पण और प्रभाव का सम्बन्ध सूत्र निर्मित करता है। इसकी रिक्तता और शून्यता को वर्तमान शिक्षा में महससू किया जा सकता है। कक्षाओं में सिमटती दूरी शिक्षा को कई रूपों में सार्थक बनाती है। उसे मंत्र–तंत्र के सहारे छोड़कर आदर्श समाज की परिकल्पना बेमानी होगा। निरन्तर हो रहे शैक्षिक ह्रास को रोकने एवं उसे जीवनोपयोगी, आदर्शात्मक तथा संवेदनायुक्त बनाने के लिए वैचारिक प्रयासों की आवश्यकता है। यदि शिक्षा महज पेट भरना सिखाती रही और मनुष्यता से असंपृक्त बनी रही तो निश्चित है कि सामाजिक पुनर्निमाण और सामाजिक परिवर्तन के प्रत्यय एक दिन मृतप्राय हो जायेंगे तथा मानवीय संवेदनाओं के क्षरण को रोक पाना असम्भव होगा।

वर्तमान व्यवस्था की भांति प्राचीनकाल में शिक्षा विभाग का अस्तित्व नहीं था, न अध्यापकों का वेतनक्रम ही निर्धारित था। भिक्षाटन से प्राप्त अन्न तथा दान–दक्षिणा से प्राप्त धन ही आचार्य की जीविका के साधन थे। यह चिन्ता समाज को रहती थी कि कोई भी विद्वान भूखा न रहे। हर शिक्षक की व्यक्तिगत कामना होती थी कि ज्यादा से ज्यादा शिष्य, योग्य बनकर उसके सान्निध्य से निकले तथा उनका यश फैलाकर आदर्श समाज के निर्माण में योगदान दे। प्रत्येक शिक्षार्थी का यह कर्तव्य होता था कि वह नियमित रूप से भिक्षाटन करे और जो कुछ भी उसे मिले, वह गुरू की सेवा में अर्पित कर दे। प्रत्येक गृहस्थ का भी यह धर्म होता था कि वह प्रत्येक शिक्षार्थी को भिक्षा प्रदान करे। भिक्षाटन की परम्परा के कारण प्रत्येक शिक्षार्थी के छात्र जीवन में ही सामाजिक दायित्व एवं सामाजिकता की भावना का विकास होता था। अर्थ की समस्या के कारण कोई भी जिज्ञासु, लगनशील और प्रतिभावान छात्र शिक्षा से वंचित नहीं होता था। इस व्यवस्था के कारण हर प्रकार की योग्य प्रतिभाएं सामने आती थी और समाज उनके ज्ञान से लाभान्वित होता था। उस समय एक सामान्य शिष्टाचार था कि यदि राजा और ब्रह्मचारी दोनों आमने–सामने चले आ रहे हो तो राजा ही हटकर ब्रह्मचारी

को मार्ग देता था (लज्जाराम तोमर, भा0शि0 के मूल तत्व, पृ0 27.2)। इससे शिक्षा का महत्व उजागर होता है।

शिक्षार्थी प्रायः ब्रह्ममुहूर्त में जग जाते थे और अपनी नित्यक्रिया से निवृत्त होकर, स्नान, व्यायाम, प्राणायाम तथा ध्यान आदि के उपरान्त शिक्षा प्राप्ति हेतु जाते थे। तदुपरान्त भोजन और अल्प विश्रामोपरान्त पुनः विद्याध्ययन में लग जाते थे। शाम तक यह दिन चर्या अनवरत् चलती रहती थी। सदाचार और शिष्टाचार के साथ गुरूकुल के नियमों का पालन करना, समय से उठकर आचार्य का अभिवादन करना, नीचे के आसन पर बैठना, भड़कीले वस्त्र से दूर रहना, असत्य एवं अपशब्द सम्भाषण से परहेज करना, चुगलखोरी, निन्दा आदि दुर्गुणों से अपने को दूर रखते हुए इन्द्रिय–निग्रह पर बल देना शिक्षार्थी का धर्म होता था। अपने आचार्यों के लिये जल–दातून और आसनादि सुलभ करना भी उनका परम कर्तव्य होता था। इस प्रकार गुरु के सान्निध्य में रहकर सर्वदा उनके हित की चिन्ता करने वाले शिक्षार्थियों को ही अभीष्ट विद्या की प्राप्ति संभव थी। आचार्य भी अपने छात्रों के हित–लाभ के लिये सर्वदा चिन्तित रहते थे। उनका पठन–पाठन बाधित न हो इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था। शिक्षा का संवहन विद्यारंभ, उपनयन, श्रावणी, उत्सर्जन, समावर्तन, यज्ञोपवीत, प्रब्रज्या एवं उपसम्पदा की दीक्षा आदि संस्कारों के प्रवाह में होता था। प्रायः 5 वर्ष की अवस्था से शिक्षार्थी का ब्रह्मचर्य जीवन प्रारम्भ होता था और गुरू के सान्निध्य में रहकर वे अभीष्ट विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा की समाप्ति के उपरान्त वर्तमान दीक्षान्त की भांति एक समारोह सम्पन्न होता था, जिसे समावर्तन संस्कार कहा जाता था। इसके अन्तर्गत आचार्य शिक्षार्थी को अष्टोपदेश देते थे तथा भाषण के अन्त में निम्न परामर्श देते थे– ''यदि तुमको कर्तव्य निर्णय में किसी प्रकार की शंका हो या सदाचार के विषय में कोई संदेह उठ खड़ा हो, तो जैसा उत्तम विचार वाले धार्मिक पुरूष व्यवहार करते हो, तुम उनका ही अनुसरण करना। यदि किसी दोष से लांछित पुरूष के साथ काम करना पड़

जाय, तो भी ऐसा ही व्यवहार करना, जैसा उत्तम विचार वाले धार्मिक पुरूष करते हैं–यही शास्त्र की आज्ञा है, गुरूजनों का आदेश है, वेदों का रहस्य है, परम्परागत शिक्षा है–'तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षा वल्ली, एकादश अनुवाक्'' बौद्ध शिक्षा प्रारम्भ करने से पूर्व प्रव्रज्या की दीक्षा आवश्यक थी। शिक्षा समाप्ति के उपरान्त उपसम्पदा की दीक्षा दी जाती थी। आत्मसंयम, अनुशासन, सदाचार, शिष्टता मर्यादा एवं ब्रह्मचर्य धर्म का सम्यक् पालन आवश्यक था।

उपनयन एवं प्रव्रज्या संस्कार ब्रह्मचर्य की मर्यादा, शिष्टता और आत्मसंयम को अपने अंदर समाहित किए हुए था, जिन पर गृहस्थ जीवन की सफलता निर्भर थी। स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन और पवित्र भावना का संतुलित विकास ब्रह्मचर्य धर्म के सम्यक् पालन से ही संभव था, जो गृहस्थ जीवन की सफलता के लिए आवश्यक था। अतः प्राचीन स्नातकों के दाम्पत्य जीवन में कुंठा एवं तनाव कलेश मात्र का भी स्थान नहीं था। वे प्रत्येक क्षण बड़ी ईमानदारी से जीते थे और यही उनकी सफलता का मूलाधार था। आज छात्र जीवन में ब्रह्मचर्य की रक्षा न हो पाने के कारण दाम्पत्य जीवन की मर्यादा असफल सिद्ध हो रही है। बहुतायत परिवार कुंठित एवं तनावग्रस्त है और कौटुम्बिक अस्मिता अपने अस्तित्व के लिये जूझ रही है। गार्हस्थिक संवेदनाओं का निरन्तर क्षय होता जा रहा है और रिश्तों के स्नेहिल पक्ष सूखते जा रहे हैं। मर्यादित स्नेह की जगह शंकायुक्त भोग का वर्चस्व स्थापित होता जा रहा है, औपचारिकाताएं प्रभावी है, और परम्पराएं तर्क का विषय बनकर रह गयी है।

प्राचीन शिक्षा–पद्धति में गुरू–शिष्य के मध्य पिता – पुत्र के आदर एवं वात्सल्य भाव की प्रमुदित अनुभूति अनुपम थी। वैदिककाल से पांचवी शताब्दी तक यह स्नेहानुभूति अक्षुण्ण बनी रही। वैदिक काल में गुरूपिता, गुरूमाता, और गुरू भाईयों का एक अनुशासित एवं मर्यादित कुल निर्मित हो जाया करता था, जिसमें एक शिष्य से दूसरे शिष्य के बीच पारस्परिक बंधुत्व, मैत्री एवं सहानुभूति की अद्भुत भावना विकसित

होती थी। ब्रह्मचर्य के दौरान ही उन्हें कौटुम्बिक आदर्श एवं मर्यादित सुख का ज्ञान हो जाता था जो उनके गृहस्थ जीवन में प्रवेशोपरान्त उपयोगी सिद्ध होता था। इस प्रकार कौटुम्बिक मर्यादा, शिष्टता एवं संस्कार की व्यवहारिक शिक्षा उन्हें ब्रह्मचर्य जीवन में ही दी जाती थी। आज कौटुम्बिक मूल्यों का निरन्तर क्षय हो रहा है तथा उसकी अस्मिता संकटग्रस्त है। रिश्ते आधारविहीन होते जा रहे हैं, मानवीय संवेदनाएं खोखली हो चुकी है। प्रत्येक व्यक्ति हताशा, निराशा, कुंठा एवं अतृप्तता का शिकार होकर तनाव एवं चिंता से ग्रस्त है। आत्मिक शांति के लिए दिग्भ्रमित है। पथ प्रदर्शक पथ से भटक चुके हैं। इसके लिये निश्चित रूप से किसी न किसी रूप में वर्तमान शिक्षा पद्धति दोषी है।

प्राचीनकाल में गुरू – शिष्य के मध्य पारस्परिक माधुर्य सम्बन्ध सहस्रों वर्ष बाद तक बना रहा, किन्तु आज शिक्षा के क्षेत्र में उपजे दिशाविहीन उद्देश्यों, पारम्परिक मूल्यों की अवहेलना, नित नयी शिक्षानीतियों में संगोपित उपभोक्तावादी प्रवृत्तियों ने चतुर्दिक भग्नाशा एवं निषेध को जन्म देकर गुरू – शिष्य के मध्य अलंध्य दूरी पैदा कर दी है। फलतः दोनों एक – दूसरे को असम्मान एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगे हैं। शिक्षण–संस्थाएं व्यक्तिगत एवं समूहगत राजनीति के अखाड़े बन चुके हैं, जहां गुरू शिष्य के विरूद्ध, छात्र–छात्र के विरूद्ध, शिक्षक–शिक्षक के विरूद्ध समूहबद्ध है। शिक्षक, शिक्षार्थी, अभिभावक एवं व्यवस्थापक सभी दिग्भ्रमित एवं आदर्शच्युत हो चुके है। किसी न किसी रूप में भौतिक समृद्धि प्राप्त करना सभी का उद्देश्य बन चुका है। शिक्षा माफियाओं ने इन संस्थाओं को स्वार्थ – सिद्धि का साधन बना लिया है, जिनके चंगुल में शिक्षक और शिक्षार्थी सभी फंसने को विवश है। वर्तमान शिक्षा छात्रों की विचारहीन इकाईयाँ पैदा कर रही है, चिंतक की जगह चिंताग्रस्त समाज का निर्माण हो रहा है। तार्किकता एवं सकारात्मक चिंतन का लोप होता जा रहा है, जिसकी परिणति स्वार्थजनित स्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता एवं असमानता में हो रही है ऐसी स्थिति में सामाजिक वर्गीकरण एवं उसका विभाजन स्वाभाविक है। खोखले और हृदयहीन समाज में जो

शिक्षा दी जाती है, वह नवीन जीवन मूल्यों और सृजनशील मानवीय सम्बन्धों को उजागर करने में असमर्थ रहती है। केवल सूचनाओं को मस्तिष्क में एकत्र कराकर प्रज्ञा और संवेदना, ज्ञान और कर्म का समग्र सम्बन्ध स्थापित करने में असफल सिद्ध होती है।

वर्तमान शिक्षार्थी इस बात को भली भांति जानता है कि आज की शिक्षा उपाधि, संकलन एवं अति महत्वाकांक्षा विकसित करने का साधन मात्र है, जिससे चिंताग्रस्त जीवन और शिक्षित बेरोजगारी के अतिरिक्त कुछ मिलने वाला नहीं है। अतएव कुछ शिक्षार्थी राजनीति का आश्रय लेकर व्यवहारिक जीवन में प्रवेश करते है और असामाजिक तथा गैर कानूनी कार्यों के माध्यम से अपने को आर्थिक एवं सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित बनाने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोग ही वर्तमान समाज के आदर्श बन रहे हैं। अंदर के एकांकीपन एवं खालीपन को युवा पीढ़ी कभी पढ़ाई एवं रचनात्मक कार्यों से पूरित करते थे, आज भटकाव एवं इंद्रिय–संतुष्टि का कई माध्यम सहायक बन गया है। रिश्ते इतने खोखले एवं कमजोर हो चुके हैं कि किसी भी भटकाव को रोक पाने में अपने को असहाय पा रहे हैं।

प्राचीनकाल में जो छात्र प्रतिभासम्पन्न होते थे, उन्हें अपने को स्थापित करने का पर्याप्त अवसर दिया जाता था। जिसमें नेतृत्व का स्वाभाविक गुण होता था, उसे उभारकर तराशा जाता था, लेकिन आज प्रतिभा का यथोचित मूल्य एवं अवसर उपलब्ध नहीं है। पात्रता का ध्यान दिये बगैर विशेष जिम्मेदारियां सौंप दी जाती हैं। बहुतेरे छात्र अपात्र होकर भी उच्च शिक्षा प्राप्त करते हैं और राजनैतिक संरक्षण प्राप्त कर उच्च पद को सुशोभित करते हैं। अतः ऐसे लोगों से न्याय की आशा करना एवं आदर्श शिक्षक की परिकल्पना दिवास्पप्न है।

आरम्भ में समुचित शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से शिक्षावधि, शिक्षण – सत्र, प्रवेश, पाठ्यक्रम, अध्ययन – अध्यापन पद्धति, परीक्षा आदि पर ध्यान दिया जाता था।

वैसे तो साधारणतया 25 वर्ष की अवस्था तक शिक्षा दी जाती थी, लेकिन ऐसी मान्यता थी कि ज्ञान को किसी समय सीमा में बांधा नहीं जा सकता। शिक्षा का क्षेत्र इतना व्यापक एवं विस्तृत होता है कि कोई भी शिक्षार्थी अपने सम्पूर्ण जीवन को अर्पित कर दे, तो भी वह सम्पूर्ण शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। प्रवेश का मापदण्ड कि सी भी छात्र का चरित्रवान, संस्कारवान, निष्ठावान, आदर्शवान, बुद्धिमान धैर्यवान, विनयशील, प्रतिभासम्पन्न, जिज्ञासु, अभिलाषी एवं उसमें आज्ञाकारी गुणों का होना आवश्यक था। प्रारम्भ में शिक्षण कार्य के दौरान प्रत्येक माह में चार दिन का अवकाश नियत था, पर बाद में विभिन्न उत्सवों, मेघगर्जन, ग्रहण अशौच आदि अवसर पर भी शिक्षण कार्य प्रतिबंधित होने लगा।

प्राचीन काल में शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत प्रवेश – परीक्षा, अंक – पत्र, उपाधि–पत्र, चरित्र प्रमाण–पत्र, स्थानान्तरण प्रमाण–पत्र, वितरण जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। श्रेष्ठता के आधार पर ही जिज्ञासु छात्रों को उच्च शिक्षा दी जाती थी। राज्य द्वारा धनादि प्रदान कर शिक्षालयों, शिक्षकों एवं जिज्ञासु छात्रों को प्रोत्साहित किया जाता था। अतः शिक्षा के प्राचीन मापदण्ड तथा उसके विकास के लिये किये जाने वाले प्रयास, वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के लिये भी प्रासंगिक है।

ब्राह्मण शिक्षा–पद्धति के अन्तर्गत वेदों के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, न्याय, छन्द, ज्योतिष, व्याकरणशास्त्र आदि का अध्ययन आवश्यक था। यद्यपि, शैक्षिक पाठ्यक्रमों को तीन वर्ग में वर्गीकृत किया गया था– प्रारंभिक शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रम, उच्च शिक्षा से सम्बन्धित पाठ्यक्रम एवं तकनीकी तथा व्यवसायिक शिक्षा से संबंधित पाठ्यक्रम। शिक्षा में संस्कृत भाषा को विशेष महत्व प्राप्त था। प्रारंभिक शिक्षा वेदाध्ययन से आरंभ होती थी। वैदिक साहित्य के अनन्तर वेदांगों की रचना हुई, आरण्यक् एवं उपनिषद् साहित्य विकसित हुए। इसके अतिरिक्त दार्शनिक तर्क – वितर्क और विभिन्न शिल्पों में दक्षता प्राप्ति की अपेक्षा भी तत्कालीन शिक्षार्थियों से की जाने लगी। ईसा की

आरंभिक शताब्दी से पाठ्यक्रमों का और विस्तार हुआ। संस्कृत साहित्य, धर्मशास्त्र, महाकाव्य, पुराण, ज्योतिष, आयुर्वेद, राजशास्त्र आदि के नये विषय बने। कालान्तर में इन पाठ्यक्रमों में सैन्य विज्ञान, चिकित्साशास्त्र, शिल्प विज्ञान, पशुपालन, व्यापार एवं कृषि शिक्षा जैसे नये धर्मेत्तर विषय भी सम्मिलित हुए। इन पाठ्यक्रमों के विस्तार में बौद्ध शिक्षा की विशेष भूमिका है। प्रारम्भ में शिक्षा मौखिक दी जाती थी, अतः उच्चारण की शुद्धता एवं कंठस्थीकरण पर विशेष बल दिया जाता था। लिपि का विकास होने पर शिक्षा भोज – पत्रों पर लिखित रूप में भी दी जाने लगी।

प्रारम्भ में तकनीकी एवं व्यवसायिक विषयों की शिक्षा परिवार के ज्येष्ठ एवं अनुभवी सदस्यों से प्राप्त होती थी, किन्तु उत्तरकाल में इन विषयों की शिक्षा तक्षशिला, नालन्दा और वलभी जैसे बड़े शिक्षण – संस्थाओं पर भी दी जाने लगी। यद्यपि ये शैक्षिक पाठ्यक्रमों के अंग अवश्य बने, तथापि शिक्षा के मूल विषय के रूप में इन्हें कभी भी मान्यता नहीं मिली। कारण, उच्च शिक्षा से सम्बन्धित अध्ययन – अध्यापन का दायित्व जिन वर्गों पर था, उनका इन विषयों के प्रति अधिक झुकाव का न होना था। चूंकि, प्राचीन समय में पुरोहित ही आचार्य का कार्य भी करते थे, जिनकी अभिरूचि धर्म, दर्शन एवं आध्यात्म के प्रति ज्यादा थी। अतः धर्मेत्तर विषयों का उपेक्षित होना स्वाभाविक था। यूरोपीय शिक्षाविद् भी इस मत के थे कि धर्म ही शिक्षा का अंग होना चाहिए, क्योंकि पाश्चात्य देशों में भी पुरोहित ही शिक्षक धर्म का पालन करते थे, जिनकी अभिरूचि धार्मिक विषयों के प्रति ज्यादा रहती थी। अतः स्पष्ट है कि समकालीन अन्य देशों के पाठ्यक्रम भी धर्म से प्रभावित थे।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी के उपरान्त वैदिक साहित्य को अपौरूषेय मान लिया गया। कालान्तर में स्मृति और पुराण साहित्य को भी यही पद प्राप्त हो गया। जब यह विचार दृढ़ हो गया कि इसके रचयिता ईश्वर या ऋषि है और इसमें जो कुछ भी लिखा गया है, वह पूर्णतया सत्य है, शेष ज्ञान का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। तब

इन धर्म – ग्रन्थों के आधार पर ही कोई भी विचार स्वीकृत एवं अस्वीकृत होने लगे। शंकर और रामानुज जैसे विद्वानों को भी यह सिद्ध करना पड़ा कि उनका विचार उपनिषदों के अनुरूप है। श्रृति, स्मृति और पुराण साहित्य को अपौरूषेय मान लेने के कारण हिन्दू दर्शन का स्वतंत्र विकास बाधित हुआ। यदि ऐसा न होता तो, निःसंदेह अनेक मौलिक ग्रंथ लिखे गये होते और बाद के शैक्षिक पाठ्यक्रमों में टीकाओं का कोई स्थान नहीं होता। प्रारम्भ से पांचवीं शताब्दी तक मौलिकता एवं सृजनशीलता के दर्शन होते है, तदुपरान्त उसमें ह्रास होना प्रारम्भ हो गया और मौलिक साहित्य का स्थान टीकाओं और निबन्धों ने ले लिया। यद्यपि यह स्थिति तत्कालीन यूरोप में भी थी, जहाँ मौलिक प्रतिभाओं का क्रमशः क्षय हो रहा था और सृजनात्मक तथा रचनात्मक प्रतिभा की जगह अनुकरणात्मक प्रतिभा प्रभावी थी। राहु – केतु, सूर्य और चन्द्रमा पर आक्रमण कर अल्पकाल के लिये ग्रसित कर लेते हैं, जिस दिन पुराण साहित्य में इस कथा का प्रवेश हुआ, वह दिन ज्योतिष के लिये दुर्भाग्य का दिन था। आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भाष्कराचार्य , गार्गी, पाराशर और भृग जैसे विद्वान ज्योतिषी ग्रहण के वास्तविक कारण को जानते हुए भी पुराणों में वर्णित कथा को गलत कहने का साहस नहीं जुटा सके। यद्यपि भारत में यह स्थिति पांचवी शताब्दी के बाद बनी, लेकिन यूरोपीय देशों में आधुनिक काल के पूर्वार्द्ध तक सभी को धर्मग्रन्थों के समक्ष नतमस्तक होना पड़ता था। गैलीलियों का मृत्यु दण्ड इसका जीवंत दृष्टान्त है। मार्टिन लूथर पहला व्यक्ति था, जिसने स्पष्ट किया कि जो कुछ सत्य की कसौटी पर सही नहीं उतरता वह ईश्वर के विरूद्ध है, किन्तु उसे भी अपने जीवन के अंतिम समय में पूर्व के विचारों का परित्याग कर कहना पड़ा कि जो बुद्धि जितना ही सूक्ष्म और यथार्थ होगी, वह उतना ही भयंकर होगा तथा ईश्वर को नष्ट करने की कोशिश करेगा।

प्राचीनता के प्रति अतिशय आदर का भाव विकसित होने के कारण मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति पांचवीं शताब्दी के उपरान्त क्रमशः घटती चली

गयी। पूर्व में हिन्दू मूर्तिकारों ने यूनानी विधि को आत्मसात् कर मूर्तिकला को समृद्ध किया था। आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे विद्वान वाह्य देशों में होने वाली ज्योतिषीय प्रगति के प्रति जिज्ञासु बने रहते थे। वराहमिहिर ने यूनानी ज्योतिषियों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यद्यपि यवन म्लेच्छ है, किन्तु ज्योतिष के अच्छे ज्ञाता है, अतः उनकी पूजा ऋषिवत् होनी चाहिए। किन्तु, वराहमिहिर की मृत्यु के उपरान्त दूसरों से सीखने की प्रवृत्ति में जड़ता आने लगी और परम्पराओं की सच्चाई में निहित अंधविश्वास ने हिन्दू प्रतिभा को संकुचित, जिद्दी और अहंकारी बना दिया।

प्रारम्भ में हस्तकला और औद्योगिक कला में कौशल प्राप्त करना प्रशंसनीय समझा जाता था। ब्राह्मण खनिजशास्त्र और धातुविज्ञान, आयुर्वेद और सैन्य विज्ञान में भी पारंगत होते थे। तंतुवाद भी साहित्य, लोकगीत, ज्योतिष और धनुर्विद्या शौक से पढ़ते थे, किन्तु गुप्तकाल के उपरान्त साहित्यिक शिक्षा और उपयोगी विषयों की शिक्षा का समन्वय क्रमशः कम होता गया तथा प्रतिभावान छात्र उपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त करना अपने सम्मान के विपरीत समझने लगे। गणित, ज्योतिष, मूर्ति एवं वास्तुशास्त्र आदि में उनकी अभिरूचि क्रमशः घटती चली गई। परिणामतः मौलिक साहित्य, संगीत, मूर्तिकला, चित्रकला, आकार – विज्ञान, शल्य – चिकित्सा तथा अन्य उपयोगी क्षेत्रों का विकास क्रमशः अवरूद्ध हुआ।

शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत संस्कृत – भाषा को विशेष महत्व मिलने के कारण लोकभाषा उपेक्षित हुई। इसके कारण जनशिक्षा की प्रगति बाधित हुई। यद्यपि ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में संस्कृत के पुनर्जीवित होने से अनेक बहुमूल्य ग्रंथों की सृष्टि हुई, किन्तु उसके प्रति अतिशय आग्रह के कारण जनशिक्षा उपेक्षित हुई। यद्यपि लोकभाषा की उपेक्षा का प्रतिबिम्ब आज भी देखने को मिल जायेगा, जो न केवल भारत, बल्कि विश्व के अनेक देश इसकी परिधि में आ जायेंगे।

विभिन्न पद्धतियों के अन्तर्गत शिक्षा प्रदत्त की जाती थी। वेदाध्ययन में कंठस्थीकरण पद्धति, लौकिक विषयों में 'प्रत्यक्षीकरण पद्धति' दार्शनिक विषयों में खंडन – मंडन की तार्किक विधि, शिल्पगत तथा कलात्मक विषयों में प्रयोगात्मक एवं अभ्यास की विधि सामान्यतया अपनायी जाती थी। जब आचार्य इस बात से संतुष्ट हो जाते थे कि शिक्षार्थी ने अपना पिछला पाठ आत्मसात् कर लिया है, तभी आगे का पाठ प्रारम्भ करते थे। अध्ययन की समाप्ति विस्तृत परीक्षा – प्रणाली से न होकर अंतिम पाठ की आवृत्ति और व्याख्या से होती थी। शिक्षार्थी को न तो लिखित परीक्षा से गुजरना पड़ता था और न उन्हें कोई प्रमाण पत्र ही वितरित किया जाता था। गुरू की संतुष्टि ही शिक्षार्थी की योग्यता और ज्ञान की पूर्णता का द्योतक थी।

शिक्षा औपचारिक एवं अनौपचारिक पद्धति के अन्तर्गत दी जाती थी। औपचारिक शिक्षा के अन्तर्गत मठों, मन्दिरों, आश्रमों एवं गुरूकुलों में उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। जबकि पुरोहित, कथावाचक, सन्यासियों के प्रवास, तीर्थयात्राएं, पर्व, मेले आदि अनौपचारिक शिक्षा के सशक्त माध्यम थे। उच्च शिक्षा की दृष्टि से अध्ययन में गुरूकुलों का विकास सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं के रूप में होने लगा। तक्षशिला और काशी में स्थापित शिक्षण – शालायें इसी कोटि की थी। यद्यपि सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं को स्थापित एवं विकसित करने का श्रेय बौद्धों को जाता है, जहां प्रारम्भ में केवल भिक्षु और भिक्षुणियाँ ही शिक्षा प्राप्त करते थे, पर बाद में जनसामान्य शिक्षार्थी भी विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करने लगे। इसी क्रम में कई राज्याश्रित शिक्षण संस्थाओं की भी स्थापना हुई, जैसे – देवालय विद्यापीठ, अग्रहार ग्राम, टोलीय शिक्षा आदि। इनका प्रबंधन देवालय उप–समिति, ग्रामसभा या अग्रहार गाँवों के माध्यम से होता था। नालन्दा एवं बलभी जैसे बड़े शिक्षण संस्थाओं का प्रबंधन शिक्षा समिति एवं प्रबन्ध समिति करती थी।

बौद्ध मठों एवं विहारों में चलने वाले शिक्षालयों का प्रबंधन भिक्षुगण ही करते थे। ये संस्थाएं महज धार्मिक शिक्षा के लिये ही प्रसिद्ध नहीं थी। पाठ्यक्रमों में धर्म एवं दर्शन का प्रमुख स्थान था, अन्य विषयों की भी समुचित शिक्षा दी जाती थी चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत में जितने समय रहा, उसका लगभग चालीस प्रतिशत समय ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन में ही व्यतीत हुआ। (डॉ0 ए0एस0 अल्तेकर) पुस्तकों की अनुपलब्धता के कारण कतिपय महत्वपूर्ण ग्रन्थों को कंठस्थ कर लेने के लिये शिक्षार्थियों को प्रोत्साहित किया जाता था। शिक्षण प्रणाली में तर्क एवं विश्लेषण का महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण ह्वेनसांग, फाहियान और इत्सिंग जैसे तर्कशील चीनी यात्रियों ने भारतीय आचार्यों की व्याख्या और स्पष्टीकरण की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। प्रत्येक शिक्षार्थी की वैयक्तिक प्रगति पर यथासंभव ध्यान रखा जाता था। इस प्रकार तुलनात्मक, आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन की पद्धति प्राचीन शिक्षा की विशेषता थी, जिसको प्रोत्साहित कर हिन्दू न्याय और दर्शन के विकास में बौद्धों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रारम्भ में उन्होंने लोकभाषा को प्रोत्साहित कर उसे शिक्षा का माध्यम बनाया। किन्तु उत्तरकाल में बौद्ध शिक्षा जनसामान्य से दूर हो जाने के कारण लोकभाषा का विकास अवरूद्ध हुआ और संस्कृत भाषा का प्रभुत्व पुनः स्थापित हुआ। इस प्रकार आलोच्यकाल में दो प्रकार की भाषा प्रचलित थी। विद्वत जन की भाषा संस्कृत और जनसामान्य वर्ग की भाषा प्राकृत। यह प्रमाणित है कि किसी भी देश के सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण रखने एवं उसे संरक्षित – संवर्द्धित करने में लोकभाषा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है जिसका प्रेरक समाज का बहुसंख्यक वर्ग होता है। जनसामान्य वर्ग न केवल अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति सजग रहता है, बल्कि उसकी अक्षुण्णता को भी बनाए रखने के प्रति सचेष्ट रहता है।

राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को बनाए रखने के लिये लोकभाषा एवं सांस्कृतिक परम्पराओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। जो राष्ट्र इस सच को नजरंदाज करता है,

वह अपने को धोखे में रखता है और उसका स्वतंत्र विकास बाधित होता है। सम्राट अशोक ने इसकी वैज्ञानिकता को समझते हुए जनभाषा प्राकृत को राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार कर उसे प्रोत्साहित किया था। प्रारम्भ में बौद्ध आचार्यों ने भी इस निहित सच को स्वीकार किया था। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम आयातित भाषा एवं संस्कृति को त्याग कर अपनी सांस्कृतिक धरोहर को पुनर्जीवित करें, तभी राष्ट्रीय अस्मिता सुरक्षित बच पायेगी। सांस्कृतिक परम्पराएं पूर्वजों की धरोहर होती है, जो उनके अथक अनुसंधानोपरान्त वैज्ञानिक मान्यता प्राप्त करती है और लंबे समय तक तपने के पश्चात स्वर्ण की भांति जनोपयोगी बनकर सामाजिक मान्यता को प्राप्त करती है। अतः बिना वैज्ञानिक कारण के उसके सच को नकारना और आधुनिकता को सही सिद्ध करना अपने विकास को अवरूद्ध करना होगा। स्वतंत्र चिंतन एवं मौलिक अनुसंधान के लिये मातृभाषा को प्रोत्साहित किया जाना आवश्यक है, अन्यथा शिक्षा का अनुदित एवं अनुकरणात्मक ज्ञान ही प्रभावी होता चला जाता है और कोई भी राष्ट्र उसका पिछलग्गू बनकर रहने के लिये विवश हो जाता है।

प्राचीन भारत में शिक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष की अपेक्षा व्यवहारिक पक्ष पर विशेष बल दिया जाता था। जो प्रत्येक ज्ञान शिक्षार्थियों के व्यवहार में परिलक्षित होता था। अपने व्यवहारिक अनुभव के कारण ही वे क्षेत्र विशेष में दक्षता एवं मौलिक उपलब्धि प्राप्त करते थे। चाहे वह साहित्य का क्षेत्र हो, भाषा का क्षेत्र हो, धर्म–दर्शन या आध्यात्म का क्षेत्र हो, गणित, भौतिकी, रसायन, खगोलविज्ञान, ज्योतिष, सैन्य, तकनीक, चिकित्सा, पर्यावरण या राजशासन का क्षेत्र हो, प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने विशिष्ट प्रतिमान स्थापित किये। प्राचीन शिक्षाविदों की यह विशेषता थी कि जो ज्ञान वैज्ञानिकता को प्राप्त कर लेता था और जिसकी महत्ता जनोपयोगी प्रतीत होने लगती थी, अर्थात् जो सिद्धान्त जीवन के लिये हितकर होता था, उसे सर्वमान्य बनाने के लिये उसका धार्मिक रूपान्तरण कर दिया जाता था। परिणामस्वरूप ऐसा ज्ञान धर्म एवं कर्मकाण्ड के द्वारा

लोगों के रगों में प्रवाहित होता रहता था तथा परम्परा एवं संस्कार के रूप में दैनिक जीवन का अनिवार्य अंग बन जाता था। संस्कारों के लिये शुभ मुहूर्त का होना, पीपल, नीम, वट, जामुन, आवला, शमी, तुलसी, केला आदि वनस्पतियों का धार्मिक एवं वैज्ञानिक महत्व, गोदुग्ध एवं गंगाजल का महत्व, गंगा स्नान, ब्रह्म मुहूर्त में उठना, विभिन्न त्योहारों का वैज्ञानिक आधार, सूर्य अर्ध्य, तिलक एवं शिखा धारण, संध्या, प्राणायाम, दिशा का वैज्ञानिक महत्व, जन्मपत्री का महत्व, रजस्वला स्त्री से परहेज, लघु एवं दीर्घ शंका के समय कान पर जनेऊ धारण, गोबर का लेप, नवरात्रव्रत, गणपति का उपासना, मूर्तिपूजा, धातुओं का महत्व आदि जनोपयोगी ज्ञान के धार्मिक रूपांतरण के सामान्य दृष्टान्त हैं।

प्रारम्भ में शिक्षक ही पुरोहित का कार्य भी करते थे। अतः वे अपने शोधात्मक वैज्ञानिक ज्ञान को धार्मिक शिक्षा के द्वारा जनसामान्य तक पहुँचाना अपना कर्त्तव्य समझते थे। यही कारण है कि तत्कालीन ज्ञान–विज्ञान धार्मिक परम्पराओं के माध्यम से जन सामान्य के दैनिक जीवन में प्रवेशकर व्यवहारिक जीवन का अनिवार्य अंग बन गया। आज जिन वनस्पतियों एवं खाद्य पदार्थ को लेकर पेटेन्ट कानून पर विवाद चल रहा है, वह सभी वस्तुएँ भारतीयों के दैनिक जीवन में व्यवहारतः रची–बसी मिलेगी। जैसे – नीम, हल्दी, लहसुन, करेला, बासमती चावल, कढ़ी, आँवला, शहद आदि। मिस्री, सौंफ, तुलसी, पान, सुपाड़ी, कटहल, पीपल, बेल, बरगद, पाकड़, धतुरा, गन्ना, महुआ, पुनर्नवा, गाजर, मूली, लवंग, इलाईची, हर्रे, बहेड़ा, ब्राह्मी, शंख–पुष्पी, भृंगराज, कोदो, पुदीना, धनिया, पालक, मूँग, चना, उड़द, जौ आदि, जिनका उल्लेख न केवल अथर्ववेद, महाभारत, चरकसंहिता आदि ग्रंथों में मिलता है, बल्कि सभी वस्तुएँ आज भी प्रत्येक भारतीयों के जीवन में गहरा पैठ बनायें हुए हैं। इनके लिए पूरे विश्व को प्राचीन भारतीय शोधार्थियों का ऋणी होना पड़ेगा, जिन्होंने अपने अथक प्रयास से इन्हें खोजकर इनकी वैज्ञानिक महत्ता सिद्ध की थी और जनसामान्य को इसकी विशेषताओं

से अवगत कराया था। यद्यपि शासक वर्ग के उपेक्षापूर्ण व्यवहार के कारण आज यह अपने ही देश में पूर्णतया उपेक्षित है। कोई भी शोधार्थी आज इन विषयों पर ईमानदारी से शोध कार्य करने के लिये मानसिक रूप से तैयार नहीं है। अतः विश्व के होशियार देश हमारी इस सांस्कृतिक धरोहर को अपना शोध बताने में लगे हुए हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी सांस्कृतिक विरासत के मूल्य को पहचानकर उसे पुनः स्थापित करें और उसकी वैज्ञानिक महत्ता को सिद्ध करें, तभी राष्ट्र का समयक् विकास संभव हो पायेगा और वह अपने पैरों पर खड़ा होकर चल सकेगा। अन्यथा राष्ट्रीय अस्मिता सुसुप्ता अवस्था में पड़ी रहेगी और वह पाश्चात्य देशों की पिछलग्गू बनकर रह जायेगी।

प्राचीन भारत में दान को विशेष महत्व प्राप्त था, चाहे वह विद्यादान हो या विद्या के लिये धन दान। यद्यपि, धन दान से अधिक महत्व विद्यादान का था। धन लेकर विद्या देना निन्दनीय समझा जाता था। जिस प्रकार गुरू का यह धर्म होता था कि वह प्रत्येक शिक्षार्थी को बिना किसी भेद–भाव के निःशुल्क शिक्षा प्रदान करे, उसी प्रकार राजा, सामन्त एवं प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होता था कि वह प्रत्येक शिक्षक एवं शिक्षार्थी की बुनियादी आवश्यकताओ की पूर्ति सुनिश्चित करे। प्रत्येक ब्रह्मचारी को भिक्षा देना, श्राद्ध के अवसर पर विद्वानों को दान देना, विभिन्न उत्सवों पर उन्हें भोजन कराना एवं दान देना, विभिन्न अवसरों पर उपहार वितरित कर उन्हें प्रोत्साहित करना, संस्थाओं को कर मुक्त भूमि दान में देना आदि ऐसे कार्य थे, जिनसे शिक्षण कार्य बिना किसी अवरोध के सुचारू रूप से चलता था। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के दान एवं शासक वर्ग का यथोचित सहयोग आय के मुख्य स्रोत थे। प्रत्येक जिज्ञासु छात्र भोजन, वस्त्र एवं आवास सम्बन्धी चिन्ताओं से मुक्त रहकर सम्यक् शिक्षा प्राप्त करते थे और अपना सर्वांगीण विकास करते थे। वर्तमान शिक्षा इन समस्याओं को दूर कर पाने में असफल सिद्ध हो रही है। छात्रों की रचनात्मक प्रतिभा का दोहन सृजनात्मक कार्यों के

लिये न होकर दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये हो रहा है। इस प्रकार छात्रों का एकांगी विकास होने के कारण मौलिक प्रतिभाएं कुंठित हो रही है। शुचिता का लोप होने से चारित्रिक क्षरण का क्रम जारी है। आत्ममंथन एवं चिंतन की प्रवृत्ति मीलों दूर है। हताशा, निराशा एवं चिंता के कारण सर्वत्र अनिश्चय का वातावरण व्याप्त है और अनावश्यक महत्वाकांक्षा एवं भ्रष्टाचार व्यक्तित्व का स्वाभाविक गुण बनता जा रहा है।

आलोच्यकाल में चारित्रिक शुचिता एवं व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास शिक्षा का ध्येय होता था। इसके कारण अनावश्यक महत्वाकांक्षा का शमन होता था। इसकी पुष्टि विदेशी यात्रियों के विवरण से भी हेती है, जिन्होंने भारतीय संस्कृति के कई पक्षों पर नकारात्मक टिप्पणी के बाद भी चारित्रिक शुचिता एवं उनकी सत्यनिष्ठा की सर्वथा प्रशंसा की है। मेगस्थनीज के अनुसार, भारतीय झूठ नहीं बोलते है, सत्यगुणों का आदर करते हैं और संतोषी होते हैं। स्ट्रेबों के अनुसार, भारतीय अपने मकानों में ताला नहीं लगाते और विश्वसनीय व्यक्ति होते हैं। यह विशेषता आज भी पूर्वोत्तर भारत के कई ग्रामीण, जनजातीय समूहों में देखने को मिल जायेगी, जहाँ वर्तमान शिक्षा का फैलाव नही हुआ है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान शिक्षा व्यक्ति को बौद्धिक एवं मानसिक रूप से चतुर बना रही है। व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास न होने से स्वार्थ एवं व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा शिक्षा का स्वाभाविक गुण बनता जा रहा है। ह्वेनसांग लिखता हे कि भारतीय, सिद्धान्त के पक्के एवं संवेदनशील होते हैं। उपकार का बदला न्याय से चुकाते हैं। किसी के साथ कपट नहीं करते और सत्य प्रतिज्ञ होते हैं। निश्चय ही इन गुणों के विकास में प्राचीन शिक्षा पद्धति की महत्वपूर्ण भूमिका थी। छात्रों के मनोवैज्ञानिक चरित्र को उद्‌घाटित कर उनमें आध्यात्मिक एवं मानवीय चिंतन को विकसित करना प्राचीन शिक्षा की विशेषता रही है, जिसके कारण छात्रों के अंदर विद्यमान अनावश्यक महत्वाकांक्षा का शमन होता था। अनावश्यक महत्वाकांक्षा ही भ्रष्टाचार की मूल नब्ज होती है, इसको प्राचीन शिक्षाविदों ने महसूस कर लिया था। यह अत्यधिक प्रभावी न

बन जाये, इसके लिये उन्होने ऐसी शिक्षा व्यवस्था दी थी कि इस प्रकार के विकारों का स्वाभाविक शमन और संतुलित व्यक्तित्व का विकास संभव हो।

आज शिक्षक एवं शिक्षार्थी दोनों भयाक्रान्त है और किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में हैं। दिशाहीनता की स्थिति में शिक्षा अपने मूल उद्देश्यों से विमुख हो चुकी है। चिंतन के स्थान पर चिंता का आधिपत्य है। वर्तमान शिक्षा पाश्चात्य संस्तुतियों के आधार पर विच्छिन्न बह रही है। पूर्व में ब्रिटिश शासन को पढ़े–लिखे भारतीय मजदूरों, स्टोरकीपरों, क्लर्कों की आवश्यकता थी तथा उन्हें ईसाई प्रभुत्व का विस्तार करना था। अतः वे अपनी अपेक्षाओं के अनुरूप शिक्षा के पाठ्यक्रम तैयार किये, उच्च शिक्षा के नाम पर पाश्चात्य औद्योगिक–वैज्ञानिक उपलब्धियों से परिचित कराकर यहाँ की प्रतिभाओं को मौलिक ज्ञान से, शोधों से, निष्कर्ष प्राप्त करने के अधिकारों से विरत रखकर तथा अंग्रेजी भाषा के वर्चस्व को थोपकर उनकी योग्यताओं को परिसीमित करना, उनका शैक्षिक उद्देश्य बना रहा। भारतीय शिक्षा, संस्कृति एवं इतिहास की गलत व्याख्या एवं भ्रांत अवधारणाएँ प्रस्तुत की गई तथा जनता के मानस में भारतीय ज्ञान सम्पदा को अक्षम, अनुत्पादक एवं व्यर्थ सिद्ध कर पाश्चात्य शिक्षण संस्तुतियाँ प्रतिस्थापित कर दी गई। स्वतन्त्रता पूर्व तक भारतीयों को इसी प्रकार की परिचयात्मक एवं विवरणात्मक औपचारिक शिक्षा प्राप्त होती रही, किन्तु, कालान्तर में भारतीय शिक्षाविदों और समाजशास्त्रियों का ध्यान जब प्रचलित शिक्षा पद्धति के पुर्नमूल्यांकन पर गया, तब तक पाश्चात्य अपसंस्कृति, भौतिकवादी जीवन दृष्टि का वर्चस्व स्थापित हो चुका था।

आज भी शिक्षा अपनी संस्कृति से पूर्णतया विलग है। विभिन्न संचार माध्यमों से पाश्चात्य जीवन शैली, शिक्षा एवं संस्कृति का प्रवेश नवांगतुकों को अंतहीन लक्ष्य की ओर ले जा रही है। सामाजिक मान्यताओं की अस्मिता खोखली होती जा रही है। प्रत्येक व्यक्ति दुःखी एवं तनावग्रस्त है, विभिन्न व्याधियों को ढो रहा है और अतीत की ओर झांकने की असफल चेष्टा कर रहा है। आज बड़ी–बड़ी शिक्षण संस्थाएँ स्थापित हैं,

उनके पास पर्याप्त धन है, बहुसंख्यक शिक्षक एवं शिक्षार्थी हैं, पर शिक्षा किसको, किसकी और किस उद्देश्य, से की जा रही है सब अस्पष्ट है और जो स्पष्ट है, वह महज भौतिक समृद्धि है। भौतिक समृद्धि ही आज शिक्षा का उद्देश्य बन चुका है, जो अंतहीन कुंठा को जन्म दे रहा है। पाश्चात्य शिक्षालयों के अनुकरण पर नये–नये विशद पाठ्यक्रम प्रस्थापित हैं, पर अध्ययन–अध्यापन की स्थिति शून्य है। शिक्षालयों एवं शिक्षार्थियों के बीच अपराधिक गठबंधन है। क्रीत शिक्षा एवं डिग्रियों की भरमार, योग्यताओं की उपेक्षा, भयंकर बेरोजगारी, प्रतिभाओं का पलायन, बात–बात पर विद्रोह एवं हिंसा इन विश्वविद्यालयों के निहित सच है। छात्र–छात्राओं के फैशन परेड सौन्दर्य प्रतिस्पर्द्धा के रूप में दिखाई देती है। यद्यपि यह परिदृश्य समग्र नहीं है। कतिपय शिक्षक एवं शिक्षार्थी आज भी हैं, जो कुछ कर गुजरने का हौसला रखते हैं। किन्तु, तथाकथित सभ्य समाज इन्हें सुनने और विचार करने को प्रस्तुत नहीं है। वैज्ञानिक, चिकित्सक, अभियन्ता, ज्योतिषी, विधिवेत्ता, शिक्षाविद् प्रशासक, राजनेता आदि होकर भी इन्हें पर्याप्त अवसर नहीं मिल पाता कि शैक्षिक इयत्तायों को ये स्थापित कर पाये, अपितु कुछ संघर्ष के उपरान्त ये भी विद्यमान व्यवस्था के अंग बनकर रह जाते हैं। अतएव, आज आवश्यकता है, कि इतिहास एवं शिक्षा को अपनी संस्कृति से जोड़ा जाये और आयातित संस्कृति को गुण–दोष के आधार पर स्वीकार किया जाये। अंधानुकरण की प्रवृत्ति से बचा जाये और संस्कृति सम्मत, मूल्य परक, चिंतन परक शिक्षा तंत्र विकसित किया जाय। आत्म–मंथन एवं आत्म–चिंतन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित कर शिक्षा के व्यवहारिक पक्ष को दृढ़ किया जाये। निःसंदेह वर्तमान शिक्षातन्त्र में आयी रिक्ति को भरने में हमारी प्राचीन शिक्षा पद्धति पूर्णतः सक्षम है।

किसी भी राष्ट्र के सांस्कृतिक विकास, उसके संरक्षण एंव संवर्द्धन में स्त्री की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। स्त्री के शिक्षित होने से परिवार, समाज एवं सम्पूर्ण राष्ट्र शिक्षित होता है। प्राचीन काल में वे स्त्रियाँ शिक्षित मानी जाती थीं जो वैदिक शिक्षा

प्राप्त करती थीं। उन्हें शिक्षित करने में परिवार, गुरुकुल, बौद्ध शिक्षण संस्थान एवं महिला शिक्षिकाओं का विशेष योगदान होता था। तद्युगीन स्त्रियों का दो वर्ग था – 'सद्योवधू' एवं 'ब्रह्मवादिनी'। सद्योवधू स्त्रियाँ विवाह के पूर्व तक ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करते हुये शिक्षा प्राप्त करती थी, तदुपरान्त गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती थी। जबकि, ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ जीवन पर्यन्त अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करती थी। वे वेदाध्ययन के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, तर्क, मीमांसा, न्याय, साहित्य एवं आध्यात्मिक आदि विषयों में अधिकाधिक विद्वता प्राप्त करती थी तथा कुछ स्त्रियाँ मौलिक मंत्रों की रचना के कारण ऋषियों की भाँति श्रद्धेय थी, जैसे–गार्गी, वाचक्नवी, सुलभा, मैत्रेयी, बड़वा, प्रतिथेयी आदि।

शैक्षिक पाठ्यक्रमों में शैल्पिक दक्षता, ललित कलाओं का ज्ञान, प्रशासनिक निपुणता, गृहविज्ञान, कृषिविज्ञान आदि विषय सम्मिलित थे, जिनमें महिलाएँ दक्ष होती थीं। कतिपय सैन्य योग्यता भी रखती थीं तथा अनेक अपनी विशेषज्ञता के कारण शिक्षण कार्य भी करती थीं, तत्कालीन ग्रन्थों में उपाध्याया, आचार्या, उपाध्यायिनी, और आचार्यानी शब्दों का मिलना, यह पुष्टि करता है कि कतिपय विदुषी स्त्रियाँ शिक्षण कार्य भी करती थीं। इनके द्वारा संचालित संस्थाओं को 'महिला शिक्षणशाला' कहा जाता था। इन संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त करने के साथ–साथ वे सहशिक्षा के अन्तर्गत भी शिक्षा प्राप्त करती थीं। प्रारम्भ में विभिन्न गोष्ठियों में सम्मिलित होने एवं शास्त्रार्थ करने की उन्हें अनुमति प्राप्त थी। वे यज्ञ की अधिकारिणी होती थी और उनका शैक्षिक संस्कार भी होता था। किन्तु, कालान्तर में उनकी शैक्षिक स्थिति में ह्रास हुआ और वे वेदाध्ययन कर सकने में अक्षम मानी जाने लगी। उनकी उच्च–शिक्षा प्रतिबंधित हुई और विवाह संस्कार को ही उनका उपनयन स्वीकार कर लिया गया। मनु के अनुसार पति ही उसका आचार्य, विवाह ही उसका उपनयन, पति की सेवा ही उसका आश्रम एवं गृहस्थी के कार्य उसके धार्मिक अनुष्ठान थे। विवाह के अतिरिक्त अन्य संस्कार बिना

वैदिक–मंत्रों के होने लगे। इस प्रकार वैदिक एवं उच्च–शिक्षा की दृष्टि से उनकी स्थिति शूद्रों की भाँति हो गयी। अब वे परिवार के ज्येष्ठ एवं अनुभवी सदस्यों से व्यवहारिक एवं गृहोपयोगी विषयों की शिक्षा प्राप्त करने लगी। कुलीन एवं अभिजात परिवार की जिज्ञासु स्त्रियों को विभिन्न शिल्पों एवं ललित कलाओं की व्यवहारिक शिक्षा दी जाती थी। संगीत, नृत्य वाद्य, गृहोपयोगी विषय एवं अंग विद्या आदि सम्मिलित था। अंग विद्या में पहेली हल करना, काव्यपाठ, अपूर्ण श्लोकों को पूर्ण करना, क्रीडा, शरीर सज्जा, अलंकरण, अनूलेपन, संभाषण एवं शब्दों का ज्ञान सम्मिलित था।

यद्यपि, स्त्री शिक्षा में हो रहे ह्रास को रोकने का प्रयास बौद्धों ने किया और यथासंभव उन्हें प्रोत्साहित भी किया। किन्तु ब्राह्मणों द्वारा स्थापित सामाजिक मान्यताओं एवं कौटुम्बिक मर्यादा का क्षय होना उनके शैक्षिक प्रवाह को अवरुद्ध करने का कारण बना। विदेशी आक्रमणों के प्रभाव के कारण भी उनकी शिक्षा प्रभावित हुई और अल्पायु में ही विवाह कर देना निहित सच बनता गया। बौद्ध शिक्षालयों का चारित्रिक पतन एवं उसमें प्रविष्ट नैतिक बुराइयाँ स्त्री शिक्षा के पराभव और समाप्ति का कारण बना। ईसा की पांचवी शताब्दी में भिक्षुणी संघ अवसान की ओर अग्रसर था, जबकि बौद्ध विहार उच्च शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में स्थापित हो रहे थे। अतः स्पष्ट हैं कि वे उच्च शिक्षा से विमुख होती जा रही थी। इस प्रकार अर्न्तवर्णीय एवं अन्तर्जातीय विवाह को निरूत्साहित करने, कौटुम्बिक अस्मिता की रक्षा करने और उनमें हो रहे चारित्रिक पतन को रोकने के उद्देश्य से बाल विवाह को समर्थन मिला तथा अल्पायु में ही उनका विवाह कर देना निहित सच बनता गया। विवश स्त्रियाँ कुशल गृहिणी बनने में ही अपनी सार्थकता समझने लगी।

इस प्रकार शताब्दियों तक उनकी अस्मिता, अशिक्षा, अज्ञानता, अंधविश्वास के अंधकूप में पड़ी रही और अपने महत्व को समझ नहीं पायी। यद्यपि 'पुनर्जागरण' काल में बंगाल सहित पूरे राष्ट्र में स्त्री उद्धार की ललक देखी गई। सती–प्रथा, बाल–विवाह, पर्दा–प्रथा, वेश्यावृत्ति, स्त्री शोषण आदि के विरुद्ध तीव्र स्वर उठे तथा स्त्री शिक्षा की

पुरजोर वकालत की गई। इस क्षेत्र में राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्या सागर और स्वामी विवेकानन्द जैसी महान विभूतियों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान अर्पित किया। तत्पश्चात उनके सम्मान का विस्तार हुआ और वे पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर चलने में समर्थ हुई।

आज स्त्रियाँ शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर है, ऐसे क्षेत्र में भी जहाँ पूर्व में पुरुषों का वर्चस्व था। प्रत्येक क्षेत्र में अपनी लगन और उच्च मेधा का परिचय देकर उपलब्धियों के मानक प्रतिमान स्थापित किये है। पर दुःखद सच यह है कि आज आधुनिकता के मकड़जाल में वे अधिक उलझी दिखाई दे रही है। दिलचस्प बात यह है कि अपने अधिकारों एवं स्वशक्तीकरण के लिये प्रयत्नशील ये अपने मूलशक्ति को विस्मृत कर चुकी हैं और प्रकृति प्रदत्त दायित्वों को विस्मृत कर एक अंतहीन लक्ष्य की ओर बढ़ रही है, जिसका अंत कुंठा, हताशा, निराशा, तनाव एवं अतृप्त भाव से होता है। इसमें मानवीय संवेदना का कोई स्थान नहीं होता। भौतिक समृद्धि, ग्लैमरस जीवन एवं अनजान–अतृप्त सुख के पीछे भागने के कारण परिवार, समाज, देश, सभी से दूरस्थ बिन्दु पर खड़ी एक विज्ञापन या मॉडल दिखाई देती है–एक आत्माच्युत, स्त्रीत्व–विहीन देह। स्त्री देह या स्त्रीत्व किसको सशक्त किया जाना है। भारतीय संस्कृति में स्त्रीत्व एवं स्त्रीगुणों का सौन्दर्य महिमामंडित रहा है। देह को केवल उद्दीपक उपकरण या आत्मा का आवरण माना जाता रहा है, जो जर एवं मृत्यु है। स्त्री की शक्ति निःसंदेह उसका स्त्रीत्व है, जो भारतीय संस्कृति की केन्द्र शक्ति है, वह अजर व अमर है। सांस्कृतिक शिक्षा स्त्री को अपनी खोयी हुई शक्ति की पहचान दे सकती है। आज शिक्षा के सभी अवसरों का समुचित उपयोग कर संस्कृति के लिये समर्पित होने की बेहद आवश्यकता है और उसकी अपेक्षा प्रत्येक स्त्री से है। तथा एक संवेदनायुक्त परिवार, आदर्श समाज एवं विकसित राष्ट्र का निर्माण किया जा सकता है।

* * * * *

संकेत शब्द सूची

अथर्व.	–	अथर्ववेद
अं. नि.	–	अंगुत्तर निकाय
अश्व. गृ.सू.	–	अश्वलायन गृह सूत्र
अर्थ.	–	अर्थशास्त्र
अलबरूनी	–	सचाऊ, अलबरूनी इंडिया
आ.प.	–	आदि पर्व
आ.ध.सू.	–	आपस्तम्ब धर्म सूत्र
आ.गृ.सू.	–	आपस्तम्ब गृह सूत्र
आ.स.रि.	–	आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, एनुअल रिपोर्टस् न्यूसीरीज
आ.स.वे.ई.	–	आर्कलाजिकल सर्वे आफ वेस्टर्न इंडिया की रिपोर्ट
इ.का.	–	इपिग्राफिया कार्नाटिका
इ.ई.	–	इपिग्राफिया इंडिका
इ.ऐ.	–	इंडियन ऐन्टिक्विरी
इं.म.प्रे.	–	इन्सक्रिप्शन्स, मद्रास प्रेसीडेन्सी
इत्सिंग	–	रिकार्ड ऑफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड बाई त्सिंग, तकसुकु द्वारा सम्पादित
उ.रा.	–	उत्तर रामचरित
ऐ.आ.	–	ऐतरेय आरण्यक
कठ.स.	–	कठक संहिता
कथा.	–	कथा सरित्सागर
कठो.	–	कठोपनिषद्

का.मी.	–	काव्यमीमांसा
कू.पु.	–	कूर्म पुराण
खा..गृ.सू.	–	खादिर गृह सूत्र
गो.ब्रा.	–	गोपथ ब्राह्मण
गो.गृ.सू.	–	गोमिल गृह सूत्र
ज.ए.सो.बं.	–	जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल
ज.बा.ब्रा.ए.सो.	–	जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ एशियाटिक सासाइटी
ज.बि.आ.रि.सो.	–	जर्नल ऑफ बिहार एवं ओडीसा रिसर्च सोसायटी
जे.आर.ए.एस.	–	जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
जै.गृ.सू.	–	जैमिनी गृहय सूत्र
जै.उ.ब्रा.	–	जैमिनी उपनिषद् ब्राह्मण
जीवनी	–	लाइफ ऑफ ह्वेनसांग, बीलकृत
तै.आ.	–	तैत्तिरीय आरण्यक
तै.ब्रा.	–	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै.उ.	–	तैत्तिरीय उपनिषद्
द्रा.गृ.सू.	–	द्राह्मायण गृह सूत्र
नी.श.	–	नीतिशतक
नीति	–	नीतिवाक्य
पा.गृ.सू.	–	पारस्कर गृह्म सूत्र
पारा.म.	–	पाराशर स्मृति पर माधवक की टीका
प्र.उप.	–	प्रश्नोपनिषद्
पू.मी.	–	पूर्व मीमांसा

बौ.ध.सू.	–	बौधायन धर्म सूत्र
बौ.गृ.सू.	–	बौधायन गृह्म सूत्र
महा.	–	महाभारत
म.नि.	–	मंझिम निकाय
म.व.	–	महावग्ग
मनु.	–	मनुस्मृति
माल.	–	मालविकाग्निमित्र
मा.गृ.सू.	–	मानव गृह्म सूत्र
मे.आ.स.ई.	–	मेमोयर्स आफ दि आर्कलाजिकल सर्वे आफ इंडिया
मेग.	–	मेगस्थनीज
म.सं.	–	मैत्रायणीय संहिता
मिलि.	–	मिलिन्द् पन्ह
मु.उप.	–	मुण्डकोपनिषद्
यजु.	–	यजुर्वेद
याज्ञ.	–	याज्ञवल्क्य स्मृति
रघु.	–	रघुवंश
राज.	–	राजतरंगिणी
रमा.	–	रामायण
पृ.	–	पृष्ठ
व.ध.सू.	–	वशिष्ठ धर्म सूत्र
व.गृ.सू.	–	वशिष्ठ गृह्म सूत्र
वाज.सं.	–	वाजस्नेय संहिता
विक्रमो.	–	विक्रमोवर्शीयम
वि.पु.	–	विष्णु पुराण
वि.ध.सू	–	विष्णु धर्म सूत्र
वि.स्मृ.	–	विष्णु स्मृति

वीर.मि.सं.	–	वीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश
वैट्र्स	–	वैट्र्स आन ह्वेनसांग ट्रेवेल्स
शत.ब्रा.	–	शतपथ ब्राह्मण
शंख	–	शंखायन, शंख स्मृति
शा.प.	–	शांति पर्व, महाभारत
शार्ग. प.	–	शार्गधर पद्धति
साम.	–	सामवेद
सा.ई.ई.रि.	–	ऐनुअल रिपोर्ट्स ऑफ साउथ इंडियन एपिग्राफी
सै.बु.ई.	–	सैकरेड बुक्स आफ दि ईस्ट सीरीज
स्मृ.च.	–	स्मृति चन्द्रिका
सु.र.सं.	–	सुभाषित रत्न संदोह
हि.गृ.सू.	–	हिरण्यकेशी गृह्म सूत्र
ऋ.	–	ऋग्वेद
ऋतु	–	ऋतुसंहार
इ.हि.क्वा.	–	इण्डियन हिस्टारिकल क्वालर्टी
इ.हि.रि.	–	इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू
कृत्य.ब्रह्म	–	कृत्य कल्पतरू ब्रह्मचारी काण्ड
ट्रां.ई.हि.कां.	–	ट्रांजेक्शन आफ दि इण्डियन हस्ट्री कांग्रेस
नि.सि.	–	निर्णय सिंधु
सी.आई.आई.	–	कार्पस इन्सक्रिप्शन इण्डिकेरम

*****

संदर्भ ग्रन्थ

मूलग्रन्थ

अथर्ववेद – सम्पादक, आर रौथ और डब्लू डी हिवटने, बर्लिन, सम्पादक, श्रीपाद शर्मा, औंधनगर, 1938

अपरार्क – याज्ञवल्क्य स्मृति पर भाष्य, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, 1903–4

अर्थशास्त्र – सम्पादक, आर. शाम शास्त्री, मैसूर, 1909–29, हिन्दी व्याख्या वाचस्पति गैरोला, चौखम्भा, विद्या भवन, 1984

अमरकोश – अमर सिंह सम्पादित, गुरू प्रसाद शास्त्री, वाराणसी, 1950 सम्पादक, पं. शिवदत्त

अष्टाध्ययी – सम्पादक एवं अनुवादक एस.सी. वसु मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1977

आचारांग सूत्र – श्री अमोलक ऋषि द्वारा अनुदित

आपस्तम्ब धर्म सूत्र – हरदत्त की टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

आपस्तम्ब श्रौत सूत्र – रूद्रदत्त की टीका सहित, सम्पादक, जी एच.भट्ट, बड़ौदा, 1955

आश्वलायन गृहसूत्र – म.म. गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम, 1923. सम्पादक, पं. गणपति शास्त्री

उपनिषद् – निर्णय सागर प्रेस मुम्बई, गीता प्रेस, गोरखपुर

उत्तर रामचरित – सम्पादक, पी.वी. काणे, तृतीय संस्करण, मुम्बई, 1929

ऐतरेय ब्राह्मण – त्रावणकोर विश्वविद्यालय, संस्कृत सीरीज, त्रिवेन्द्र, 1942

ऐतरेय आरण्यक् – सम्पादक, हरिनारायण आप्टे, पूना, 1898.

कल्पसूत्र – भद्रबाहु, सम्पादक, एचत्र याकोबी, लाइपजिंग, 1879

कथाकोश – प्रभाचन्द्र, सम्पादक, ए.एन. उपाध्येय दिल्ली 1974

कथा सरित्सागर – सम्पादक, केदारनाथ शर्मा, पटना, 1960

कर्पूर मंजरी – राजशेखर, कलकत्ता, 1948

कात्यायन–श्रौतसूत्र – सम्पादक, ए. बेवर, लन्दन, 1855

कामन्दकीय नीतिसागर – टी. गंणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम्, 1912

काव्य मीमांसा – राजशेखर, सी.डी. दयाल तथा आर.ए. शास्त्री द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, 1934

कादम्बरी – वाणभट्ट, सम्पादक, एम.आर. काले, मुम्बई

कामसूत्र – वात्स्यायन, जयमंगल टीका (श्री देवदत्त शास्त्री) चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1982, सम्पादक, दुर्गाप्रसाद

कुमार संभव – निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई, 1927

गोपथ ब्राह्मण — सम्पादक, आर.मित्र, 1872

गौतम धर्मसूत्र — हरदत्त टीका सहित, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, 1910

गौतम स्मृति — सेक्रेड बुक आव दि ईस्ट, आक्स फोर्ड, 1897

गीता — गीता प्रेस, गोरखपुर

चरक संहिता — दो भाग, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, 1986

चारूदत्त — सम्पादक, गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1914

जातक — कावेल्न, केम्ब्रिज 1895–1913

तैत्तिरीय संहिता — कलकत्ता, 1854

दशकुमार चरित — दण्डी विरचित, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1966

धर्मशास्त्र — पी.वी. काणे

नीतिवाक्यमृत — (हि.री.) सुन्दर लाल शास्त्री, महावीर जैन ग्रंथमाला, वाराणसी, 1976

नकुल अश्व–शास्त्र — सरस्वती लाइब्रेरी, तंजौर, 1952

पाराशर स्मृति — सम्पादक, महामहोपाध्याय, चन्द्रकान्त तर्कालंकर कलकत्ता, 1862

बाल रामायण — राजशेखर, सम्पादक, पं. जीवनानंद विद्यासागर, कलकत्ता, 1884

बौधायन धर्म सूत्र — आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज, सम्पादक, श्री निवासाचार्य, मैसूर, 1907

ब्रहत्संहिता – वाराहमिहिर वाराणसी, 1895 सम्पादक, सुधाकर द्विवेदी, वाराणसी, 1895

बृहदारण्यक उपनिषद् – आनन्दाश्रम, संस्कृत सीरीज, 1888

मत्स्य पुराण – आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, 1907

मनुस्मृति – मेघातिथि की टीका के साथ, कलकत्ता, 1932 सम्पादक, पं. गंगानाथ झा, इंडियन प्रेस, प्रयाग, 1932

महाभारत – सम्पादक (नीलकण्ठ की टीका सहित) पूना, 1929–33, गीता प्रेस, गोरखपुर सम्पादक, विष्णु सुकथंकर, 1942

महाभाष्य – 3 भाग, मुम्बई, 1892–1909 सम्पादक, कीलहार्न, द्वितीय संस्करण, गवर्नमेण्ट सेंट्रल प्रेस, मुम्बई

मालविकाग्निमित्र – मुम्बई, संस्कृत सीरीज, 1889

मिलिन्द पन्हो – सम्पादक, ट्रेकनर, लंदन, 1880

मुद्रा राक्षस – सम्पादक, आर0के0 ध्रुव, तृतीय संस्करण 1930

मृच्छकटिकम् – सम्पादक, आर.डी. करमरकर, द्वितीय संस्करण, 1950

यास्वल्क्य स्मृति – सम्पादक, जे.आर. धारपुरे, मुम्बई, 1926 सम्पादक, नारायण शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

रघुवंश – कालिदास ग्रंथावली, वाराणसी

रत्नावली – सम्पादक, गिरीश विद्यारत्न यंत्रालय, कलकत्ता, शकाब्द, 1821

रामायण – बड़ौदा, 1962. गीता प्रेस, गोरखपुर 1967

राजतरंगिणी – एम.ए. स्टीन, वाराणसी, 1961 आर.एस. पंडित (अनुवादक), दिल्ली

वशिष्ठ की धनुर्वेद संहिता – हरदयालु स्वामी, मेरठ, 1899

वशिष्ठ धर्म सूत्र – पूना, 1930

वायु पुराण – पूना, 1905

वाजसनेयी संहिता – निर्णय सागर संस्करण, मुम्बई 1912

विष्णु धर्म सूत्र – सम्पादक, जौली, कलकत्ता, 1881

विष्णु पुराण – गीता प्रेस, गोरखपुर

वीरमित्रोदय – मित्र मिश्रकृत, जीवनानंद संस्करण

शतपथ ब्राह्मण – अच्युत ग्रंथमाला कार्यालय, वाराणसी, संवत् 1994–97

शंख स्मृति – स्मृति संदर्भ, भाग–3 गुरूमंडल ग्रंथ माला, कलकत्ता

शुक्रनीति – चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, 1968. अनुवादक, विजय कुमार सरकार, सम्पादक, वी.डी. वसु, 1914

शुक्ल यजुर्वेद संहिता – सम्पादक, पं. ब्रह्मशंकर मिश्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1968

संस्कार प्रकाश – चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

स्मृति प्रकाश – आर्यदर्पण प्रेस, शाहजहांपुर, 1890

सुश्रुत संहिता – मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1968

हस्तायुर्वेद – पालकाप्यमुनि रचित, आनन्दाश्रम, पूना

हर्षचरित – सम्पादक, ए.ए. फूहरर

ऋग्वेद – सायण भाष्य सहित, सम्पादक, मैक्समूलर 1890–92; 5 भाग, वैदिक संशोधन मंडल, पूना, 1933–51

ऋग्वेद ब्राह्मण – अंग्रेजी अनुवाद, ए.बी. कीथ, प्रथम भारतीय संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, 1971

ऋतुसंहार – सम्पादक, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री

सहायक ग्रंथ

अनन्त सदाशिव अल्तेकर – प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, वाराणसी, 1968 दि पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, वाराणसी, 1948

– पोजीशन ऑफ वुमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन दिल्ली 1956

– प्राचीन भरातीय शिक्षण पद्धति, वाराणसी, 1979–80

– स्टेट ऑफ गर्वनमेन्ट इन एन्श्येन्ट इण्डिया, दिल्ली– 1956

– राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पूना, 1934

आर.सी. मजूमदार – वैदिक युग

आर.सी. मजूमदार – द हिस्ट्री कल्चर ऑफ इंडियन पीपुल।

आर.के. पन्धारी – पोजीशन ऑफ ब्राह्मणाज इन एन्शियेन्ट इंडिया पूना, 1960

आर.एस. शर्मा – शूद्रों का प्राचीन इतिहास, दिल्ली, 1979

एच.सी. चकलदार – सोशल लाइफ इन एन्शियेन्ट इंडिया, स्टडीज इन कामसूत्र, कलकत्ता, 1929

अग्रवाल, वासुदेवशरण – हर्ष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना

अग्रवाल वासुदेवशरण – हर्ष कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी 1958

के.एल. अग्रवाल एवं डॉ. एस.के. पाल – शिक्षा के सामान्य सिद्वात

यू0 अग्रवाल – खजुराहो स्कल्पचर एण्ड देअर सिग्नीफिकेंस

एस.के. दास – एजूकेशन सिस्टम ऑफ दि एन्शियेन्ट हिन्दूज, कलकत्ता, 1930

एन.के. देवराज – भारतीय संस्कृति (महाकाब्यो के आलोक में), लखनऊ, 1961

ओम प्रकाश – प्राचीन भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास चतुर्थ संस्करण, दिल्ली

एम.सी. बनर्जी – इंडियन सोसायटी इन द महाभारत, वाराणसी, 1956

एम.एन. मजूमदार – ए हिस्ट्री ऑफ एजूकेशन इन एन्शियेन्ट इंडिया, कलकत्ता, 1916

एच. राधाकृष्णन – धर्म और समाज, दिल्ली, 1972

एस.एन. राय – पौराणिक धर्म एवं समाज, इला., 1968

एस.सी. दास – इण्डियन पाण्डित्य इन दि लैण्ड आफ स्त्री, कलकत्ता, 1893

कोमलचन्द्र जैन – जैन और बौद्ध आगमों में नारी जीवन अमृतसर, 1967

के.पी. जयसवाल – मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, 1930

कृष्ण कुमार – प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति, सरस्वती सदन, नई दिल्ली

क्लीरसे बदेर – वीमेन इन एन्शियेन्ट इंडिया, लंदन, 1925

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी – वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पटना 1960

गोविन्द चन्द पाण्डेय – बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ 1963

चार्लस इलियट – हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, लंदन, 1954

जे.एम.सेन – हिस्ट्री ऑफ एलिमेन्टरी एजूकेशन इन इंडिया कलकत्ता, 1933

जे. कृष्णमूर्ति – शिक्षा एवं जीवन का तात्पर्य, वाराणसी, 1998

थार्नडिक – एजूकेशन साइकोलॉजी

दीपंकर – कौटिल्यकालीन भारत, लखनऊ, 1968

दिनेश चन्द्र सरकार – सोशल लाइफ इन ऐन्शियेन्ट इंडिया, कलकत्ता, 1971

धर्मपाल – गुरू– शिष्य परम्परा

नदवी – अरब और भारत सम्बन्ध, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग

पी.एन. प्रभु – हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, मुम्बई, 1958

प्रदीप कुमार केशनवानी – भारतीय समाज एवं संस्कृति का आलोचनात्मक अनुशीलन, इला., 2001

पी. थामस – हिन्दू रिलिजन, कस्टम एण्ड मैनर्स

पी.वी. काणे – हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, 1–3 भाग, पूना, 1930–46

बी.जी. गोखले – ऐन्शियेन्ट इंडिया हिस्ट्री एण्ड कल्चर मुम्बई, 1962

बी.एन.एस. यादव – सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दन इंडिया, इला, 1973

बी.एन. पुरी – इंडिया इन द टाइम्स ऑफ पंतजलि मुम्बई, 1957

जी.डी. आप्टे – यूनिवर्सिटीज इन ऐन्शियेन्ट इण्डिया, बडोदरा

तारानाथ – भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास। रिजिनलुण्ढपलामा

रोमिला थापर – भारत का इतिहास, दिल्ली, 1975।

आर.एम. दास – वुमेन इन मनु ऐण्ड हिज सेवन कमन्टेटर्स, वाराणसी, 1962।

डॉ0 गीता देवी – उत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था 600 ई. से 1200ई. इलाहाबाद, 1980

ए.एल., बाशम — द वन्डर दैट वाज इण्डिया, लन्दन, 1956।

पी.एन. बासे — इण्डियन टीचर्स ऑफ बुद्धिस्ट युनिवर्सिटीज मद्रास, 1923।

जयशंकर मिश्र — प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1986।

जयशंकर, प्रसाद मिश्र — ग्यारहवी सदी का भारत, वाराणसी, 1968।

वेद मित्रा — एजूकेशन इन ऐन्श्यिन्ट इण्डिया।

मैकडालन एण्ड कीथ — हिस्ट्री ऑफ एन्श्यिन्ट संस्कृत लिटरेचर, वाराणसी, 1962।

पी.एल. रावत — भारतीय शिक्षा का इतिहास।

ए.एन., बसु — दि सोशल हिस्ट्री ऑफ कामरूप, कलकत्ता।

सुरेन्द्र पाल सिंह — शिक्षा दर्शन की भूमिका, इलाहाबाद सम्वत् 2014 संदर्भ ग्रन्थ सूची एडवर्ड एण्ड गैरट, लीगेसी ऑफ इण्डिया

जी.सी. पाण्डेय — फाउन्डेशन आफ इण्डियन कल्चर

जे.एन. फारूहर — आउटलाईन आफ दी रीलीजियस लिट्रेचर इन इण्डिया

के.आर. कानूनगो — इमपोक्ट आफ इस्लाम आन इण्डियन सीविलाईजेशन

डॉ. ताराचन्द्र — इमपेक्ट आफ इस्लाम आफ इण्डियन कल्चर

कारपेन्ट — थिइज्म इन मीडिवल इण्डिया

ए.एल. श्रीवास्तव – मिडिविल इण्डियन कल्चर

युसुफ हूसेन – गिलिप्स आफ मिडविल इण्डिया कल्चर

लईक अहमद – भारतीय मध्य काल की संस्कृति

भगवत शरण उपाध्याय – भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण, दिल्ली 1978

भोजराज द्विवेदी – हिन्दू मान्यताओं का वैज्ञानिक आधार, नई दिल्ली, 2001

मोहन लाल महतो – जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पटना, 1958

यू.एन. घोषाल – स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्पचर, कलकत्ता 1965

राम प्रसाद त्रिपाठी – स्टडीज इन पोलिटिकल एण्ड सोशियो–इकनॉमिक हिस्ट्री आफ अर्ली इण्डिया, इला. 1981

राजबली पाण्डेय – हिन्दू संस्कार, वाराणसी

राधा कुमुद मुखर्जी – प्राचीन भारतीय शिक्षा, लंदन 1947

लक्ष्मीदत्त ठाकुर – प्रमुख समृतियों का अध्ययन, लखनऊ, 1965

लज्जाराम तोमर – भारतीय शिक्षा के मूल तत्व, नई दिल्ली 1995

विद्याभूषण – ए हिस्ट्री आफ इंडियन लॉजिक, कलकत्ता, 1921

विंटरनिट्ज — हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर भाग–1

वी.डब्लू. करबेलकर — दि अर्थर्ववैदिक सिविलाइजेशन

वी.ए. अग्रवाल — इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि लखनऊ 1953

वासुदेव शरण अग्रवाल — कला और संस्कृति इला, 1952– कादम्बरीः एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, 1970; पाणिनीय कालीन भारत, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, वि.सं. 2012। हर्षवरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना 1953

शांति कुमार व्यास — रामायण कालीन संस्कृति दिल्ली, 1958

शकुन्तला राव शास्त्री — वीमेन इन दि वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई।

सच्चिदानन्द भट्टाचार्य — भारतीय इतिहास कोश, लखनऊ, 1967

सरेजान मार्शल — तक्षशिला, भाग– 1–3, कैम्ब्रिज वि.वि. प्रेस 1951

स्वामी विवेकानन्द — शिक्षा, रामकृष्ण मठ, नागपुर

स्टार्क — बर्नाक्यूलर एजूकेशनइन बंगाल फ्रॉम 1813 टु. 1912 कलकत्ता, 1916

विदेशी यात्रियों के विवरण

अलबीरूनीज इंडिया, साचो, पापुलर एडिशन, 1914

ह्वेनसांग, वाटर्स, 1905

फाहियान, लेग्गे आक्सफोर्ड, 1886

फाहियान, गाइल्स, लन्दन, 1867

लाइफ आफ श्वान– च्वांग, भारतीय संस्करण दिल्ली, 1973

मेगस्थनीज ऐंड एरियन, मेक्रिण्डिल, लण्डन, 1887

लाइफ ऑफ यवान– च्वांग, बील, लन्दन, 1914

ए रिकार्ड आफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन, जे0ए0 ताकाकुसु दिल्ली, 1966, आक्सफोर्ड, 1896

इलियट, एच0एम0, हिस्ट्री आफ इण्डिया ऐज वाईट्स ओन हिस्टोरियन्स, कलकत्ता 1952

हवेनसांग की भारत यात्रा, (हिन्दी अनुवाद) ठाकुर प्रसाद शर्मा, इलाहाबाद

ऐशियेन्ट इंडियन ऐज डिसक्राइब्ड इन क्लैसिकल लिटरेचर, प्रथम भारतीय संस्करण, नई दिल्ली 1979

ट्रैवेल्स इन मुगल इम्पायर, वर्नियर, आक्सफोर्ड, 1914

अभिलेख

एपिग्राफिया इन्डिका और इण्डियन एंटिक्विरि में प्रकाशित लेख

साउथ इंडियन एपिग्राफी की रिपोर्ट

कार्पस इन्सिक्रिप्शन्स्, इण्डिकेरम्, जिल्द, 4, कनिंघम

गुप्त अभिलेख, फ्लीट, जे.एफ.

लिस्ट ऑफ इन्सिक्रिप्शन्स ऑफ नार्दन इंडिया, ए.इ, परिशिष्ट, भाग 19, 23, डी.आर. भण्डारकर

सेलेक्ट इन्सिक्रिप्शंस विचरिंग आन इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन, जिल्द 1, कलकत्ता, 1965, जिल्द, 2 कलकत्ता, 1983, डी.सी. सरकार

हिस्टारिकल इन्सक्रिप्शंस ऑफ सदर्न इण्डिया, मद्रास, 1932, स्वेल राबर्ट एण्ड कृष्णा

शोध पत्र-पत्रिकायें

अमेरिकन जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी

भारतीय विद्या : मुम्बई

अवर हेरिटेज– कलकत्ता

आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट

इण्डियन ऐन्टिक्वेरी

इण्डियन हिस्टारिकल कर्क्टर्ली

इण्डियन हिस्टारिकल रिव्यू

इंडियन कल्चर

इस्लामिक कल्चर हैदराबाद

इस्लामिक हिस्ट्री रिव्यू

एनाल्स ऑफ दि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना

एपिग्रैफिया इण्डिया

एन्शियेन्ट इण्डिया

जर्नल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी

जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता

जर्नल ऑफ दि युनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे

जर्नल ऑफ दि पंजाब हिस्टारिकल सोसाइटी

जर्नल ऑफ दि रॉयल दि रॉटल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन

जर्नल ऑफ दि बिहार, उड़ीसा रिसर्च, सोसाइटी

जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल कलकत्ता

जर्नल ऑफ दि यू.पी. हिस्टारिकल सोसाइटी, लखनऊ

जर्नल ऑफ दि ईश्वरी प्रसाद रिसर्च इन्स्टीट्यूट

जर्नल ऑफ दि गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट इलाहाबाद

जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी

न्यू इंडियन ऐक्टिवेरी, मुम्बई

पटना युनिवर्सिटी, मुम्बई

पटना युनिवर्सिटी जर्नल

बुलेटिन आफ द स्कूल आफ ओरिएण्ट एटडीज लन्दन